राजसूय यज्ञ : सिद्धान्त और परम्परा - एक अध्ययन

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक की पीएच्.डी. (संस्कृत) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशक

डॉ. बलवीर आचार्य
प्रोफेसर,
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,
रोहतक (हरियाणा)

शोधकर्त्ता

सुभाष
पंजीकरण संख्या : **R/S** 1450
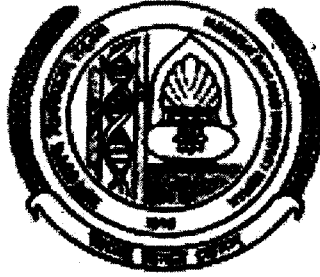
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक (हरियाणा)
2009

विज्ञप्ति

'राजसूय यज्ञ : सिद्धान्त और परम्परा - एक अध्ययन' विषयक शोध-प्रबन्ध डॉ. बलबीर आचार्य, प्रोफेसर, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक के निर्देशन में लिखा गया है। इसका शोधकर्त्ता यह घोषणा करता है कि प्रस्तुत शोध उसका मौलिक कार्य है एवं शोधकार्य के रूप में इसका प्रस्तुतिकरण या प्रकाशन पूर्णत: अथवा अंशत: कहीं नहीं किया गया है।

शोध-निर्देशक
डॉ. बलवीर आचार्य
प्रोफेसर,
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक

शोधार्थी
सुभाष
पंजीकरण संख्या:**R/S** 1450

Forwarded

विभागाध्यक्ष

डॉ. बलदेव सिंह मेहरा
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक

कृतज्ञता निवेदन

रायसूय यज्ञ : सिद्धान्त और परम्परा - एक अध्ययन इस शीर्षक से यह शोध-कार्य **प्रो. बलवीर आचार्य** संस्कृत विभाग महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक के निर्देशन में सम्पन्न हुआ है। राजसूय यज्ञ जैसे गम्भीर विषय पर शोध-प्रबन्ध लिखने का कार्य मुझ जैसे अल्पज्ञ, अपरिपक्व बुद्धि के लिए बहुत ही कठिन था, किन्तु आदरणीय गुरुजी के आशीर्वाद एवं सहृदयतापूर्ण निर्देशन से यह कार्य निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हुआ अतः आदरणीय गुरुजी के प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

शोध प्रबन्ध में उपक्रम से लेकर समापन पर्यन्त प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जिनका योगदान रहा है उन सबके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना मैं अपना नैतिक कर्तव्य समझता हूँ।

विभागाध्यक्ष **प्रो. बलदेव सिंह मेहरा** का मैं सदैव कृतज्ञ रहूँगा जिनके आशीर्वाद एवं समय-समय पर मार्गदर्शन से मेरे शोध कार्य को दशा एवं दिशा मिली।

पूर्व विभागाध्यक्षा **प्रो. सुधा जैन** का भी मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होनें मुझे दार्शनिक ज्ञान से तृप्त किया।

प्रो. सुरेन्द्र कुमार का मैं सैदव ऋणी रहूँगा जिन्होंने मुझे दार्शनिक ज्ञान देकर तथा शोध प्रबन्ध में आने वाली समस्या का निराकरण करके मेरा उत्साहवर्धन किया।

डा. आशा का मैं आभारी हूँ जिन्होंने मुझे व्याकरण सम्बन्धी गूत्थियों को समझाने का प्रयास किया।

डा. कृष्णा का मैं सदैव कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मातृवत् स्नेह के साथ वेदरूपी ज्ञान से तृप्त किया।

डा. सुनीता का भी मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर मेरा स्नेहवश मार्गदर्शन किया।

डॉ. धर्मपाल कुलाडिया का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने मेरा उत्साहवर्धन किया।

इस शुभ अवसर पर मैं अपने **पूज्य पिताजी स्वर्गीय श्री उदय राज** व **श्रीमती जानकी देवी** को भी मैं स्मरण करता हूँ जिनका आशीर्वाद व सद्प्रेरणा सदैव मेरे साथ रहते हैं।

इस शुभ अवसर पर मैं **पूज्य स्वामी ओमानन्द सरस्वती** को स्मरण करना चाहूँगा, जिनकी छत्रछाया में मैंने अध्ययन किया।

मेरे जीवन के प्रेरणाश्रोत व मेरे जीवन में शक्ति का संचार करने वाले परम श्रद्धेय स्वर्गीय **स्वामी इन्द्रवेश जी महाराज** का मैं सदैव ऋणी रहूँगा जिन्होंने मेरे जीवन में दशा एवं दिशा को उचित मार्ग में प्रेरित किया।

श्रद्धेय **स्वामी ओ३म् वेश जी** का मैं अत्यन्त आभारी हूँ। जिन्होंने कठिन परिस्थितियों में मेरे विश्वास को बनाये रखा तथा मेरे जीवन को उचित दिशा प्रदान की।

ज्येष्ठ भ्राता श्री ऋषिराज शास्त्री व बहन कुमकुम का भी मैं सदैव ऋणी रहूँगा जो मेरे जीवन के मार्गदर्शक व प्रेरणास्रोत हैं।

इसके साथ इस शुभ अवसर पर मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता स्वर्गीय श्री रणधीर को भी स्मरण करता हूँ जिन्होंने मुझे अनुज भ्रातृवत् स्नेह प्रदान किया।

अनुज भ्राता श्री पवन कुमार आर्य का धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने मुझे समय-समय पर सहयोग प्रदान किया।

मेरी सहधर्मिणी प्रियंका का मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मेरे जीवन को सबलता प्रदान की और जो सदैव मेरे हर कार्य में सहयोगिनी रही है।

भगिनी कुमारी पूनम आर्या व कुमारी प्रवेश आर्या का भी धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ जिनके स्नेह व मार्ग दर्शन से मेरे शोध कार्य को गति मिली।

श्री देवव्रत जी का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध में मेरा सराहनीय योगदान किया।

इनके अतिरिक्त डा. श्यामदेव, डा. दिनेश कुमार, प्रदीप कुमार, श्री सोमवीर, श्री विक्रम पाल वैद्य, श्री प्रवीण कुमार, श्री अमरजीत आदि सभी का आभार व्यक्त करता हूँ जिनके उत्सावर्धन व सहयोग की मुझे समय-समय पर प्राप्ति होती रही।

खालसा इण्टर कॉलिज नूरपुर बिजनौर उत्तर प्रदेश के प्रबन्धक महोदय, प्रधानाध्यापक महोदय तथा समस्त अध्यापकवृन्द व अन्य सभी कर्मचारियों का भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनका सहयोग व स्नेह मुझे सदैव मिलता रहा है।

मैं शोध प्रबन्ध के टंकण कर्त्ता व विश्वविद्यालय के उन सभी कर्मचारियों का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने पुस्तक प्राप्ति में मेरा सहयोग किया, साथ ही जिन विशिष्ट विद्वानों की कृतियों से मेरे शोध कार्य को सम्पूर्णता मिली उन सबका भी मैं आभारी हूँ।

मैं उन समस्त लेखकों तथा प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिनकी कृतियों से मेरे शोध प्रबन्ध में सहायता ली गई है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में प्रतिपाद्य विषय एवं टंकण से सम्बन्धित कार्य पर पूर्ण ध्यान दिया गया है फिर भी अज्ञात त्रुटियों के लिए शोधार्थी क्षमा-याचना निवेदन करता है।

परमपिता परमात्मा की सतत् कृपा के बिना मेरा कोई भी कार्य कर पाना संभव नहीं है। अत: मैं यह सारा कार्य उस प्रभु के चरणकमलों में समर्पित करता हूँ। अन्त में विद्या, विनय शील प्रदान करने वाले उस जगत्पिता का सुखोत्सङ्ग मिल सके तदर्थ विनय प्रस्तुत करता हूँ।

त्वं हि न: पितावसो
त्वं माता शतक्रतो बभूविथ
अधा ते सुम्नमीमहे।। ऋ.८.९८.११

सुभाष

संकेत सूची

अ०	:	अध्वर्यु का स्थान
आह०अ०	:	आहवनीय अग्नि
आ०स्था०	:	आग्नीध्र का स्थान
आ०अ०	:	आग्नीध्रिय अग्नि
आध०	:	आधवनीय घड़ा
आ०धि०	:	आच्छावाक् की धिष्ण्य
उ०अं०	:	उत्तर अंश
उ०वे०	:	उत्तर वेदि
उ०ना०	:	उत्तर नाभि
उ०अं०	:	दक्षिण वेदि का उत्तर अंश
उ०ह०	:	उत्तर हविर्धान मण्डप
उप०	:	उपल
उ०ख०	:	उच्छिष्टखर
ए०	:	एकधना
औ०	:	औदुम्बरी अवट
ख०	:	खर
गा०	:	गार्हपत्याग्नि
चा०	:	चात्वाल
द०	:	दक्षिण अग्नि
द०ह०	:	दक्षिण हविर्धान मण्डप

द०अ०	:	दक्षिण अंश
द०अ०	:	दक्षिण वेदि का दक्षिण अंश
द०श्रो०	:	दक्षिण श्रोणि
द०श्रो०	:	दक्षिण वेदि की दक्षिण श्रोणि
द०वे०	:	दक्षिण वेदि
द्रो०	:	द्रोण कलश
ध्रुव	:	ध्रुवास्थाली
ने०धि०	:	नेष्टा की धिष्णय
प०स्था०	:	पत्नी का स्थान
पो०धि०	:	पोता की धिष्ण्य
पू०	:	पूतभृत
पृ०	:	पृष्ट्या
प्र०भा०	:	प्रथम आवहनीय अग्नि
प्र०	:	प्रस्तोता का स्थान
प्र०	:	प्रतिहर्ता का स्थान
प्रति०	:	प्रतिप्रस्थाता
प्रशा०	:	प्रशास्ता की धिष्ण्य
प्रा०	:	प्राचीन वंश मण्डव
ब्र०	:	ब्रह्मा का स्थान
ब्रा०धि०	:	ब्राह्मणच्छंसी की धिष्ण्य
मा०	:	मार्जालीय

मे०	:	मेथी
मै०स्था०	:	मैत्रावरुण का स्थान
य०स्था०	:	यजमान का स्थान
यू०	:	यूपावट
रा०	:	राजासन्दी
व०	:	वत्सशंकु
वे०	:	वेदि
शा०	:	शामित्र प्रादेश
स०	:	सम्राडासन्दी
स०म०	:	सदस् मण्डप
हो०स्था०	:	होता का स्थान
हो०धि०	:	होता का धिष्ण्य

प्रथम अध्याय

वेदांग साहित्य का परिचय

वेदांग–साहित्य का परिचय

(क) वेदांग शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ व प्रकार

जिनके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानने में सहायता मिलती है, उन्हें अंग कहते हैं। 'अंग' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'उपकारक' – 'अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते अमीभिरिति अंगानि'। भाषा तथा भाव दोनों दृष्टियों से वेद दुर्बोध है, अतः वेद के अर्थ–ज्ञान और उसके कर्मकाण्ड के प्रतिपादन में जो उपयोगी शास्त्र हैं, उन्हें 'वेदांग' नाम से जाना जाता है। वेद के यथार्थ ज्ञान के लिये जिन छः शास्त्रों शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष को जानना नितान्त अनिवार्य है, उन्हें ही 'वेदांग' संज्ञा दी गयी है। वैदिक–मन्त्रों का सही–सही उच्चारण सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण है, उस उच्चारण के निमित्त प्रवर्तमान वेदांग 'शिक्षा' कहलाता है। वेद का मुख्य प्रयोजन वैदिक कर्म–काण्ड, यज्ञ–भाग का यथार्थ अनुष्ठान है। इसके लिये विहित वेदांग 'कल्प' है। कल्प का अर्थ है – 'कल्प्यते' समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र' अर्थात् यज्ञ के प्रयोगों का समर्थन जिसमें किया जाये, वह 'कल्प' है। पदस्वरूप और पदार्थ निश्चय के निमित्त 'व्याकरण' का उपयोग होने से यह भी वेदांग है। व्याकरण–शास्त्र पदों के प्रकृति–प्रत्यय का उपदेश देकर पद

के स्वरूप का परिचय तथा उसके अर्थ का भी निश्चय करता है। चतुर्थ वेदांग 'निरुक्त' में पदों की निरुक्ति बतायी गयी है। निरुक्ति की भिन्नता से अर्थ में भिन्नता होती है। अतः वेद के अर्थ–निर्णय में ' निरुक्त' भी सहायक है। वेद छन्दोमयीवाणी है। छन्दों से परिचित होने पर ही मन्त्रों के उच्चारण और पाठ का यथार्थ ज्ञान हो सकता है, इसलिए 'छन्द' की वेदांगता है। 'ज्योतिष' को वेदांग इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यज्ञ–याग के उचित समय का निर्देश इसी के द्वारा होता है। नक्षत्र, तिथि, मास तथा सम्वत्सर का ज्ञान वैदिक कर्मकाण्ड के लिये आवश्यक है, जिसका ज्ञान 'ज्योतिष' द्वारा होता है।

वेद हमारे भारतीय धर्म का प्रधान पीठ हैं तथा इन्हें अतिशय आदर, सम्मान एवं पवित्रता की दृष्टि से देखा जाता है। वेद के स्वरूप और अर्थ के संरक्षण के निमित्त ही वेदांग–साहित्य का उदय हुआ। इस सहायक साहित्य का जन्म उपनिषद्काल में ही हो गया था, क्योंकि छः वेदांगों के नाम तथा क्रम का वर्णन मुण्डकोपनिषद् में हमें सर्वप्रथम प्राप्त होता है– 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति'।[1]

इस प्रकार मन्त्रों के समुचित उच्चारण के लिये 'शिक्षा' का, कर्मकाण्ड और यज्ञीय अनुष्ठान के लिये 'कल्प' का, शब्दों के स्वरूप ज्ञान के लिये 'व्याकरण' का, अर्थज्ञान और शब्दों के निर्वचन के निमित्त 'निरुक्त' का, वैदिक छन्दों की जानकारी के लिये 'छन्द' का तथा अनुष्ठानों–यज्ञ–यागों के उचित कालनिर्णय के लिये 'ज्योतिष' का उपयोग है। इसी उपयोगिता के कारण इनकी वेदांगता है।

(ख) षड् वेदांगों का सामान्य परिचय

1. शिक्षा

षड्विध वेदांगों में 'शिक्षा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह वेदपुरुष की नासिका कही गयी है– 'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'।[1] शिक्षा का अर्थ है– वह विद्या जो स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे– 'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा'।[2]

वेदाध्ययन की प्रणाली गुरुमुख से है, अतः वेद का एक सार्थक नाम 'अनुश्रव' है– अनु पश्चात् श्रूयते यः स अनुश्रवः। अर्थात् वह वस्तु जो गुरु के उच्चारण के अनन्तर सुनी जाये और शिष्य उसी के समान उसका ठीक उच्चारण करे। 'शिक्षा' वस्तुतः ध्वनि–विज्ञान है जिसके अन्तर्गत वर्णों, स्वरों, मात्राओं, उच्चारण–स्थानों तथा उच्चारण–प्रकारों का विवेचन है। वैदिक मन्त्रों के सही उच्चारण के लिये स्वरज्ञान की नितान्त आवश्यकता है।

स्वर तीन प्रकार के हैं – उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। याज्ञिकों का ऐसा विश्वास था कि स्वर, वर्ण, मात्रा आदि किसी भी दृष्टि से अशुद्ध उच्चारित मन्त्र यजमान को वज्र बनकर नष्ट कर देता है। इसलिए मन्त्रों के सम्यक् उच्चारण–प्रकार की जानकारी के लिये शिक्षा वेदांग की नितान्त उपयोगिता थी और शाखा–संहिताओं के उच्चारण साङ्.कर्य को रोकने के लिये यह आवश्यक था कि शाखा–प्रवचनकार स्वयं या उनके शिष्य अपनी शाखा–संहिता के उच्चारण–प्रकार को सुव्यवस्थित रूप देकर शिष्यों के लिये सुबोध बनायें। इसी प्रयोजन से अलग–अलग शाखा संहिताओं के उच्चारण–वैशिष्ट्य को बताने के लिये शिक्षा–वेदांग प्रवृत्त हुआ। प्राचीन

वैदिक यह परम्परा आज भी अविच्छिन्न रूप से प्रचलित है। इसलिए उच्चारण–प्रकार का उपदेशक यह अंग वेदांगों में प्रथम माना जाता है।

पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि बिल्ली जिस प्रकार अपने बच्चे को दाँत से पकड़ती है – न तो बच्चे गिरते हैं और न उन्हें दाँत ही गड़ते हैं, उसी प्रकार सन्तुलन बनाये रखकर अक्षरों का उच्चारण करना चाहिए – 'व्याघ्री यथा हरेद्वत्सं दंठट्राभ्यां न च पीडयेत्'।[3]

सम्यक् उच्चारण के लिये उदात्तदि स्वरों का ज्ञान आवश्यक है। ये स्वर अर्थ–परिवर्तन के विधायक भी हैं। इस विषय में स्वर–परिवर्तन से अर्थ–परिवर्तन को ज्ञापित करने वाली एक प्रसिद्ध घटना है कि अशुद्ध स्वर के उच्चारण से कितना अनर्थ हो जाता है। इन्द्र को पराजित करने के लिये शुक्राचार्य वृत्रासुर से यज्ञ करा रहे थे। उन्होंने मंत्रपाठ किया – 'इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व स्वाहा'। उनका उद्देश्य था कि हे इन्द्र के नाशक (शत्रु) तुम बढ़ो। यहाँ तत्पुरुष समास होने के कारण अन्तोदात्त होना चाहिए था, किन्तु भ्रान्तिवश आद्युदात्त का उच्चारण हो गया जो बहुव्रीहि समास में होता है; फलस्वरूप अर्थ हुआ – इन्द्रशत्रु (शातयिता, नाशक हैं जिसके, वह बढ़े। इस तरह वृत्रासुर ही मारा गया –

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।[4]

वेदाध्ययन में शुद्ध–उच्चारण पर बहुत बल दिया गया है। पाणिनीय शिक्षा में छः प्रकार के अधम पाठकों का उल्लेख है –

'गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः।।'

अर्थात् गाकर, शीघ्रतापूर्वक, सिरहिलाकर, लिखे हुए को, बिना अर्थ जाने और अल्पकण्ठ से मन्त्रपाठ करने वाले ये छः निम्नकोटि के पाठक हैं।

ब्राह्मण–ग्रन्थों में शिक्षा–सम्बद्ध नियमों का उल्लेख यत्र–तत्र मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रथम वल्ली में शिक्षा विषयक मूल सिद्धान्त प्रतिपादित है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार शिक्षा के छः अंग हैं– वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान – 'शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम्, सन्तानः इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।[5]

इनमें पाणिनीय शिक्षा ने 63 (संवृत अ को विवृत अ से पृथक् मानने पर 64) वर्ण बताये हैं – "त्रिःषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शंभुमते मता।" उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन प्रमुख स्वर हैं। स्वरों के उच्चारण में लगने वाला काल मात्रा कहलाता है, ये हैं – ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। ह्रस्व को एकमात्राकालिक, दीर्घ को द्विमात्राकालिक और प्लुत को त्रिमात्राकालिक माना गया है। वर्णोच्चारण में होने वाले प्रयत्न तथा उनके उच्चारण–स्थान को बल कहते हैं। आभ्यान्तर और बाह्य–दो प्रकार के प्रयत्न तथा कण्ठ, ताल्वादि उच्चारण–स्थान हैं। साम का अर्थ है साम्य अर्थात् दोष से रहित तथा माधुर्यादि गुण से युक्त उच्चारण। उच्चारण–साम्य के लिये छः गुण अपेक्षित हैं –

"माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यलयसमर्थश्च षडेते पाठका गुणाः।।"[6]

दीर्घविधान आदि संहिताओं के पाठ से सम्बन्धित समस्त विषयों का प्रातिशाख्य ग्रन्थों में सांगोपांग विवेचन किया गया है।

'प्रतिशाखं भवं प्रातिशाख्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रतीत होता है कि वेदों की जितनी शाखाएं थीं, उतने ही प्रातिशाख्य ग्रन्थ रहे होंगे। यद्यपि इन पूर्वाचार्यों की सभी कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं है, फिर भी जो प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं, उनके वेदक्रमानुसार नाम इस प्रकार हैं – शौनकप्रणीत ऋग्वेद्–प्रातिशाख्य, कात्यायनप्रणीत वाजसनेयि–प्रातिशाख्य, तैत्तिरीय–प्रातिशाख्य, सामवेदीय ऋक्तन्त्र, सामतन्त्र (औद्व्रजि प्रणीत), अक्षरतन्त्र, पुष्पसूत्र, अथर्ववेदीय–प्रातिशाख्य में अथर्ववेद–प्रातिशाख्य, शौनकीय चतुरध्यायिका आदि हैं।

वैदिक मन्त्रों की उच्चारण–विधि के निर्देशक ग्रन्थ 'शिक्षा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। साधारणतः शिक्षाएं प्राचीन ऋषियों के नाम से सम्बद्ध हैं किन्तु उनमें से अनेक अर्वाचीन हैं। इनकी रचना का श्रेय उनके शिष्यों को ही है। उपलब्ध शिक्षाओं की संख्या 34 है जिनमें पाणिनीय शिक्षा और व्यासशिक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।[7]

ऋग्वेद से सम्बन्धित शिक्षाएं – स्वराङ.कुशा शिक्षा, षोडशश्लोकी शिक्षा, शैशिरीय शिक्षा, आपिशलि शिक्षा, पाणिनीय शिक्षा।

सामवेद–सम्बन्धी शिक्षाएं – गौतम शिक्षा, लोमशी शिक्षा, नारदीय शिक्षा।

यजुर्वेद की शिक्षाएँ – याज्ञवल्क्य शिक्षा, वासिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, माण्डव्य शिक्षा, अमोघानन्दिनी शिक्षा, लघु अमोघानन्दिनी शिक्षा, माध्यन्दिनी शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा, केशवी

शिक्षा, हस्तस्वरप्रक्रिया, अवसाननिर्णय शिक्षा, स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्ट शिक्षा, क्रमसन्धान शिक्षा, मनःस्वार शिक्षा, यजुर्विधान शिक्षा, स्वराष्टक शिक्षा, क्रमकारिका शिक्षा।

कृष्णयजुर्वेदीय शिक्षाएं – भारद्वाजशिक्षा, व्यासशिक्षा, शम्भुशिक्षा, कौहलीयशिक्षा, सर्वसम्मत शिक्षा, आरण्य शिक्षा, सिद्धान्त शिक्षा।

अथर्ववेदीय शिक्षा – मण्डूकी शिक्षा।

इनके अतिरिक्त मल्लशर्म शिक्षा तथा गलदृक् शिक्षा का भी उल्लेख मिलता है। इन सभी शिक्षा–ग्रन्थों में अनेक महत्त्वपूर्ण ध्वनि वैज्ञानिक निष्कर्ष संचित हैं। वर्णों के भेद–प्रभेद, प्रकृति, साम्य–वैषम्य आदि के साथ ही अन्य आवश्यक तथ्य भी इनमें संकलित हैं। माण्डव्य तथा वाजसनेयि शिक्षा में आगत ओष्ठ्य वर्णों पर विचार किया गया है। वर्णों के स्वरत्व और व्यंजनन्त्व के निर्णय का प्रयत्न भी कहीं–कहीं दिखायी देता है। नारदीय शिक्षा में सामवेदीय स्वरों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी आदि के शिक्षा–सूत्रों का उल्लेख भी आवश्यक है। इनमें अक्षरों की उत्पत्ति, स्थान, प्रयत्न आदि का विस्तृत विवेचन है।

2. कल्प

मुण्डकोपनिषद् में षडंगों के अन्तर्गत 'कल्प' का यह श्लोक प्रसिद्ध है–

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

इसके अनुसार सूत्र में कम से कम अक्षर–संख्या होती है। सूत्रसाहित्य में कल्पसूत्र प्राचीनतम हैं। पाणिनीय शिक्षा में 'कल्प' को वेदपुरुष के हाथ बताये गये हैं। नारदपुराण में कहा गया है कि कल्प के विज्ञान मात्र से मनुष्य कर्म में कुशल हो जाता है। वहाँ पाँच प्रकार के कल्प कहे गये हैं – 1. नक्षत्रकल्प, 2. वेदकल्प, 3. संहिताकल्प, 4. आगिंरसकल्प तथा 5. शान्तिकल्प।[8] इनमें से नक्षत्र कल्प में नक्षत्रों के स्वामी का वर्णन है, वेदकल्प में ऋगादि विधान का सविस्तार वर्णन है, संहिता कल्प में तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने ऋषि, छन्द और देवताओं का निर्देश किया है, आंगिरस कल्प में स्वयं ब्रह्मा जी ने अभिचार–विधि से षट्कर्मों का निरूपण किया है और शान्ति कल्प में दिव्य, भौम तथा अन्तरिक्ष सम्बन्धी उत्पातों की पृथक्–पृथक् शान्ति बतलायी गयी है। विष्णुपुराण में इन्हें अथर्ववेद से सम्बद्ध कर "विकल्प" कहा गया है और इसके कर्त्ता सैन्धव के शिष्य मुजिकेश माने गये हैं।[9]

'कल्प' शब्द 'क्लृप्' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है विधि। 'कल्प' का व्युत्पत्तिमूलक अभिप्राय है – यज्ञ–याग के विभिन्न विधानों का समर्थन और निरूपण– "कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र कल्पः"[10]। वृत्तिकार विष्णुमित्र के मत से कल्प वे शास्त्रग्रन्थ हैं, जिनमें वेदविहित कर्मों का सुव्यविस्थत रूप से वर्णन किया गया है – "कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्"।[11] भाष्यकार कर्काचार्य ने कात्यायन श्रौतसूत्र के सन्दर्भ में कल्पसूत्र का अर्थ विधिवाक्यों का संग्रह बताया है। महर्षि पाणिनि और उनके अनन्तर महर्षि पतंजलि ने कल्पसूत्रों को प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत रखा है।[12] इसका अभिप्राय है कि प्रोक्त ग्रन्थ प्रवचनकार आचार्यों की अपनी कृति नहीं है।

इस प्रकार कर्मकाण्ड के विपुल विधि–विधानों, विभिन्न प्रायोगिक अनुष्ठानों, नियमोपनियमों, सामाजिक प्रथा–परम्पराओं और लोक–आस्थाओं का संक्षिप्त और असन्दिग्ध रूप से प्रस्तुतीकरण ही कल्प–सूत्रों का अभीष्ट है।

कहा जाता है कि पहले समस्त कल्पसूत्रों की संख्या 1130 थी, जिनमें से सम्प्रति लगभग 50 कल्पसूत्र प्राप्त हैं। इनमें 42 कर्मों का प्रतिपादन है, जिनमें 14 श्रौतयज्ञ, 7 गृह्ययज्ञ, 5 महायज्ञ और 16 संस्कार हैं। समग्र कल्पसूत्र–साहित्य का वर्गीकरण प्रमुख रूप से चार श्रेणियों में किया जाता है – 1. श्रौतसूत्र, 2. गृह्यसूत्र, 3. धर्मसूत्र तथा 4. शुल्बसूत्र। प्रवर और पितृमेध–सूत्रों का परिगणन भी 'कल्प' के अन्तर्गत है।

'कल्प' के चारों अंगों का उल्लेख प्रायः जिस क्रम (श्रौत, गृह्य, धर्म एवं शुल्ब) से किया जाता है, उसका अभिप्राय यह नहीं है कि सर्वप्रथम श्रौतसूत्र रचे गये, उसके पश्चात् गृह्यसूत्र, तदनन्तर धर्मसूत्र और शुल्बसूत्रों का प्रणयन हुआ। यह क्रम मात्र उपयोगिता और महत्त्व की दृष्टि से है। वस्तुतः इन चारों का कार्यक्षेत्र भिन्न है अतः उनका समकालिक अस्तित्व भी स्वतः सिद्ध है।

1. **श्रौतसूत्र** : ये मूलतः श्रौतयागों पर आधारित हैं। इनमें उन यागों का प्रतिपादन किया गया है जिनका वर्णन पहले ब्राह्मण–ग्रन्थों में हआ था और अग्नि में सम्पद्यमान यज्ञयागादि अनुष्ठानों का वर्णन है। ब्राह्मण–ग्रन्थ के काल तक याग–विधियाँ इतनी जटिल और विस्तृत हो गयी थीं कि उनके सुव्यवस्थित, संश्लिष्ट, क्रमबद्ध और सुबोधरीति से वर्णन की आवश्यकता याज्ञिक वर्ग तीव्रता से अनुभव कर रहा था। श्रौतसूत्रों की रचना

इसी व्यावहारिक उद्देश्य से की गयी।[13] इनके प्रणयन का प्रयोजन था वैदिक यज्ञों का यथावत् अनुवर्तन। इनका मुख्य विषय श्रुतिप्रतिपादित महत्त्वपूर्ण यज्ञों का क्रमबद्ध वर्णन है। इन यागों के नाम हैं – दर्शपौर्णमास, पिण्डपितृयाग, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, निरूढ़पशु, सोमयाग, सत्र, गवामयन, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुषमेध, एकाहयाग, अहीन् आदि। मैक्डॉनल के इस कथन में सत्यांश नहीं है कि श्रौतसूत्रों को बहुत पवित्रता कभी नहीं प्राप्त हुई, क्योंकि इनका संग्रह अनुष्ठानजन्य आवश्यकताओं के अनुरूप मौखिक परम्परा से हुआ।[14]

वस्तुतः श्रौतसूत्रों का मूलाधार ब्राह्मणोक्त विधि–वाक्यों से ही सम्पन्न हुआ है।[15] ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। संक्षेप में श्रौतसूत्रों का महत्त्व इस प्रकार है –

1. श्रौतसूत्रों का प्रमुख प्रयोजन वैदिक श्रौतयागों का अविकल सुबोध और सुग्राह्य रूप में प्रस्तवन है।

2. सामान्यतः वे अपने ब्राह्मण के विधि–वाक्यों का ही आधार ग्रहण करते हैं, किन्तु कभी–कभी परशाखीय विकल्प भी स्वीकार कर लेते हैं।

3. ब्राह्मणोत्तरकाल में हुए कर्मकाण्डीय विकास का विवरण भी श्रौतसूत्र सँजोते हैं और इस क्रम में वे सदसम्बन्धी अन्तराल को भरने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

4. ब्राह्मणों के अनुगामी होने के कारण श्रौतसूत्र उनकी शब्दावली और भाषा–सम्बन्धी विशेषताएँ तो सुरक्षित रखते ही हैं, कभी–कभी कठिन शब्दों की व्याख्या भी कर देते हैं।

जैसे-- कर्मकाण्ड की प्राचीन शब्दावली में 'कुम्बकुटीर' शब्द चला आ रहा था, किन्तु आपस्तम्ब में उसे व्याख्या सहित प्रस्तुत किया गया – 'जालं कुम्बकुटीरमित्याक्षते'।

5. सूत्र–निर्माण का कार्य अत्यन्त कठिन है इसके लिये याज्ञिक प्रक्रिया की सूक्ष्मताओं की गहन जानकारी के अतिरिक्त भाषा पर भी पूर्ण नियन्त्रण की अपेक्षा रहती है, जिसके प्रमाण सूत्रकारों ने पदे–पदे प्रस्तुत किये हैं। कुछ प्रयोगों में अपाणिनीय प्रवृत्तियाँ यद्यपि दिखलायी देती हैं, किन्तु सामान्यतः व्याकरणसम्मत भाषा का ही प्रयोग सूत्रकार करते हैं। सूत्र–रचना की दृष्टि से उनका संक्षिप्तता के साथ स्पष्टता पर भी आग्रह दिखलायी देता है। प्रत्येक सूत्रकार की शैली, भाषा और क्षमता समान न होते हुए भी मानना पड़ता है कि वे बहुश्रुत ऋषि थे।[16]

6. यद्यपि श्रौतसूत्रों का परिशीलन अभी शैशवावस्था में ही है, तथापि जिन विद्वानों को भी इनके अनुशीलन का अवसर प्राप्त हुआ है, उन्हें इनमें धार्मिक और कर्मकाण्डसम्बन्धी विकास के महत्त्वपूर्ण सोपानों की प्रतीति हुई है। यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र तो कर्मकाण्ड के विश्वकोष सदृश हैं।

ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र उपलब्ध होते हैं – आश्वलायन तथा शांखायन। इनमें श्रौतयागों के होतृ–कर्तृक कृत्यों (हौत्र) का निरूपण हुआ है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन तथा काण्व दोनों शाखाओं का केवल एक ही श्रौतसूत्र है। कात्यायन श्रौतसूत्र। इसमें यज्ञ के अध्वर्युकर्तृक कृत्यों का विवरण है। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्रों की संख्या सर्वाधिक है। इनमें

सर्वप्राचीन श्रौतसूत्र बौधायन है। इसके पश्चात् वाधूल, मानव (मैत्रायणीय), भारद्वाज बौधायन है। इसके पश्चात् वाधूल, मानव (मैत्रायणीय), भारद्वाज, आपस्तम्ब, काठक, सत्याषाढ़, वाराह तथा वैखानस संज्ञक श्रौतसूत्रों का स्थान है। इनमें भी यज्ञ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म आध्वर्यव (अध्वर्युकर्तृक कत्यों) का वर्णन किया गया है।

सामवेदीय श्रौतसूत्रों में आर्षेय (मशक) कल्प, क्षुद्रकल्प, जैमिनीय श्रौतसूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र तथा द्राह्यायण श्रौतसूत्र प्रमुख हैं। इनमें सोमयागों में उद्गाता के कार्यों का विशद निरूपण हुआ है। निदानसूत्र और उपनिदानसूत्र भी सोमयागों में सामगान से सम्बद्ध विवरण देते ही हैं। अथर्ववेदीय केवल एक ही श्रौत–सूत्र है – वैतान श्रौतसूत्र। इसका सम्बन्ध सर्वकर्माभिज्ञ ब्रह्मा नामक ऋत्विक् से है।

2. **गृह्यसूत्र** : इनमें गृह्याग्नि में होने वाले यागों तथा उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों का विस्तृत वर्णन है। इनमें गृहस्थ जीवन से सम्बद्ध प्रायः सभी कर्मों का वर्णन हुआ है। गृह्यसूत्रों के मूल में स्मृति या परम्परा निहित है, इसी कारण इन्हें स्मार्त्त भी कहा जाता है। इन सूत्रों में गृह्याग्निसाध्य सोलह–संस्कारों, पाँच महायज्ञों, सात पाकयज्ञों तथा गृह–निर्माण, गृह–प्रवेश, पशुपालन, कृषि–कर्म एवं रोगनाशिनी विविध विधियों का निरूपण है। वैदिक और वैदिकोत्तर भारतीयों के लोकजीवन और लौकिक दृष्टिकोण को आत्मसात करने के लिये गृह्यसूत्र वस्तुतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। मैक्समूलर गृह्यसूत्रों के प्रति अन्य कारणों से आकृष्ट हैं। उनके अनुसार गृह्यसूत्रों का अध्ययन इसलिए अधिक रुचिकर है, क्योंकि इनमें गहन मानवीय अन्तःकरण में निहित उस प्रवृत्ति का प्रकाशन हुआ है जो अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं को उच्चतम शक्ति से सम्बद्ध कर देती

है और हमारे आनन्द और विषाद की अनुभूतियों को गम्भीर महत्त्व देकर उन्हें धार्मिक रूप प्रदान करती है।[17]

इनमें उपनयन, गर्भाधान, सोष्यन्ती कर्म, आयुष्य कर्म, मेधाजनन आदि गृह्यकर्मो का उल्लेख है। गृह्यकर्म आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों के लिये अनुष्ठेय हैं। संक्षेप में गृह्यसूत्रों की विशेषताएँ अधोलिखित है –

(1) वैदिक आर्यो के प्राचीन, सामाजिक तथा गृह्य जीवन पर ये महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

(2) पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार गृह्यसूत्रों में अनेक क्रियाकलाप ऐसे निरूपित हैं जो अन्य भारोपीय समुदायों में भी प्रचलित थे। यूनानियों, रोमनों, जर्मनों और स्लावों के विवाह–संस्कारों के तुलनात्मक अनुशीलन से विदित होता है कि भारोपीय आर्यों में परस्पर गहरे सामाजिक और धार्मिक सम्बन्ध विद्यमान थे जैसे – विवाह के समय अग्नि की परिक्रमा, लाजा–होम, पाणिग्रहण, सप्तपदी इत्यादि कृत्य सभी में प्रायः मिल जाते हैं।

(3) गृह्यसूत्रों में जनपदों और ग्रामों में प्रचलित लोक–धर्म पर विशेष बल दिया गया है। आपस्तम्ब और पारस्कर ने भी अनेक लौकिक कृत्यों का समावेश किया है।

(4) गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों में प्राचीनतम मन्त्र भी हैं ओर नवीन भी।

(5) श्रौतसूत्रों के सदृश गृह्यसूत्रों की सामग्री भी ब्राह्मग्रन्थों में मिल जाती है, उदाहरणार्थ शतपथ ब्राह्मण में उपनयन,

गर्भाधान, सोष्यन्ती कर्म, आयुष्यकर्म, मेधाजनन प्रभृति गृह्यकर्मों का उल्लेख है।

(6) श्रौतयागों के अनुष्ठान के लिये जहाँ अनेक ऋत्विजों की आवश्यकता होती है, वहीं गृह्यकर्मों का सम्पादन यजमान स्वयं ही कर सकता है। ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र आश्वलायन, शांखायन तथा शाम्बव्य हैं। शुक्लयजुर्वेदीय गृह्यसूत्र कात्यायन और वाजसनेयि हैं। कृष्ण–यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ़, वैखानस, भारद्वाज, वाधूल, कठ हैं। सामवेदीय गृह्यसूत्र खादिर, गोभिल, गौतम तथा जैमिनीय मिलते हैं। अथर्ववेदीय गृह्यसूत्र कौशिक ही मिलता है जिसमें यातु विद्या एवं औषधि वर्णन है।

3. धर्मसूत्र : कल्पान्तर्वर्ती धर्मसूत्रों के द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों, नियमों तथा व्यवस्थाओं का परवर्ती धर्मग्रन्थों, विशेष रूप से स्मृति–साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा। ऋग्वेद के सन्दर्भ में "धर्म" शब्द संधारक तथा सम्भारक अर्थ का द्योतक है।[18] आगे यह धार्मिक कृत्य, आदेश अथवा विधान का भी वाचक हो गया। वाजसनेयि संहिता में यह "आचरण के नियम" का सूचक है।[19] अथर्ववेद में यह कर्मानुष्ठान जन्य पुण्यपरक है।[20] छान्दोग्य उपनिषद् में यज्ञ, अध्ययन, दान, तप तथा आदर्श का द्योतक है।[21] आगे मनुष्य के कर्त्तव्यों और अधिकारों तथा वर्ण विशेष और आश्रमविशेष से सम्बद्ध व्यक्ति के रूप में उसके आचारों और व्यवहारों का ज्ञापक हो गया।

तन्त्रवार्तिककार भट्टकुमारिल का कथन है कि सभी धर्मसूत्र वर्णो और आश्रमों के कर्त्तव्यों का उपदेश करते हैं। उनकी परिधि में "व्यवहारधर्म" तथा "राजधर्म" भी सम्मिलित हो गये। इनमें "सामयाचरिक

धर्म'' (समय अथवा परम्परा पर आधृत धर्म) की विशेष व्याख्या की गयी। स्मृति इसी का नामान्तर है, अतएव ''स्मार्त धर्म'' भी इसे कहा जा सकता है। गौतम धर्मसूत्र का मत है कि वेद–वेदज्ञों का आचरण तथा उनकी परम्परा धर्म के मूल हैं।[22] इसी की पुष्टि आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने भी की है – ''धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च''।[23]

मनु प्रभृति धर्मशास्त्रियों ने वेद–वेदज्ञों के साथ ही शिष्ट तथा साधुपुरुषों के आचरण को भी धर्म की कोटि में सम्मिलित कर दिया है। शिष्ट श्रेणी में स्वार्थहीन और निःस्पृह व्यक्तियों को ही रखा गया है – ''शिष्टः पुनरेकात्मा।'' धर्मसूत्रों में प्रतिपादित जो विषय वर्तमान मन्त्र–संहिताओं में नहीं मिलते, उनका प्रामाण्य लुप्त शाखाओं के आधार पर स्वीकार किया जाता है।

विकासशील समाज की बढ़ती हुई धार्मिक–सामाजिक समस्याओं की जटिलता के समाधान की चेष्टा धर्मसूत्रों में परिलक्षित होती है। इसीलिए इनमें समयानुकूल परिवर्तन, परिवर्धन और मत–मतान्तरों के स्वीकार की दृष्टि भी दिखलायी देती है। उत्तरकालिक स्मृतियों तथा उन पर लिखी गयी टीकाओं में पूर्व प्रचलित नियमों के परित्याग के बिना ही नये सिद्धान्तों और नियमों के प्रवर्तन का प्रयत्न किया गया है।

मैक्समूलर ने ''धर्म'' का स्वरूप इन शब्दों में इगित किया है – ''प्राचीन भारतवासियों के लिये धर्म सबसे पहले अनेक विषयों के बीच एक रुचि का विषय नहीं था, अपितु वह सबका आत्मसमर्पण कराने वाली विधि थी। इसके अन्तर्गत न केवल पूजा और प्रार्थना आती थी, अपितु वह सब भी आता था जिसे हम दर्शन, नैतिकता, कानून और शासन कहते हैं। उनका

सम्पूर्ण जीवन उनके लिये धर्म था तथा दूसरी चीजें मानों इस जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के लिये निमित्तमात्र थीं।"[24]

उपलब्ध धर्मसूत्रों में ऋग्वेदीय वासिष्ठ, शुक्लयजुर्वेदीय हारीतशङ्ख, कृष्णयजुर्वेदीय बौधायन, हिरण्यकेशि, वैखानस, विष्णु आपस्तम्ब, सामवेदीय गौतम हैं। अथर्ववेद का कोई धर्मसूत्र उपलब्ध नहीं होता।

4. **शुल्बसूत्र :** शुल्बसूत्र प्राचीन भारतीयों के प्रौढ़ ज्यामितीय वैदुष्य के परिचायक ग्रन्थ हैं। "शुल्ब" शब्द का वाच्यार्थ है रस्सी, जो सम्भवतः माप–पट्टिका का द्योतक है। कात्यायनशुल्बसूत्र[25] की टीका में विधाधर शर्मा ने भी "शुल्ब" का अर्थ मापने का साधन माना है। वेबर ने स्वसम्पादित कात्यायन् श्रौतसूत्र में आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के 'त्रिधातुपंचधातु वा शुल्बं करोति'[26] सूत्र को उद्धृत करते हुए "शुल्ब" शब्द का अर्थ 'शुल्बं रज्जुमित्यर्थः' रूप में किया है।[27] वैदिक पदानुक्रमकोश के अनुसार शुल्ब धातु सर्जन अर्थ में स्वीकृत है। इस अर्थ में शुल्ब का अर्थ होगा निर्माण, क्योंकि शुल्ब द्वारा वेदि एवं चितियों का निर्माण किया जाता है। इसलिए सर्जन अर्थ भी इसके लिए चरितार्थ है।[28] भोज के उणादिसूत्र पर लिखी अपनी वृत्ति में दण्डनाथनारायण ने 'शुल्बम्' का अर्थ ताम्रम् किया है।[29] मोनियर विलियम ने अपने संस्कृत–अंग्रेजी कोश में जल के सामीप्य को शुल्ब कहा है।

इस प्रकार शुल्बसूत्र का अर्थ है वेदियों तथा चितियों के मापन तथा निर्माण का निर्देशक ग्रन्थ। गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि तथा दक्षिणाग्नि की स्थापना के लिए यज्ञ–वेदियों का निर्माण अपेक्षित है। वेदि–निर्माण की विधियां शुल्ब–सूत्रों में वर्णित हैं। इस विषय में विशेषज्ञ शुल्बविद्, शुल्बपरिपृच्छक, संख्याज्ञ, परिमाणज्ञ तथा समसूत्रंनिरंछ कहे गये हैं।

यज्ञविधि का संचालन अध्वर्यु करता है। अतः यज्ञस्थल के निर्माण का दायित्व भी अध्वर्यु पर ही होता है। यही कारण है कि सभी शुल्बसूत्र यजुर्वेद के श्रौतसूत्रों से ही सम्बद्ध हैं।

वेदियों के अनेक प्रकार इन ग्रन्थों में वर्णित हैं जैसे गार्हपत्याग्नि वेदि वृत्ताकार या समचतुरस्त्र होनी चाहिए और आहवनीय वेदि समचतुरस्त्र के साथ दक्षिण अर्धवृत्ताकार रूप में वांछित है। आज जिस प्रमेय को 'पाइथागोरस' के नाम से जाना जाता है और जो समचतुरस्त्र के करण पर बनाये हुए रूप में प्रसिद्ध है, उसके आविष्कार का श्रेय वास्तव में शुल्बसूत्रकार बौधायन को ही है। वेदियों के निर्माण में शुल्बसूत्रकारों ने पक्षियों के आकारों से भी प्रेरणा प्राप्त की है। "छन्दश्चित" तथा "श्येनचित" संजक वेदियाँ इसी कोटि की हैं। वैदिक यज्ञों में वेदियों के चयन के सम्बन्ध में विशेषता यह है कि उनमें कोई भी इष्टका तोड़कर नहीं लगायी जाती। इसलिए यत्नपूर्वक ऐसी इष्टकायें निश्चित परिमाण में बनायी जाती हैं जिनसें वेदि का निश्चित आकार सम्पन्न हो सके।

उपलब्ध शुल्बसूत्र इस प्रकार हैं –

कृष्णयजुर्वेदीय (1) बौधायन शुल्बसूत्र, (2) आपस्तम्ब, (3) सत्याषाढ़ अथवा हिरण्यकेशी, (4) मानव, (5) मैत्रायणी, (6) वाराह, (7) वाधूल, (8) मशक, (9) वैखानस तथा (10) शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन।

3. व्याकरण

शब्द–स्पष्टीकरण–विद्या के अर्थ में व्याकरण का प्रयोग वैदिक काल से ही मिलता है। व्याकरण प्रकृति और प्रत्यय का उपदेश देकर पद के स्वरूप तथा उसके अर्थ के निर्णय के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे मुख

अभिव्यक्ति और विवेचन का सर्वसमर्थ साधन है उसी प्रकार व्याकरण भी पद स्वरूप और अर्थ का प्रमुख निर्णायक है। इसीलिए 'व्याकरण' वेद–पुरुष का मुख माना जाता है – 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'।

भारतवर्ष के चिन्तक प्राचीनकाल से ही भाषा के सन्दर्भ में व्याकरण के इस महत्त्व से भली–भाँति परिचित थे। तैत्तिरीय संहिता में देवताओं की प्रार्थना पर इन्द्र द्वारा वाणी के व्याकृत किये जाने का उल्लेख है – 'ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति। तामिन्द्रा मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्'[30], जिसका अर्थ सायण ने प्रकृति–प्रत्यय–विभाग द्वारा अखण्ड वाणी को विच्छिन्न करना बताया है। 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि'[31] तथा 'चत्वारि श्रृंगारत्रयोऽस्य पादाः'[32] आदि मन्त्रों की व्याख्या में पतंजलि के नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात–इन शब्द–विभागों, तीन कालों एवं सात विभक्तियों का संकेत दिया है। इसे सायण ने मन्त्रों के व्याकरण–सम्प्रदाय के अर्थ के रूप मे स्वीकार किया है। उपनिषदों तथा आरण्यकों के वाणी–वर्णन–प्रसंगों में स्वर, ऊष्मन्, स्पर्श, धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात, प्रत्यय, विभक्ति आदि शब्दों का व्यवहार हुआ है। इसी तरह गोपथ ब्राह्मण में भी व्याकरण की एक लम्बी शब्दावली प्राप्त होती है। इसीलिए व्याकरण को यहाँ उत्तरा विद्या एवं वेदांगों में प्रधान माना गया है – 'व्याकरणं नाम इयं उत्तरा विद्या'; 'प्रधानं च षट्सु अंगेषु व्याकरणम्।'[33]

प्रकृति–प्रत्यय का विश्लेषण इसके बिना नहीं हो सकता। अतः 'व्याकरण का अर्थ है – "व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्" अर्थात् पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र। भारतवर्ष की शब्दविद्या की इस समृद्धि के पीछे भारतीय चिन्तकों की इस मान्यता का महत्वपूर्ण योगदान रहा है कि भाषा जीवन की तरह सतत प्रवाहमयी अर्थात् परिवर्तनशील है। भाषा परिवर्तनशील अवश्य है, किन्तु शब्द अपने मूल स्वरूप में नित्य हैं और

अन्य पदार्थों की रचना में किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती है। भाषा की इस विलक्षणता को ध्यान में रखते हुए भारतीयों ने व्याकरणशास्त्र का निर्माण किया था। उन्होंने उत्सर्ग (सामान्य नियम) व अपवाद (विशेष नियम) का आविष्कार किया, जिनके कारण ही हजारों वर्ष पुरानी संस्कृत भाषा को आज भी अच्छी तरह समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं होती। व्याकरण–शास्त्र की इस विलक्षणता से केवल भारतीयों ने ही नहीं, अपितु विदेशी विद्वानों ने भी भारतीय ज्ञान–विज्ञान का लाभ उठाया है।

वररूचि ने अपने वार्तिक में व्याकरण के पाँच प्रयोजन बताये हैं – 1. वेद की रक्षा, 2. ऊह– याज्ञिक प्रयोग एवं अर्थ की दृष्टि से यथास्थान विभक्ति परिवर्तन, 3. आगम, 4. लघु–संक्षेप में शब्द–ज्ञान तथा 5. असन्देह–निराकरण। महाभाष्यकार पतंजलि ने उपर्युक्त प्रयोजनों की पुष्टि करते हुए तेरह प्रयोजन और बताये हैं, जिनमें प्रमुख हैं – 1. अपभाषण से बचना, 2. अशुद्ध शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न अनर्थ से बचना, 3. अर्थ–ज्ञान, 4. धर्म–लाभ, 5. नामकरण आदि।

संस्कृत–व्याकरण की परम्परा बहुत प्राचीन है। गोपथ–ब्राह्मण में धातु, प्रातिपदिक, आख्यात, लिंग, विभक्ति, वचन, प्रत्यय, स्वर आदि के विषय में उल्लेख है। पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती आपिशलि और काश्यप आदि दस वैयाकरणें का उल्लेख किया है। कुछ अन्य प्राचीन ग्रन्थों मे इन्द्र तथा महेश्वर आदि पन्द्रह वैयाकरणों का उल्लेख है, किन्तु पूर्ण और सुव्यवस्थित व्याकरण का निर्धारण पाणिनि के काल से ही हुआ। ब्लूमफील्ड ने पाणिनीय व्याकरण को मानवीय प्रज्ञा का महत्तम प्रतीक कहा हैं।[34] मैक्डॉनल के अनुसार–भारतीय वैयाकरणों ने जिस परिपूर्ण और अतिविशुद्ध व्याकरण–पद्धति को जन्म दिया है, उसकी तुलना विश्व के किसी देश में प्राप्य नहीं है।[35]

पाणिनीय व्याकरण की परिधि में वैदिक और लौकिक दोनों ही क्षेत्र आ जाते हैं। अष्टाध्यायी में वैदिक व्याकरण से सम्बद्ध प्रायः 500 सूत्र हैं। महर्षि पाणिनि ने लगभग 4000 अल्पाक्षर–सूत्रों के द्वारा संस्कृत भाषा का नितान्त वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत किया है। पाणिनि के ग्रन्थ में आठ अध्याय होने के कारण यह 'अष्टाध्यायी' नाम से प्रसिद्ध है। पाणिनि के द्वारा अव्याख्यात संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले शब्दों की व्याख्या करने के उद्देश्य से कात्यायन ने ई. पूर्व चतुर्थ शतक में वार्तिकों की रचना की। तदनन्तर ई. पूर्व द्वितीय शतक में पतंजलि ने महाभाष्य का निर्माण किया। व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा सर्वप्रथम हमें यहीं उपलब्ध होती है। व्याकरण के ये आचार्य पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि मुनित्रय कहलाते हैं।

महाभाष्य के अनन्तर व्याकरण–दर्शन का सबसे प्रधान ग्रन्थ 'वाक्यपदीयम्' है। इसके रचयिता आचार्य भर्तृहरि (षष्ठ शतक) शब्दाद्वैत के संस्थापक थे। उनकी दृष्टि में स्फोट ही एकमात्र परमतत्त्व है और यह जगत् उसी का विवर्त्त रूप है।

आगे चलकर अष्टाध्यायी के क्रम को मानकर पदों की ही सिद्धि प्रधान लक्ष्य रखी गयी। इसी परम्परा के विख्यात वैयाकरण हुए भट्टोजिदीक्षित। उनके तीन सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं – सिद्धान्तकौमुदी, शब्दकौस्तुभ तथा मनोरमा।

यद्यपि व्याकरणशास्त्र का मूल प्रयोजन भाषा में प्रयुज्यमान शब्दों के साधुत्व–असाधुत्व की विवेचना करना और भाषा को अपभ्रंश से बचाना मात्र है, तथापि जब भाषा में प्रयुज्यमान पदों के प्रयोग–कारणों का चिन्तन, पदार्थ और तत्सामर्थ्य का चिन्तन किया जाता है, तब व्याकरणशास्त्र

दर्शनशास्त्र का रूप ग्रहण कर लेता है। व्याकरणशास्त्र–सम्बद्ध विषयों पर दार्शनिक ग्रन्थों का प्रवचन पाणिनि और यास्क से पूर्व ही आरम्भ हो गया था। पाणिनि के एक सूत्र 'अवङ्–स्फोटायनस्य'[36] तथा यास्क के शब्द नित्यत्वानित्यत्व विचार[37] से यह ध्वनित होता है कि व्याकरणशास्त्र का दार्शनिक रूप चिन्तन पहले से ही चला आ रहा होगा। व्याकरणशास्त्र के उपलब्ध दार्शनिक ग्रन्थों में प्रायः इन विषयों पर विचार किया गया है – भाषा की उत्पत्ति, शब्द की अभिव्यक्ति, शब्द के दो रूप स्फोट और ध्वनि, अपभ्रंश के कारण, पद–मीमांसा, वाक्य–मीमांसा धात्वर्थ, लकारार्थ, प्रातिपदिकार्थ, सुवर्ध, समास–शक्ति, शब्द–शक्ति, निपातनार्थ, स्फोट, क्रिया, काल, लिंग, संख्या, उपग्रह।

इन दार्शनिक वैयाकरणों में स्फोटायन, औदुम्बरायण, व्याडि, पतंजलि, भर्तृहरि, मण्डनमिश्र, भरतमिश्र आदि हैं। वैयाकरणभूषण, वैयाकरणभूषणसार आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

वैदिक भाषा का व्याकरण लौकिक भाषा के व्याकरण से अधिक समृद्ध है। स्वरों की सत्ता वैदिक भाषा की एक विशेषता है। वैदिक भाषा में स्वर वर्णों का उच्चारण इन स्वरों में से किसी न किसी के साथ होता है। ये उदात्तादि स्वर स्वरवर्णों के धर्म हैं। इसके अतिरिक्त व्यंजन, यम, क्रम (द्वित्व), स्वरभक्ति, अभिनिधान (वर्णों का संधारण और श्रुति का संवरण), व्यूह और व्यवसाय, स्वरसन्धि, प्रकृतिभाव, नकार–विकार, शब्दरूप, कारकों के प्रयोग में अन्तर, समास, धातुरूप, लकार, लेट्लकार, तुमर्थक प्रत्यय आदि वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त होते हैं। आधुनिक वैदिक अध्येताओं में मैक्डॉनल, ह्विटनी विशेष हैं।

सिद्धान्त रूप से व्याकरण भाषा का अनुगमन करता है। आरम्भ में भाषा थी, बाद में आचार्यों ने उसके स्वरूप को स्थिर एवं साधु रखने के लिये व्याकरण के नियमों का निर्धारण किया। भाषा और व्याकरण के शिक्षण का यह रूप अन्योन्याश्रित है। व्याकरणशास्त्र के माध्यम से शुद्ध संस्कृत भाषा का ज्ञान सम्भव है तथा भाषा की सहायता से संस्कृत–व्याकरण का ज्ञान भी किया जा सकता है। अतः व्याकरण की वेदांगता सिद्ध है।

4. निरुक्त

व्युत्पत्ति के माध्यम से शब्दों के स्वरूप को समझने का प्रयत्न मन्त्र–संहिताओं में ही दिखलायी दे जाता है। इसके बाद ब्राह्मणग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों में हेतु के अनन्तर निर्वचन भी सम्मिलित है। सायणाचार्य के अनुसार अर्थ–ज्ञान की दृष्टि से पदों के समूहों का जहाँ स्वतन्त्र रूप से कथन किया जाये, वह निरुक्त है – 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्।' 'निरुक्त' शब्द के प्राचीनतम प्रयोग देवताध्याय ब्राह्मण[38], मुण्डकोपनिषद्[39] तथा छान्दोग्योपनिषद्[40] में हैं। संक्षेप में, शब्द में निहित आख्यात अथवा धातु के सन्धानपूर्वक उसके अभिप्राय के स्पष्टीकरण की चेष्टा ही निर्वचन–प्रक्रिया है।

निरुक्त में वैदिक शब्दों की निरुक्ति दी गयी है। निरुक्ति शब्द का अर्थ है – व्युत्पत्ति। निरुक्त भाषाशास्त्र की दृष्टि से एक अनुपम रत्न है। निरुक्त का मान्य सिद्धान्त है कि सब नाम धातु से उत्पन्न हैं। वर्तमान भाषाशास्त्र का भी यही मान्य सिद्धान्त है। निरुक्त को वेद–पुरुष का श्रोत्र कहा जाता है – 'निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते'।

निरुक्त निघण्टु की टीका है। निघण्टु में वेद के कठिन शब्दों का समुच्चय किया गया है। निघण्टु पर ही आधारित यास्करचित 'निरुक्त' है। निरुक्त वेदांगों में अन्यतम है। वर्तमान में यास्करचित 'निरुक्त' ही इस वेदांग का प्रतिनिधि–ग्रन्थ है। दुर्गाचार्य के अनुसार निरुक्त संख्या में चौदह थे। यास्क के उपलब्ध निरुक्त में बारह निरुक्तकारों के नाम तथा मत का निर्देश मिलता है।

यास्ककृत निरुक्त में बारह अध्याय हैं, अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट रूप में दिये गये हैं। यास्क पाणिनि से भी प्राचीन हैं। यास्क का समय विक्रमपूर्व आठ सौ वर्ष माना जाता है। आजकल निरुक्त के ऊपर दुर्गाचार्य की 'दुर्गाचार्यवृत्ति' टीका विस्तृत रूप में मिलती है, जो सातवीं शती के आस–पास की है।

यास्क के निरुक्त में निघण्टुगत 230 शब्दों के निर्वचनों को धत्वर्थमूलक प्रक्रिया से स्पष्ट किया है। इनके अतिरिक्त यास्क ने, अन्य बहुसंख्यक शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी दी हैं। इस प्रकार कुल 1771 शब्दों के निर्वचन निरुक्त में उपलब्ध होते हैं।

यास्क के निरुक्त में प्रतिपाद्य विषय पाँच हैं–वर्णागम, वर्ण–विपर्यय, वर्ण–विकार, वर्ण–नाश और धातुओं का अनेक अर्थों में प्रयोग–

वर्णागमों वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्।।

वेदार्थ– अनुशीलन के अधिदैवत, अध्यात्म, आख्यान–समय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक और याज्ञिक आदि अनेक मतों का उल्लेख भी यास्क ने किया है। भाषा–विज्ञान, अर्थविज्ञान, शब्द–

निर्वचनशास्त्र और शब्दव्युत्पत्ति की दिशा में निरुक्त में बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। निरुक्त के प्रसिद्ध अध्येता डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा का विचार है – "यह सिद्धान्त ऐसी शान्तिप्रद विशेषता रखता है जिससे पता चलता है कि इसकी व्युत्पत्तियाँ उन शब्दों से सम्बन्धित हैं जिनका सम्बन्ध या मूल प्राचीन भारतीय भाषा में भले ही प्राप्त न हो, किन्तु दूसरी भारोपीय भाषाओं में प्राप्त है।"[41]

यास्कीय निरुक्त के आधारभूत निघण्टु का संकलन किसने किया, यह विवादास्पद है। दुर्गाचार्य के अनुसार उपलब्ध निघण्टु का संकलन अनेक ऋषियों ने किया।[42] महाभारत में प्रजापति कश्यप को निघण्टु का रचयिता माना गया है।[43] आचार्य बलदेव उपाध्याय भी यही मत प्रकट करते हैं। इसके विपरीत आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने 'प्रस्थानभेद' में यास्क को ही निघण्टु के संकलन का श्रेय दिया है। वैदिक भाष्यकार वेंकटमाधव ने भी अपने ऋग्वेदभाष्य में इसी से सहमति व्यक्त की है – 'तस्या हि यास्कपठितान्येकविंशतिर्नामानि।[44]

यास्क के कथन 'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः' से भी यही ध्वनि निकलती है कि उन्होंने पहले वैदिक शब्दों को संकलित किया फिर उनमें से चुने हुए शब्दों के निर्वचन किये।

निरुक्तशास्त्र का अभ्युदय वैदिक देवविद्या के सहायक के रूप में हुआ था। प्रारम्भिक काल में वैदिक देवताओं के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये उनके नाम – पदों का निर्वचन किया जाता था। यास्क के निरुक्त में तथा अन्यत्र भी शाकपूणि के निरुक्त का अत्यधिक महत्त्व मिलता है। शाकपूणि के ग्रन्थ में देवविद्या को प्रधानता दी गयी है तथा निर्वचन उसके अंग के रूप में ही प्रयुक्त था। कालान्तर में निरुक्तशास्त्र की वेदार्थ ज्ञान में

उपयोगिता जैसे–जैसे विदित होती गयी, वैसे–वैसे इसके भाषाशास्त्रीय स्वरूप को महत्त्व मिलता चला गया। वैदिक शब्दों का अर्थ निर्धारण करना निर्वचन का प्रधान लक्ष्य है। इस प्रकार प्रकृत निरुक्त के दो विषय हैं – 1. मन्त्रार्थज्ञान तथा 2. देवविद्याा। निर्वचन इन दोनों का साधन है, अतः वह निरुक्त का प्रधान विषय है।

यास्क ने निर्वचन दो प्रकार के किये हैं – शब्दनिर्वचन और अर्थनिर्वचन। दुर्ग का कथन है कि शब्द के तत्त्व (वास्तविक अर्थ) तथा पर्यायवाची शब्द देकर दोनों की व्युत्पत्ति से फिर मन्त्र उद्धृत करके उसके आधार पर निर्णय करके यास्क ने ऐकपदिक काण्ड के शब्दों का निर्वचन किया है।

यास्क न केवल निरुक्तशास्त्र के प्रणेता होने से ही शास्त्रकार कहलाने के अधिकारी हैं, अपितु छन्द, अलंकार और व्याकरण आदि शास्त्रों का भी बहुत उपकार करने के कारण इस गौरवमय विशेषण के पूर्णतः अधिकारी हैं। निरुक्त का प्रणयन करते–करते उन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से वाङ्.मय की अनेक शाखाओं का गहरा स्वाध्याय उद्धरण रूप में वर्णित कर दिया है।

यास्क ने एक शास्त्र के अर्थ में व्याकरण शब्द का प्रयोग और व्याकरणशास्त्र के विद्वान् अर्थ में वैयाकरण शब्द का प्रयोग किया है। अक्षर शब्द अकेले या व्यंजन–सम्पृक्त (अ, आ इत्यादि वर्ण) अर्थ में और वर्ण शब्द स्वरव्यंजनात्मक दोनों प्रकार की ध्वनियों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। वे अक्षर को अ–क्षर अर्थात् अ–क्षय और वाणी का आधार मानते हैं। अक्षर शब्द–रूप तथा व्यापक है।

निर्वचन की दृष्टि से, यास्क स्वर–विकार, कण्ठ्य और तालव्य वर्णों के सम्बन्ध, व्यंजनों के दोहरे प्रयोगों, स्वरों तथा व्यंजनों के पारस्परिक सम्बन्ध, वर्णों के द्वित्व तथा विभिन्न सन्धि–नियमों से सुपरिचित हैं।

यास्क ने वर्णों के उच्चारण आदि, दो ध्वनियों के आपसी सम्बन्ध आदि ध्वनि विज्ञान के क्षेत्र में भी अभिज्ञता दिखायी है। यास्क के अनुसार निरुक्त महत्त्वपूर्ण विद्यास्थान तो है ही, व्याकरण का पूरक भी है–

"तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम् स्वार्थसाधकं च" ।[45]

अभिप्राय यह है कि वैदिक वाड्.मय के अनुशीलन की दृष्टि से वेदांग निरुक्त का महत्त्व असन्दिग्ध है। स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव और सायण प्रभृति सभी वैदिक भाष्यकारों ने यास्क को प्रमाण माना है।

5. छन्द

छन्द पंचम वेदांग है। वैदिक मन्त्रों के सम्यक् उच्चारण के लिये छन्दोज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन के अनुसार जो व्यक्ति ऋषि, देवता और छन्दों को जाने बिना वेदाध्ययन करता है, उसका प्रत्येक कार्य निष्फल ही होता है–

"यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पात्यते वा पापीयान् भवति।"[46]

छन्द शब्द अनेकार्थक है। निघण्टु के अनुसार स्तुति, पूजा और प्रसन्न करना इसके अर्थ हैं।[47] गायत्री प्रभृति वेद–मन्त्रों में देवों को प्रसन्न करने के लिये उनकी स्तुति की गयी है, इसलिए ये छन्द हैं। निरुक्त में 'छन्द' शब्द के आच्छादन अर्थ पर बल दिया गया है–'छन्दांसि छादनात्' ।[48]

तैत्तिरीय संहिता[49], शतपथ ब्राह्मण और छान्दोग्योपनिषद्[50] में उपलब्ध निर्वचन भी आच्छादन अर्थपरक ही है। इन निर्वचनों के अनुसार भयभीत देवों ने त्रयी विद्या में प्रवेश कर अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया। यही छन्दों का छन्दत्त्व है। वैदिक वाङ्.मय के अधिकांश भाग की छन्दोमयता के कारण कालान्तर से 'छन्द' शब्द वेद का प्रायः समानार्थक–सा बन गया। निरुक्तगत 'छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः' वाक्य में 'छन्द' शब्द से मन्त्रों का ही तात्पर्य है। निघण्टु में 'छन्द' कान्तिकर्मक नामों में भी पठित है। इसका कारण यह है कि वेद हमारे लिये काम्य हैं, वे हमारी कामनाओं के पूरक हैं, अतः कमनीय हैं। कात्यायन ने अपने 'ऋग्यजुष्' संज्ञक परिशिष्ट में, समस्त वाङ्.मय की छन्दोमयता की उद्घोषणा की है–

'छन्दोभूतमिदं सर्व वाङ्.मयं स्याद् विजानतः।
नाच्छन्दसि न चापृष्टे शब्दश्चरति कश्चन्।।'

वैदिक वाङ्.मय में छन्द की आच्छादनशीलता, यागोपयोगिता, देवप्रसादनशीलता तथा समृद्धिकारकता पर जहाँ विशेष बल है, वहीं लौकिक साहित्य में उसकी आनन्दमयता–आह्लादकता और अधिक उजागर हो उठी है। अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर 'छन्द' शब्द की आह्लादपरक व्युत्पत्ति दी है–'छन्दयति–आह्लादयते इति छन्दः।'[51]

छन्दों से वेदों को गति मिलती है, क्योंकि इस वेदांग की कल्पना वेद–पुरुष के पादों के रूप में है– छन्दः पादौ तु वेदस्य। ब्राह्मण–ग्रन्थों, शाङ्.खायन श्रौतसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य, सामवेदीय निदानसूत्र, पिंगल प्रणीत छन्दःसूत्र तथा कात्यायन एवं अन्य आचार्यों के द्वारा प्रणीत छन्दोऽनुक्रमणियों में विविध छन्दोविषयक विषय प्रदत्त हैं। ऋक्प्रातिशाख्य के 15 वें 18 वें

पटल विशेष उपादेय हैं। इस वेदांग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है पिंगलाचार्य कृत 'छन्दसूत्र'। यह ग्रन्थ सूत्ररूप में आठ अध्यायों में उपलब्ध है। आरम्भ से चतुर्थ अध्याय के सप्तम सूत्र तक वैदिक छन्दों के लक्षण दिये गये हैं और शेष अध्यायों में लौकिक छन्दों का वर्णन है।

प्राचीन आर्ष परम्परा के अनुसार गद्य भी छन्दोयुक्त माने जाते हैं। फलतः यजुर्वेद के मन्त्र भी जो कुछ अंशों में गद्यात्मक हैं, छन्दों से रहित नहीं हैं। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने 1 अक्षर से लेकर 104 अक्षर तक छन्दों का विधान अपने ग्रन्थों में किया है।

वैदिक छन्दों की सर्वमान्य विशेषता यह है कि वे अक्षरों की गणना पर आधारित होते हैं। सर्वानुक्रमणी में कात्यायन ने इसीलिए अक्षर–परिमाण को ही छन्द बताया है –'यदक्षरपरिणामं तच्छन्दः'।[52] इसी प्रकार अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी में अक्षर–संख्या के अवच्छेदक को 'छन्द' निरूपित किया गया है– 'छन्दो अक्षरसंख्यावच्छेदकमुच्यते'।

लौकिक छन्दों में गुरु–लघु, गण–पद्धति और मात्राओं की संख्या का विशेष महत्त्व है। इसके विपरीत वैदिक छन्दों में गुरु–लघु, मात्राओं और गण–पद्धति की कोई विशेष अवधारणा नहीं है। किन्तु उपोत्तम (अन्तिम से पहले वाले अक्षरों) की गुरुता और लघुता का कुछ महत्त्व अवश्य है। पाद–संख्या की दृष्टि से भी वैदिक छन्दों और लौकिक छन्दों में विभिन्नता है। लौकिक छन्दों में चार पाद सुनिश्चित हैं, जबकि वैदिक छन्दों में एक से लेकर आठ पाद तक प्राप्त होते हैं। एक–दो अक्षरों के न्यूनाधिक्य से वैदिक छन्दों में विशेष अन्तर नहीं आता। किसी छन्द में यदि एक अक्षर कम हो तो 'निचृत' तथा एकाक्षर अधिक होने पर 'भुरिक्' विशेषण लगाते हैं।

वैदिक छन्द के दो मुख्य भेद हैं – केवल अक्षरगणनानुसारी तथा पादाक्षरगणनानुसारी। वैदिक छन्दों की संख्या 26 मानी गयी है। वेदों में प्रयुक्त छन्दों में गायत्री प्रथम छन्द है। प्रथम सप्तक के सात छन्दों के नाम हैं– गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् तथा जगती। द्वितीय सप्तक के सातों छन्द 'अतिच्छन्द' के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम हैं– अतिजगती, शक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति तथा अतिधृति तृतीय सप्तक में कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अभकृति तथा उत्कृति हैं।

ब्राह्मण–ग्रन्थों, निरुक्त और अन्यान्य ग्रन्थों में भी निर्वचन, आख्यायिका इत्यादि के माध्यम से गायत्री प्रभृति छन्दों के विषय में महत्त्वपूर्ण रहस्यों और तथ्यों का निरूपण किया गया है। मन्त्र–संहिताओं में गायत्री का महत्त्वपूर्ण स्थान दिखाई देता है। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार इससे ब्रह्मवर्चस्व की उपलब्धि होती है। गायत्री की व्युत्पत्ति 'गायन्तं त्रायते' के रूप में की गयी है – यह गायक की रक्षा करती हैं। गोपथ ब्राह्मणगत 'गायत्र्युपनिषद्' में इसके गौरव का विस्तार से वर्णन है। आथर्वण परम्परा में इसे 'वेदमाता' के रूप में गौरवमण्डित किया गया है। देवताध्याय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि प्रजापति के मुख से उत्पन्न गायत्री छन्द का अग्निदेव से विशेष सम्बन्ध है। इसका वर्ण श्वेत माना गया है।

उष्णिक् छन्द का सवितृदेव से विशेष सम्बन्ध है। ब्राह्मगत निरुक्तियों (जो निरुक्त में भी हैं) से ज्ञात होता है कि 'उत्' उपसर्ग पूर्वक 'स्ना' धातु (शुद्ध्यर्थक) से यह व्युत्पन्न है। उष्णीष (पगड़ी) से भी इसका सम्बन्ध है। गायत्री की अपेक्षा चार अधिक होने से मानो इस छन्द पर पगड़ी बंध जाती है। यह छन्द शुद्धि, स्निग्धता, कामना एवं प्रीति का सम्पादक माना गया है। इस छन्द का वर्ण सारंग है। अनुष्टुप् का सम्बन्ध सोम से है। यह पिशंगवर्णी है। ऋग्वेद में महत्त्वपूर्ण त्रिष्टुप् छन्द वीरता के भावों का

विशिष्ट अभिव्यंजक है इसीलिए ब्राह्मणग्रन्थों में 'वीर्य वै त्रिष्टुप्' कहकर इसकी प्ररोचना की गयी है। लोहितवर्णी इस छन्द के देवता इन्द्र हैं, जिनके पराक्रमों की ओजोमयी वर्णना इसमें है। 'वृहती' छन्द का कृष्णवर्ण और बृहस्पति से विशेष सम्बन्ध है। श्री, यशस् अथवा कीर्ति की प्राप्ति कराने में यह छन्द अत्यधिक उपादेय माना गया है। सुवर्णवर्णी जगती छन्द विश्वेदेवों का प्रिय छन्द है।[53] ब्राह्मणग्रन्थों में इसे पशु–समृद्धिकारक माना गया है।

लौकिक छन्दों का विकास इन्हीं वैदिक छन्दों से हुआ है। वैदिक अनुष्टुप् छन्द ही लौकिक अनुष्टुप् का मूल है। वैदिक त्रिष्टुप् छन्द से ही एकादशाक्षर छन्दों का विशेषतः इन्द्रवज्रा और उपजाति का आविर्भाव हुआ है। इसी प्रकार जगती से द्वादशाक्षर छन्दों–वंशस्थ इत्यादि का विकास माना जाता है। आचार्यों के अनुसार लौकिक वसन्ततिलका छन्द का विकास वैदिक शक्वरी छन्द से हुआ है।

कतिपय पाश्चात्त्य विद्वानों ग्रासमैन, थियोडार बेनफे, जे. जुबाती तथा ऑर्नाल्ड आदि ने वैदिक छन्दों के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। ऑर्नाल्ड की 'वैदिक मीटर' विशेष प्रचलित है।

6. ज्योतिष

वेदांग वाङ्मय में ज्योतिष की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। यह अन्तिम वेदांग है। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ के सम्पादन के लिये है और यज्ञ का विधान विशिष्ट समय आपेक्ष है। जो व्यक्ति ज्योतिष को जानता है, वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है–

> 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालाभिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः'
> तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्।।[54]

काल–ज्ञान के बिना वेद–विहित यज्ञादि कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते। अतः पणिनीय शिक्षा में ज्योतिष को वेद का चक्षु कहा गया है– 'ज्योतिषामयनं चक्षुः'। ज्योतिषरहितज्ञान उसी प्रकार अपूर्ण है जैसे नेत्रविहीन मनुष्य का व्यक्तित्व अपूर्णता का द्योतक है। ज्योतिष समग्र वेदांगों में मूर्धस्थानीय है – 'तद्वद् वेदांगशस्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्'।

ज्योतिष में नक्षत्रों का प्राधान्य होने से इसे 'नक्षत्रविद्या' के नाम से भी अभिहित किया गया है। इस शब्द का प्रयोग छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त होता है। ऋग्वेदकाल में ही ज्योतिष–सम्बन्धी विचार प्रारम्भ हो गया था। सृष्ट्युत्पत्ति, द्युलोक, अन्तरिक्षलोक, सूर्य, ऋतु तथा बृहस्पति आदि का कथन कदाचित् ज्योतिष से सम्बन्धित प्रतीत होता है। ब्राह्मणोक्त दर्श–पौर्णमास याग बिना ज्योतिष–ज्ञान के सम्भव ही नहीं है। अमावस्या और पूर्णिमा का पता चन्द्रगति से ही हो सकता है। इसी प्रकार गृह्यसूत्रों में विवाहादि संस्कार के लिये सूर्य के अयन और नक्षत्रों का विचार किया जाता था। शुल्बसूत्रों के गणित को भी यदि ज्योतिष के अन्तर्गत रखें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी क्योंकि ज्योतिष का एक पक्ष गणित से भी सम्पृक्त है। अतएव 'वेदस्य निर्मलं चक्षु र्ज्योतिःशास्त्रमकल्मषम्'[55] वाक्य युक्तियुक्त ही है।

वेदांग ज्योतिष का प्रतिनिधि ग्रन्थ दो वेदों से सम्बन्ध रखता है– यजुर्वेद तथा ऋग्वेद से, जिसका नाम है याजुष् ज्योतिष और आर्च ज्योतिष। प्रथम में 44 तथा द्वितीय में 36 श्लोक हैं। बहुत से श्लोक दोनों ग्रन्थों में समान हैं। इन दोनों में प्राप्त विषयवस्तु इस प्रकार है– 1. युग, अयन वर्ष और मास, 2. ऋतु, विषुव और दिनमान, 3. पर्वगण तथा पर्वसम्मत नक्षत्र, 4. पलादि परिमाण, 5. ग्रहगति, 6. नक्षत्र और लग्न।

वेदांग ज्योतिष में मेषादि राशियों का उल्लेख नहीं है। तत्कालीन ज्योतिष में योग, अन्तर, गुणा–भाग और त्रैराशिक का ज्ञान उपलब्ध होता है। भिन्न का ज्ञान भी उस समय रहा होगा। अंकगणित का पूर्ण विकास हो चुका था। 'वेदांग ज्योतिष' इसका स्पष्ट प्रमाण है। इसके रचयिता लगध थे।

इसके अतिरिक्त त्रिस्कन्धात्मक सिद्धान्त ज्योतिष, संहिता ज्योतिष तथा होरा ज्योतिष का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

सन्दर्भ

1. पा० शि० 41–42.
2. सायण ऋ० भा० भूमिका, पृ. 48.
3. पा० शि०–25.
4. वही – 52.
5. वही – 33.
6. तैत्तिरीयोपनिषद् 1–2.
7. संस्कृत वांङ्मय का वृहद्इतिहास– (वेदांग–खण्ड) पृ. 34.
8. ना० पु० पूर्वभाग, द्वितीयपाद्र, 51वां अध्याय
9. विष्णु पुराण 3/6/13–14.
10. सायण, ऋ० भा० भू०
11. ऋक्प्राति, वर्गद्वयवृत्ति
12. अष्टा०–4/3/105, महाभा०–4/2/64.
13. The Ritual Sutras By J. Gonda p. 489.
14. A History of Sanskrit Literature, p. 206.
15. The Survey of Srauta Sutras, p. 16.
16. The Survey of Srauta Sutras, p. 33.
17. A History of Sanskrit Literature, p. 205.
18. ऋग्वेद् (1/187/1)
19. वाजसनेयी संहिता 2/3/5/27.
20. अथर्ववेद 11/9/17.
21. छान्दोग्योपनिषद् 2/23.

22. गौतम धर्मसूत्र 1/1–2.
23. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1/1/2–2.
24. इण्डिया व्हॉट कैन इट टीच अस, हिन्दी अनु., 107.
25. कात्या. शु. सू. विद्याधर टीका पृ. 545.
26. आप. श्रौ. सू. 1/4/10.
27. कात्यायन शुल्बसूत्र , पृ. 52.
28. वैदिक पदानुक्रमकोश, भाग 4, पृ. 2427.
29. भोज उणादिसूत्र 2/2–221.
30. तैत्तिरीय संहिता, का० 6, प्रपा, 4, अनु. 7.
31. ऋग्वेद 1/164/45.
32. वही– 4/58/3.
33. महाभाष्य 1/2/32.
34. Language, page-II
35. India's Past, page – 136.
36. अष्टाध्यायी 6/3/123.
37. निरुक्त 1/1.
38. देवताध्याय ब्रा. 3/1.
39. मुण्डकोपनिषद् 1/5.
40. छान्दोग्योपनिषद् 8/3/3.
41. Etymologies of Yaska, page 25.
42. निरुक्त 1/20 पर दुर्गभाष्य
43. महाभारत, मोक्षधर्मपर्व, अ. 342, श्लोक 86–87.
44. ऋग्वेद 7/87/4 पर लिखित भाष्य में
45. निरुक्त 1/15.
46. सर्वानुक्रमणी 1/1.

47. निघण्टु 3/4.
48. निरुक्त 7/3.
49. तैत्तिरीय संहिता 5/6/6/1.
50. छान्दोग्योपनिषद् 1/4/2.
51. अमरकोश 3/2/20 पर टीका
52. सर्वानुक्रमणी 12/6.
53. संस्कृत–साहित्य का बृहद् इतिहासः वेदांग खण्ड, पृ० 416.
54. वेदांग ज्योतिष, श्लोक सं० 3.
55. नारदसंहिता– 1/4.

विषयानुक्रमणिका

भूमिका

राजसूय महायज्ञ तक यज्ञ प्रक्रिया का उत्तरोत्तर विकास - वेद भारतीय संस्कृति अथवा मानव संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वेदों में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड इन तीन विषयों का मुख्यत: वर्णन मिलता है। इन तीनों में कर्मकाण्ड को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। अत: यज्ञ अथवा कर्मकाण्ड ही वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।[1]

ऋचों यजूंषि सामानि निर्ममे यज्ञ सिद्धये।[2] किसी भी कार्य के लिए इच्छा का होना अनिवार्य है क्योंकि इच्छा के बिना कर्म में प्रवृति असम्भव है इच्छा के होने पर ही व्यक्ति संकल्प करता है। जैसा उसका संकल्प होता है वैसा ही वह कर्म करता है, जैसा वह कर्म करता है वैसा ही उसे फल मिलता है।[3]

यह संकल्प ही विधान का द्योतक है वेदों में कर्म के लिए ऐसे ही विधान बनाकर पिण्ड से लेकर ब्राह्मण्ड तक यज्ञ की कल्पना की गई है। चाहे वह शुभ कर्म का वर्णन हो।[4] अथवा बल की कामना[5] प्राण अपान वाणी की प्राणश्च में अपानश्च में वाक् च मे मनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।[6] धन सम्पति[7] की, भविष्य की समुन्नति की कामना[8] हो अथवा अग्नि-विद्या[9] आदि का प्रसंग हो, यज्ञं दधे सरस्वति।[10] अथवा देव स्तुति हो, इन्द्र यज्ञं च

---

1 दुदोह यज्ञसिद्धयर्थम् मनु.।/23

2 ब्रह्म पुराण 1/49।

3 यथा कामो भवति तत् क्रतुर्भवति यत क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्योते। बृह. उप. 4/4/5

4 यज्ञं वष्टुधियावसु। ऋ. 1/3/10

5 वाजश्च में प्रसवश्च में यज्ञेन कल्पनताम्। यजु. 18/11

6 यजु. 18/2

7 यजु. 18/10

8 यजु. 18/11

9 अग्नि सुम्नाय दधिरे पुरोजनाः। ऋ.3/2/5

10 ऋ. 1/3/11

वर्धम।[1] विश्व की उत्पति, इमं यज्ञं विततं विश्व कर्मणा।[2] का वर्णन हो, देवत्व की प्राप्ति अयं यज्ञो देवया अयमियेध।[3] अथवा मोक्ष प्राप्ति[4] हेतु प्रार्थना हो। सभी में यज्ञ का विधान किया गया है। अत: स्पष्ट है कि वैदिक काल में यज्ञ का बाहुल्य था। यज्ञ ही प्रथम धर्म के रूप में आसीन था।[5]

वेदों में यज्ञ के स्वरूप विवेचन से यही प्रश्न उठता है कि वेदों का परमप्रिय यज्ञ जो वैदिक जीवन का इतना प्रबल व आवश्यक अंग था, उसका समारम्भ कहां से हुआ अथवा उसका सर्वप्रथम प्रामाण्य कहां उपलब्ध होता है यह जानना भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि तभी हम व्यवस्थित क्रम से राजसूय यज्ञ का निरुपण कर पायेंगे।

यज्ञ का सर्वप्रथम प्रामाण्य

वेद को चार भागों में विभाजित किया जाता है - संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। वैदिक साहित्य में सबसे प्राचीन संहिताएं हैं। संहिताओं में ही यज्ञ का प्रथम प्रयोग मिलता है।[6]

यद्यपि यहां अग्नि के स्तवन का वर्णन है किन्तु उसे यज्ञ का आधार माना है इसलिए कहा है कि पूर्वकाल में ऋषियों ने जिसकी उपासना की थी तथा अब भी कर रहे हैं। वह अग्नि देवगण को यज्ञ में आह्वान करता है।[7] अर्थात् अग्नि को प्रदीप्त कर यज्ञ में देवताओं का आह्वान किया जाता है। यह यज्ञ स्वर्गस्थ देवताओं को तृप्त करता है।[8] और देवता फिर याजक को सन्तुष्ट करते हैं। अत: संहिताओं में यज्ञ देवताओं को तुष्ट कर उनसे

---

1 ऋ. 1/10/1

2 अथर्ववेद 19/58/5

3 ऋ.74/4 1/77/4

4 यज्ञेभिष्तद्भीष्टिमश्याम। ऋ.1/166/14

5 यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ऋ. 10/90/15

6 अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । ऋग्वेद-1/1/1

7 अग्नि: पूर्वेभि ऋषिभिरीडयो नूतनैरुत। स देवां एह वक्षति। ऋ.1/1/2

8 अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वत: परिभूरसि स इद्देवेषु गच्छति। ऋ.1/1/4

इच्छित पदार्थो की कामना की जाती है।[1]

यहां देवता मुख्य है और यज्ञ साधन है। संहिता भाग के उपरान्त वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों का स्थान है ब्राह्मणों में यज्ञ प्रमुख लक्ष्य हो गया है और देवता गौण हो गये। संहिताओं में प्रतिपादित यज्ञ को ब्राह्मणों में एक विस्तृत अनुष्ठान का रूप देकर पुरोहितों को सौंप दिया गया है।[2] यही कारण था कि ब्राह्मण काल में यज्ञ एकांगी, संकुचित और सर्वथा व्यक्तिगत हो गया।

ब्राह्मण युग में यज्ञ के बाह्य स्वरूप (आधार) की ओर ध्यान अधिक बढ़ जाने से उसका आन्तरिक स्वरूप लगभग भूला दिया गया। आरण्यकों में इस आन्तरिक आकार का न केवल पुनरुद्धार अपितु पल्लवीकरण भी किया गया।

याज्ञिक प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत करके न केवल यज्ञ का महत्व प्रतिपादित किया गया है अपितु यज्ञ में सूत्रभूत जगत् नियन्ता को भी प्रत्यक्ष रूप में दिखाया गया है अर्थात् आरण्यकों ने यज्ञ की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जो संहिताओं में अप्रत्यक्ष रूप से था उसे प्रत्यक्ष रूप से कह दिया। यज्ञ के आधार तत्व, परम तत्व को प्रतीकात्मक तथा उपासनात्मक शैली के द्वारा सिद्ध कर दिया।

संहिताओं में प्रतिपादित यज्ञ के जिस रूप का विकास आरण्यकों में परिलक्षित होता है उसी की पराकाष्ठा उपनिषदों में प्राप्त होती है। आरण्यकों में यज्ञ के माध्यम से यज्ञ की प्रतिकात्मक अथवा उपासनात्मक व्याख्या करके परम तत्व के ज्ञान का मार्ग प्रशस्त किया गया है परन्तु उपनिषद् साहित्य में यज्ञीय माध्यम के बिना भी स्वतन्त्र रूप से परम तत्व की गवेषणा आरम्भ हो गई। किन्तु प्राग्वर्ती आरण्यक साहित्य की शैली उपनिषदों में भी कहीं-कहीं अपना स्थान लगातार बनाये हुए हैं ऐसे सन्दर्भों का विवेचन शोध का विषय हो

---

1 (i) अथर्ववेद - 5/12/2, (ii) यजु. 18/32-34

2 उपनिषदों की भूमिका - पृ.45

सकता है किन्तु उपनिषदों में यज्ञीय स्वरूप का अवगाहन करने से पूर्व, पूर्ववर्ती काल में यज्ञ के प्रचलित अर्थ, भेद, प्रभेद एवम् उनके परिप्रेक्ष्य में उपनिषद कालीन यज्ञीय परिकल्पना को समझना युक्तिसंगत होगा। जहां हम यह निर्णय कर पायेगे कि क्या ब्राह्मणों में प्रचलित यज्ञ परवर्ती काल में प्रचलित रहे अथवा नहीं, प्रचलन रहा तो उसी रूप में रहा अथवा उसमें कोई परिवर्तन हुआ? यदि परिवर्तन हुआ तो किस प्रकार का हुआ? ये सब तभी सफलतापूर्वक गवेषणीय है जबकि पूर्ववर्ती यज्ञीय परिप्रेक्ष्य के सामान्य परिचय से अवगत हो। यज्ञ का व्युत्पतिलभ्य अर्थ क्या है, कोशकारों ने व अन्य ग्रन्थों में यज्ञ से क्या अभिप्राय लिया गया है। यज्ञ के कौन से पर्याय हैं जिनके कारण उसका स्वरूप परिवर्तन हुआ। सर्वप्रथम हम यज्ञ के सामान्य अर्थ परिचय पर विचार करेंगे। प्रथमत: वेदों में ही हमें सर्वप्रथम यज्ञ का परिचय प्राप्त होता है। अत: सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में ही यज्ञ का अर्थ विश्लेषण करेंगे।

वैदिक तथा वैदिकोत्तर साहित्य में यज्ञ शब्द से अभिप्राय

ऋग्वेद में यज्ञ शब्द कर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और कर्म का अभिधायक क्रतु[1] शब्द ऋग्वेद में यज्ञ[2] का भी अभिधायक है। सायण ने ऋग्वैदिक मंत्रों के भाष्य में प्राय: कर्म का अर्थ यज्ञ[3] तथा यज्ञ का अर्थ कर्म किया है।[4] एक मन्त्र में तो स्पष्ट ही अग्नि देवता को यज्ञों द्वारा प्राप्त अद्भूत कर्मवाला कहा है।[5] ऋक् शब्द का अर्थ ही है जिससे स्तुति की जाये। अत: स्तुतिपरक मन्त्रों का संकलन ही ऋग्वेद संहिता है। देवताओं की स्तुति एवम् उन्हें ही विदान के बदले में उनसे धन धान्य, सुख-समृद्धि, वीर सन्तान,

---

1 ऋ.1/12/1, 2/12/1, 10/9/13 पर सायण भाष्य

2 ऋ.1/2/8 पर सायण भाष्य

3 ऋग् 01/11/4, 9/46/3, 10/28/7 पर सायण भाष्य

4 ऋ. 110/4, 1/21/4 पर सायण भाष्य।

5 यज्ञेभिरद्भुतं क्रतुम्।। ऋ.8/23/8

दीर्घ जीवन तथा गौ-अश्वादि की कामनाएं की गई है।[1]

ब्राह्मणों में यज्ञ को साक्षात् रूप से कर्म कहा है। यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'।[2] ब्रह्म शब्द का अर्थ ही यज्ञ है। यज्ञ का प्रतिपादन करने के कारण इन ग्रन्थों का नाम ब्राह्मण पड़ा। यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म के रूप में ही शतपथ यज्ञ की व्युत्पति परक व्याख्या भी करते हैं। उसके अनुसार यज्ञ के द्विविध स्वरूप है प्राकृत और कृत्रिम। प्राकृत यज्ञ निरन्तर चल रहा है क्योंकि सम्पूर्ण ब्राह्मण्ड अथवा सृष्टि में यज्ञ हो रहा है जब प्रजापति ने सृष्टि को उत्पन्न किया तो सर्वप्रथम वह अकेला था फिर उसने धीरे-धीरे जल, वायु, आकाश आदि से सृष्टि का विस्तार किया। यज्ञ विस्तारित किया जाता हुआ ही उत्पन्न होता है। अतः 'यज् जायते'[3] से यज्ञ नाम पड़ा। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को अग्नि[4], सूर्य[5], विष्णु[6], प्रजापति[7] और पुरुष[8] आदि को भी यज्ञ से समीकृत किया गया है।

आरण्यकों में यज्ञ शब्द से अभिप्राय आध्यात्मिक कर्मों से लिया गया है। आरण्यकों में कहे गये यज्ञ महाव्रत, अरुणकेतु, प्रवर्ग्य, अश्वमेध इत्यादि यज्ञ बाह्य कर्म काण्डों से हटकर किसी परम शक्ति को ही द्योतित करते हैं।[9]

उपनिषदों में यज्ञ ऐसा कर्मकाण्ड कहा गया है जो आत्मोन्नति और जगत् के हित के

---

1 अग्नीषोमा या आहुति यो वा दाशाद्धविष्कृतम्। स प्रजया सुवीर्यं विश्वमायुर्व्यश्नवत्। ऋ.1/93

2 शत.ब्रा.-1/7/1/5

3 अथ यस्माद् यजो नाम। ध्वन्ति वा एनम् एतद्यदभिषुष्वन्ति तद्यदेनं तन्वते तदेनं जनयन्ति स तायमानो जायते स यज्जायते तस्माद् यजो यज्ञो ह वै नामैतद्यज्ञ इति। श. ब्रा. - 3/9/4/23

4 अग्नि ह्यैव यज्ञः। श.ब्रा.3/2/2/9

5 गोपथ ब्राह्मण-1/33

6 यज्ञो वै विष्णु-श.ब्रा.1/1/2/13, 5/4/5/14, 5/4/5/14

7 यज्ञः प्रजापति, श.ब्रा.11/6/3/9

8 पुरुषो वै यज्ञः श.ब्रा.1/3/2/1

9 उषा ग्रोवर-सिम्बोलिजम् इन दि आरण्याफास् एण्ड देअर इम्पेक्ट ऑन् दि उपनिषद्स्। पृ.119-124, 154-161, 207-211, 'यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः।। छा.उप. - 4/16/1

लिए किया जाता है। शरीर धारण को भी उपनिषदों में यज्ञ कहा है।[1]

इसके अतिरिक्त उषा, सूर्योदय, वायु का चलना, ऋतु, दिन, संवत्सर, रात्रि, मास आदि में यज्ञ की भावना की गई है।[2]

सूत्र ग्रन्थों में देवता को लक्ष्य कर विशेष विधि के अनुसार वैदिक मन्त्रों के साथ अग्नि में घृत आदि के लक्ष्य कर विशेष विधि के अनुसार वैदिक मन्त्रों के साथ अग्नि में घृत आदि की आहुति डालना अथवा द्रव्य का त्याग ही 'यज्ञ' कहा गया है।

निरुक्तकार यज्ञ के उपरोक्त अर्थों के आधार पर यज्ञ का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हैं अथवा यजमान ही देवताओं से वर्षा आदि की प्रार्थना करते हैं उस कर्म को यज्ञ कहते हैं।

यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः याचञ्यो भवतीति वा, यजुभिर्रून्नोभवतीति वा, बहुकृष्णाजिन् इत्यौपमन्यवः यजूंष्येनं न्यन्तीति वा।[3]

पुराणों में तो चारों वर्णों के कर्मो को ही यज्ञ कह दिया गया है।[4] यज्ञ के उपरोक्त सभी अर्थों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि यज्ञ शब्द कर्म अथवा कर्मकाण्ड का प्रतिपादक है। यज्ञ ऐसा कर्म है जिसमें देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विज और दक्षिणा इन पांचों का संयोग होता है।[5] वैदिक साहित्य के उत्तरवर्ती काल में यज्ञ एक ऐसे पवित्र कर्म के रूप में स्थापित हो गया कि वही श्रेष्ठ धर्म व उत्तम कर्म कहा जाने लगा। भवगद्गीता[6] भी इसी अभिप्राय को स्पष्ट करती है।

वैदिक साहित्य में यज्ञ के अर्थालोचनोऽपरान्त यह जानना भी अनिवार्य है कि

---

1 शरीर यज्ञः - महानारायणोपनिषद् - 30/20

2 बृह.उप.-1/1 पर II.भा. तथा 'देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः' का श्रौ.सू.-1/2/22

3 निरुक्त-3/4/9

4 यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्म चकार ह। चातुर्वर्ण्यं महाभायज्ञ साधनमुत्तमम्।। विष्णु पुराण 1/6/7

5 देवानां द्रव्य हविषां ऋक्साम यजुषां तथा। ऋत्विजा दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते। मत्स्य पु.144/44

6 यज्ञक्षपित कल्माषाः।। भगवद् गीता - 4/30 ।।

व्याकरणाचार्यों एवम् कोशकारों द्वारा किये गये यज्ञीय अर्थों का आधार वैदिक साहित्य ही है अथवा नहीं।

यज्ञ शब्द का व्युत्पतिलभ्य अर्थ तथा सामान्य अर्थ

धात्वर्थ – व्याकरण में यज्ञ को यज् धातु से निष्पन्न माना गया है। 'यज्' धातु से यज्याच्यतविच्छप्रच्छ्रक्षो नङ्।[1]

इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार नङ् प्रत्यय के योग से यह शब्द निष्पन्न माना गया है। 'एभ्योनङ् स्यात्। यजेर्नङिश्चुत्वे इज्यते इति यज्ञः'। यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः हतो यज्ञस्त्वदक्षिणा या चेनाङश्चुत्वेनत्र याञ्चा प्रार्थना।

याञ्यामोधावरमधित्रदोषः। विच्छेर्नङिछोरितिशः। विश्नः। गमनाम् प्रच्छेर्नङिप्रश्नापृछः। प्रश्ने चासन्न काले। इति निर्देशात्सम्प्रसारणभावः। रक्षार्नङिणत्वं रक्ष्णः। रक्षणमित्यर्थः।[2] (यजादि धातुओं से नङ् प्रत्यय है।)

महावैयाकरण पाणिनि ने यज्ञ के तीन अर्थ किये हैं – देवपूजा, संगतिकरण और दान। देवताओं की पूजा अथवा प्रसादन यज्ञ है देवताओं की परिभाषा विस्तार भय से हम यहां नहीं करेंगे। संगतिकरण अर्थात् विद्वानों का संग प्राप्त करना या दो तत्वों को मिलाकर तीसरा नया तत्व बनाना संगतिकरण है। द्रव्य त्याग दान है।

पाणिनि के 'यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु' इस व्युत्पति के अनुसार कतिपय आचार्यों ने इन तीन अर्थों की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। मुनि देवराज विद्या वाचस्पति के अनुसार देवपूजा का अर्थ है – सत्कार, सत्कार से अभिप्राय है किसी की अवस्था के अनुकूल अपनी अवस्था करना अतः देव, परमात्मा, अव्यक्त सत्ता के गुणों को धारण करने वा अपने अन्दर दैवत्व सम्पादन करने का नाम देव पूजा है। अतः देवत्व सम्पादक कर्म का

---

1 पाणिनि अष्टाध्यायी सूत्र – वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी-3/3/90

2 वै. सिं. कौ. प्रक्रिया । - 3/3/96

नाम यज्ञ हुआ। देव शब्द दिव्धातु से बना है दिव् धातु का अर्थ है क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति-स्तुति, मोद-मद, स्वप्न, कान्ति और गति। इन गुणो को धारण करना ही देवत्व है जिन कर्मों से ये गुण धारण हो सके वे कर्म यज्ञ शब्द से कहे जाते हैं।[1]

संगतिकरण

जिस कर्म के द्वारा पदार्थों में संगति की जाती है। जिस कर्म के द्वारा शत्रुभाव रखने वाले व्यक्ति मिलकर एक हो जाते हैं, अपने को एक समझने लगते हैं। अतः कह सकते हैं कि संगठन शक्ति को उत्पन्न करने के लिए जो कर्म किया जाये, वे यज्ञ है। भेद, अभेद, बहुतत्व में एकत्व, वैषम्य में साम्य बुद्धि उत्पन्न करने वाले जितने कर्म हैं वे सब यज्ञ है।[2]

दान

किसी दूसरे के लिए किसी वस्तु को छोड़ना यह भी यज्ञ है। धनादि का संग्रह करके दूसरों की उन्नति के लिए वितरण करना भी यज्ञ है।[3] पाणिनि के अनुसार यज्ञ के तृतीय अर्थ की व्याख्या करते हुए गौड़ कहते हैं कि यथा शक्ति देश, काल, पात्रादि विचार पुरस्सर द्रव्योत्सर्ग करने को यज्ञ कहते हैं जिसमें श्रद्धापूर्वक देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग किया जाए उसे यज्ञ कहते हैं। जिस कर्म से अपना सर्वस्व भगवद् अर्पण किया जाए उसे यज्ञ कहते हैं जिस कर्म में चारों वेद सांगोपांग उत्तम शिष्यों के लिए योग्य आचार्यों द्वारा उपदिष्ट किये जाते हों उसे यज्ञ कहते हैं।[4]

---

1 वैदिक भारत में यज्ञ और उसका आध्यात्मिक स्वरूप पृ.26 - मुनिदेवराज

2 वैदिक भारत में यज्ञ और उसका आध्यात्मिक स्वरूप - पृ.29

3 वैदिक भारत में यज्ञ व उसका आध्यात्मिक स्वरूप - पृ.29

4 (i) यजनं यथाशक्ति देशकाल - पात्रदिविचार पुरस्सर द्रव्यादि त्यागः।

(ii) इज्यते देवतोद देशेन श्रद्धा पुरस्सरं द्रव्यादि त्यज्यते अस्मिन्निति - यज्ञमीमांसा - पृ. 78

(iii) इज्यन्ते सन्तोष्यन्ते याचका येन कर्मणा स यज्ञः।

(iv) इज्यते भगवति, सर्वस्वं निधाप्यते येन वा स यज्ञः।

(v) इज्यन्ते चत्वारो वेदाः साङ्गाः स+रहस्याः सच्छिष्येश्यः सम्प्रदीयन्ते (उपदिश्यन्ते) सदा आचार्यै येन वा स यज्ञः।) यज्ञ मीमांसा, पृ.4

सामान्य अर्थ (कोशकारों के अनुसार)

यज्ञ शब्द से सामान्य अभिप्राय है प्राचीन भारतीय आर्यों का एक प्रसिद्ध धार्मिक कृत्य अथवा पूजा व देव सम्बन्धी वह पवित्र कार्य जिसमें देवताओं को प्रसन्न करके मनोवांछित फल की प्राप्ति की जाती थी। उदहारणार्थ - मख याग।[1]

याग से तात्पर्य - सवः, अध्वर, यज, सप्ततन्तु, मख, क्रतु इत्यमरः, इष्टि, इष्टम्, वितानम्। मन्युः आहवः, सवनम्, हवः अभिषवः, होम, हवनम्, महः इत्यादि इस शब्द रत्नावली से यज्ञ (तात्पर्य) लिया गया है।[2] शब्दार्थ कौस्तुभ में यज्ञ को अग्नि एवम् विष्णुनाम के साथ तादात्म्य दिखाकर यज्ञ को भी विष्णु का पर्याय माना है।[3]

यज्ञ के पर्यायवाची

यज्ञ के सामान्य व धात्वार्थ से यही स्पष्ट किया गया है कि यज्ञ से आशय कर्मकाण्ड से है। वैदिक काल में कर्मकाण्ड मानव जीवन का आवश्यक अंग बन चूका था। इसलिए कई शब्द यज्ञ के पर्याय रूप में प्रयुक्त होने लगे। उनमें क्रतु, अध्वर, धर्म, ऋत, उपासना आदि प्रमुख है। निघण्टु में यज्ञ के पन्द्रह नाम गिनाये गए हैं - यज्ञ, अध्वर, वेन, मख, मेघ, सवन, इन्द्र, धर्म, होत्रा, प्रजापति, देवताति, इष्टि, विदथ तथा विष्णु।[4] इनमें से कुछ पर्याय रूप में और कुछ प्रतीक रूप में यज्ञ को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यज्ञ एक अतिविस्तृत प्रक्रिया है और राजसूय एक रूढ़ अर्थ में इस प्रक्रिया का अंशमात्र है।

---

1 (क) 'यज्ञेन-यज्ञमयजन्त देवाः तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः आदि। संस्कृति हिन्दी कोश - वामन शिवराम आप्टे, पृ.23
(ख) ए सैक्रीफाइज, ए सर्मनी, इन विच आब्लेशन आर प्रेजेन्टेड - हाईमन विल्सन ।।
(ग) वरिशिय (ओम् प्रेयर ओर प्रेस्ड) सैक्रिफिशियल राइट सैक्रीफाइज मैकडानल-पृ.238।

2 शब्द कल्पद्रुम - पृ.5

3 शब्दार्थ कौस्तुभ - पृ.984

4 निघण्टु 3/17

कर्म

स्वभावत: ही कोई भी क्षणभर के लिए कर्म किये बिना नहीं रह सकता, प्रकृति के गुणों से विवश होकर करना ही पड़ता है।[1] अत: यज्ञ शब्द की उत्पति कर्मार्थ हुई।[2]

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को साक्षात् कर्म कहा है।[3]

निरुक्तकार भी यज्ञ को कर्म विशेष ही कहता है।[4]

महाभारत में भी चारों वर्णों के कर्मों को यज्ञ कहा गया है।[5]

आरण्यकों में भी यज्ञ से आशय कर्म ही है। उपनिषदों में पवित्र कर्म करने वाला कर्म यज्ञ है।[6] त्यागभाव से कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करें। ऐसा कहा गया है।[7] इस प्रकार यज्ञ का कर्म रूप सर्वोपरि है। प्रकृति में निरन्तर प्राकृत यज्ञ चल रहा है। उसी का अनुकरण कर कृत्रिम यज्ञ विहित हुआ। बन्धन का मूल कारण है इच्छा या काम, निष्काम भाव से किया गया यजादि कोई भी कर्म बन्धन का कारण नही होता। कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए निष्काम कर्म का विधान है।[8]

ऋत

ऋत शब्द का अर्थ सायण ने कर्मफल तथा स्कन्दस्वामी ने 'यज्ञ' किया है।[9] ग्रिफिथ

---

1 न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवश: कर्म सर्व: प्रकृतिजै गुणै:।। भगवदगीता 3/5

2 यज्ञ-कर्म समुद्भव:। भ.गीता-3/14

3 यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। श.ब्रा.-1/7/1/5

4 निरुक्त-3/4/9

5 आरम्भ यज्ञा: क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विश: स्मृता:।
परिचार यज्ञा: शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातय:।। महा. शान्तिपर्व - 237/72

6 यन्निदं सर्व पुनाति तस्मादेष एव यज्ञ:। छान्दोग्य उप. 4/16/1

7 ईश.उप.-अध्याय-1

8 मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्म चेतसा।
निराशीनिर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वर:।। भगवद् गीता - 3/30

9 ऋक्-1/84/41, 1/91/7 पर सायण तथा स्कन्दस्वामी भाष्य।

ने (उपरोक्त पर ग्रिफिथ का अनुवाद) ऋत को शाश्वत् नियम का वाचक बताया है। मैकडानल ने प्रकृति में व्याप्त सृष्टि नियम को 'ऋत' के नाम से स्वीकार किया है जो कि उच्चतम देवो के संरक्षकत्व के आधीन चल रहा है। यही शब्द नैतिक क्षेत्र में सत्य एवम् यथार्थ रुप में व्यवस्था का निर्देश करता है और धार्मिक जगत में यह यज्ञ यागादि का वाचक बन गया है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषियों को प्रकृति में व्याप्त ऋतु की शाश्वत व्यवस्था ही कर्म एवम् कर्मफल में दिखाई दी और इसी की अनुभूति उन्हें याज्ञिक क्रियाओं एवम् उनके सुनिश्चित फलों में हुई। सम्भवतः इसीलिए ऋग्वेद में ऋत् शब्द द्वारा कर्मफल एवम् यज्ञ इन दोनों का निर्देश किया गया है।

अध्वर - अध्वर को यज्ञ का प्रमुख पर्याय माना जाता है। निघण्टु में परिगणित पन्द्रह नामों में यज्ञ के बाद इस अर्थ में अध्वर शब्द का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। शतपथ में कहा गया है कि अध्वर ही यज्ञ है।[2] ध्वर धातु हिंसार्थक है। हिंसा का प्रतिषेध होने के कारण यज्ञ को अध्वर कहा जाता है।[3] यज्ञ तथा अध्वर में समान विशेषताएं हैं। दोनों का अग्नि तथा देवों से सम्बन्ध हैं और दोनों में ही देव आहवनीय है।[4] दोनों मे ही विस्तार की भावना प्रधान है। सोम, समिधा, हवि आदि का दोनों से घनिष्ठ सम्बध है। प्राञ्च यज्ञ के समान प्राञ्च अध्वर भी है।[5] दोनों का सम्बन्ध मति, धीति और धी से है।

सम्भवतः यज्ञ शब्द के साथ अध्वर विशेषण कालान्तर में यज्ञ और अध्वर का पर्याय माना जाने लगा।

क्रतु

कर्म का वाचक क्रतु शब्द ऋग्वेद में यज्ञ का अभिधायक है। इन्द्र के लिए प्रायः शतक्रतोः सम्बोधन का प्रयोग हुआ है। भाष्यकारो ने इसका अर्थ बहुकर्मन् या बहुकर्मयुक्त

---

1 मैकडॉनल - वैदिक माइथोलोजी, पृ.11

2 अध्वरों वै यज्ञः श.बा.-3/5/3/17

3 निरुक्त-1.3

4 ऋक्-3/54/12

5 ऋक्-5/41

किया है।[1]

श्वेताश्वतर उपनिषद्[2] में भी क्रतु शब्द ज्योतिष्टोम आदि भागों का अभिधायक है। अर्थात् जिनमें यूप आदि का प्रयोग नहीं मिलता उससे सम्बन्धित क्रियाएं यज्ञ (क्रतु) है। मुण्डकोपनिषद् और श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी क्रतु शब्द यज्ञ का वाचक है।[3]

धर्म

धारणार्थक धृञ् धातु से मन् प्रत्यय के संयोग से धर्म या धर्मन् शब्द की निष्पत्ति होती है। जीवन मूल्यों के परिवर्तन के साथ इस शब्द का व्यवहार हुआ है। अन्ततः धर्म शब्द की परिणति मानवीय अधिकारों तथा कर्त्तव्यो के रुप में हुई।[4] कर्म करना सम्पूर्ण मानव जाति का धर्म है। अतः यज्ञ कर्म का पर्याय हुआ। जैमिनी ने मीमांसादर्शन[5] में धर्म की परिभाषा के प्रसंग में कहा है कि यज्ञ के अनुष्ठान करने की जिससे प्रेरणा मिले वही धर्म है। ऋग्वेद के प्रारम्भ में ही कहा गया है यज्ञ ही प्रथम धर्म है। यज्ञेन यज्ञं अजयन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्।[6]

धर्म के त्रिविध स्कन्धों में यज्ञ, अध्ययन और दान को प्रथम स्कन्ध कहा गया है।[7]

धर्म से पापों की विमुक्ति तथा उसी में सब कुछ की वरेण्यता का व्याख्यान आरण्यक ग्रन्थ करते हैं।[8] आरण्यकों की धर्मपरक यह दृष्टि उपनिषदों में अत्यन्त व्यापक

---

1 ऋग्-1/4/8-9 तथा 10/33/3 पर सायण तथा स्कन्दभाष्य, का. श्रौ. सू. 2/4/4

2 श्वे, उप. 4/9 शा.भा.

3 मुण्डक उप. 2/1/6, श्वे. उप.-4/4/9

4 धर्मशास्त्र का इतिहास; प्रथम खण्ड - पृष्ठ-3।

5 मीमांसा दर्शन-1/2 सूत्र भाष्य

6 ऋ. 1/164/50

7 छान्दोग्योपनिषद्-2/23/1।

8 धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठालोके धर्मिष्ठ प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वप्रतिष्ठितम् तस्माद् धर्मपरमम् वदन्ति। तै.आ. - 10-63-7

रूप में दृष्टिगोचर होती है। जहां धर्म को श्रेयो रूप[1] कहा गया है। इसका सृष्टा ब्रह्मा है। उसने उग्रवृतियों के प्रशमन तथा विभूतियुक्त कर्मों के सम्पादनार्थ ही इसे निर्मित किया था।

इस प्रकार आधारभूत दृष्टि से धर्म का शाश्वत् महत्व होते हुए भी व्यवहार पक्ष की दृष्टि से प्रत्येक युग में धर्म के किसी विशेष पक्ष या अंग का प्राधान्य रहा है। मनु भी इसीलिए विभिन्न युगों में क्रमशः तप, ज्ञान, यज्ञ तथा दान को युगधर्म के रूप में घोषित किया है -

अन्येकृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वायरेऽपरे।
अन्य कलियुगे नृणां युग ह्रासानुरुपतः।।
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।।[2]

उपासना - उपासना भी एक प्रकार का यज्ञ कर्म ही है। क्योंकि पाणिनि द्वारा यज्ञ के तीन अर्थ किये गये हैं।[3] जिनमें देवपूजा प्रथम है जिसका अभिप्राय है देवताओं की पूजा व उपासना अथवा सत्कारादि। सत्कार से तात्पर्य है किसी की अवस्था के अनुकूल अपनी अवस्था करना। अतः देव, परमात्मा अव्यक्त सत्ता के गुणों को धारण करने व अपने अन्दर देवत्व सम्पादन करने का नाम देवपूजा है।[4] उपासना भी यज्ञ है। शांकर भाष्य में मीमांसक शंकर कहते हैं कि वेद तो मात्र कर्म का प्रतिपादक है। कर्म के अतिरिक्त स्वतन्त्र रुप से किसी सिद्ध वस्तु का कथन नहीं है क्योंकि वेद को कर्म के अतिरिक्त मानना ठीक नहीं है इसलिए मीमांसक उपर्युक्त सन्दर्भ में वेदान्तियों को परामर्श देते हैं कि वेद के भाग वेदान्त वाक्यों को यज्ञ कर्ता के प्रतिपादन अथवा यज्ञ के ही अंग, देवता का प्रकाशक मानकर उन्हें यज्ञ का ही परिपोषक मानना चाहिए परन्तु यदि आप वेदान्तियों को कर्म से बहुत ही ग्लानि हो तो कर्म के स्थान पर उपासना आदि को वेदान्त वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित मान लें क्योंकि उपासना भी एक प्रकार का यज्ञीय कर्म ही है। वेदान्तियों और मीमांसको के

---

1 बृह.उप.-1/4/14

2 मनुस्मृति - 1/85-86

3 यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु - वै.सि.कौ. 3/3/90

4 वैदिक भारत में यज्ञ और उसका आध्यात्मिक स्वरुप-पृ.25-26

विवादात्मक सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि उपसना को भी यज्ञीय कर्म माना जा सकता है।[1] इससे उपासना शब्द भी यज्ञ का पर्याय सिद्ध होता है।

उपासना का व्युत्पतिपरक अर्थ भी यज्ञ के ही अभिप्राय का द्योतक है। उप+आस्+ल्युट्+टाप् से निष्पन्न होने वाले उपासना शब्द का व्युत्पतिपरक अर्थ है - पास बैठना। जब किसी वस्तु विशेष में किसी अन्य वस्तु की भावना की जाय तो उसे उपासना कहा जा सकता है। आरण्यकों तथा उपनिषदों में इस शैली का विशेष प्रयोग मिलता है। उपासना के विषय में आरण्यक तथा उपनिषदों में उपलब्ध स्वरुप का विश्लेषण करने पर उपासना के रूप द्वय उपस्थित होते हैं - इसका प्रथम रुप तब माना जाता है जब किसी वस्तु विशेष में किसी अन्य वस्तु अथवा भाव को आरोपित कर दिया जाता है और उस वस्तु विशेष को आरोपित भाव अथवा वस्तु का प्रतीक मान लिया जाता है। द्वितीय रुप में उपासना का अभिप्राय है कि वस्तु विशेष में भावना किये हुए भाव अथवा वस्तु का सतत् मनन। यह सतत् मनन भावित भाव अथवा वस्तु से उपासना करने वाले को तादात्म्य करा देता है। आरण्यक तथा उपनिषदों में इस उपासना के उपर्युक्त दोनों रुपों का विशद रुप से वर्णन मिलता है।[2]

यज्ञ के अनेकविध भेद -

यज्ञ के व्युत्पतिजन्य अर्थ एवम् पर्यायों के अध्ययन से मात्र यज्ञ एवम् यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त किये जाने वाले शब्दों का ही वर्णन उपलब्ध होता है।

महर्षि भारद्वाज[3] तथा महर्षि अङ्गिरा भी यज्ञ और महायज्ञ के इसी स्वरुप को स्पष्ट करते हैं।[4] किन्तु मनु यज्ञ और महायज्ञ को अन्तर्याग और बहिर्याग की संज्ञा देते हैं।[5]

महायज्ञ पांच माने गये हैं पञ्च महायज्ञ के सम्पादन की व्यवस्था वैदिक काल से ही

---

1 ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य - 1/1/4 समन्वयाधिकरण

2 छा.उप. 3/13/1-5, छा.-3/16/1-2, छा.-1/1/7-8, मु.उप.-1/2/25

3 यज्ञः कर्मसु कौशलम् 'समष्टि सम्बन्धात् महायज्ञः। यज्ञ मीमांसां-पृ.6

4 यज्ञमहायज्ञो व्यष्टि समष्टि सम्बन्धात् - यज्ञमीमांसा-पृ.6

5 मनुस्मृति - 84-87

चली आ रही है।[1] सभी धर्म ग्रन्थों में इसका वर्णन है।[2]

ब्रह्मयज्ञ

ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन किये जाने वाला वेदाध्ययन या स्वाध्याय है। देवों को जो दूध, घी, सोम आदि दिये जाते हैं उनकी और ऋचाओं, यजुषों, सामों और अथर्वाङिरसों की तुल्यता कही गई है। इन यज्ञों से मिलने वाले फल का निर्देश करते हुए कहा गया है कि देवता लोग प्रसन्न होकर ब्रह्मयज्ञ करने वाले की सुरक्षा, सम्पत्ति, आयु, बीज, सम्पूर्ण सत्व तथा सभी प्रकार के मंगलमय पदार्थ देते हैं और उसके पितरों को घी और मधु की धारा से सन्तुष्ट करते हैं।[3]

याज्ञवल्क्य स्मृति में समय एवम् योग्यता के अनुसार ब्रह्मयज्ञ में अथर्ववेद सहित वेदों के साथ इतिहास एवम् दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन को भी सम्मिलित कर लिया गया है।[4]

पितृयज्ञ --

माता-पितादि जीवित पितरों के लिए किया जाने वाला श्रद्धा-शुश्रुषापूर्वक अन्नदानादि पितृयज्ञ है। पितृयज्ञ तीन प्रकार से सम्पादित होता है। तर्पण द्वारा बलिहरण[5] द्वारा जिसमें बलि का शेषांश पितरों को दिया जाता है।[6]

प्रतिदिन के श्राद्ध में पिण्डदान नहीं होता है और न पार्वण श्राद्ध की विधि एवम्

---

1 भूतयज्ञों मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञों देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। शत.ब्रा.-11/5/5/1

2 (i) अध्यापनं ब्रह्म यज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमोदेवो बलिभूतो नृयज्ञो अतिथिपूजनम् ।। मनु.-3/70)।

(ii) आश्वायायन गृह्यसूत्र - 3/1/1

(iii) याज्ञवाल्कय स्मृति, आचाराध्याय-102, तै. आ. 2/10

3 धर्मशास्त्र का इतिहास - पी.वी. काणे, भाग-1, पृ.335

4 याज्ञवत्क्य स्मृति, आचाराध्याय-101

5 पृष्ठ वास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्व दक्षिणतो हरेत।। मनु. 3/9

6 कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदेकन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन।।
एकमप्याशयोद्विप्रं पित्रर्थं पाञ्य याजिके।।
न चैवात्राशयेत कञ्चिद् वैश्वदैव प्रति द्विजम्।। मनुस्मृति - 3/82-83)

नियमों का पालन ही होता है।

देवयज्ञ

देवयज्ञ का सम्पादन अग्नि में समिधा डालने से होता है।[1] धर्मशास्त्रों के अनुसार देवता का नाम लेकर 'स्वाहा' शब्द के उच्चारण के साथ अग्नि मे हवि या कम से कम एक समिधा डालना देव यज्ञ है मनु ने होम को देव यज्ञ कहा है।[2] सूर्य अग्नि होम के देव (सूर्य या अग्नि एवम् प्रजापति) सोम, वनस्पति, अग्नि एवम सोम, इन्द्र एवम् अग्नि, द्यौ एवम् पृथ्वी, धन्वन्तरी, इन्द्र, विश्वेदेवा और ब्रह्मादि देवयज्ञ के देवता है।[3] स्मृतियों ने होम एवम् देवपूजा में अन्तर बताया है।

याज्ञवल्क्य तर्पण तथा देवपूजा की चर्चा करने के उपरान्त पञ्चयज्ञों में होम को सम्मिलित करते हैं।[4] मनु ने ब्रह्मचारी के कर्तव्यों में नित्य स्नान, देवताओं ऋषियों तथा पितरों का सेवा-सत्कार तथा प्रातः एवम् सांयकाल हवन आदि का विधान किया है।[5]

वैश्वदेव - वैश्वदेव का अर्थ है। आश्रित पशु-पक्षियों को पक्वान्न देना। मनु ने उल्लेख किया है कि वैश्व देव बलि यदि सुरक्षित हो तो गृह्याग्नि में नहीं तो लौकिक अग्नि (साधारण अग्नि) में देना चाहिए। यदि अग्नि न हो तो इसे जल में या पृथ्वी पर छोड़ देना चाहिए।[6]

वैश्वदेव का तात्पर्य पारशर माधवीय तथा कुछ अन्य ग्रन्थों के अनुसार है प्रतिदिन के

---

1 तै.आ.-2/10

2 मनु.3/70

3 धर्मशास्त्र का इतिहास पी.वी. काणे - पृ.388

4 याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय-100

5 नित्य स्नात्वाशुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिधाधानमेव च।। मनु.-2/176)

6 वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च।। मनु.5/7

तीन यज्ञ अर्थात् देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवम् पितृयज्ञ। इसे वैश्व कहने का अभिप्रायः यही है कि इस कृत्य में सभी देवताओं को आहुतियां दी जाती हैं या इस कृत्य में सभी देवताओं के लिए भोजन पकाया जाता है।[1] मनु के अनुसार अग्नि, सोम, अग्नि सोम विश्वदेव धन्वन्तरी, कुहु, अनुमति, प्रजापति, द्यावापृथ्वी, (अग्नि) स्विष्टकृत्। शांख्यायन गृह्य सूत्र ने भी दस देवों के नाम दिये हैं।[2]

किन्तु ये नाम मनु द्वारा गिनाये गये नामों से भिन्न है।[3]

नृयज्ञ या मनुष्य यज्ञ - नृ यज्ञ से तात्पर्य है अतिथि का सत्कार या सम्मान करना। मनु[4], पाराशर[5] एवम् मार्कण्डेय पुराण[6] ने अतिथि की अलग-अलग व्युत्पति की है। मनु के मत से अतिथि उसे कहा जाता है जो पूरे दिन नहीं रुकता, जो एक रात्रि के लिए रुकता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने इसकी व्याख्या में कहा है कि वही व्यक्ति अतिथि है जो दूसरे ग्राम का है, एक ही रात्रि रहने के लिए सन्ध्याकाल में पहुंचता है। वह जो खाने के लिए पहले से ही आमन्त्रित है अतिथि नहीं कहलाता। अतिथि सत्कार गुण, कर्म के अनुसार होना चाहिए। तथा भोजन के समय कोई आ गया हो तो ब्राह्मण को भी वैश्य, शूद्रादि का यथा शक्ति भोजनादि से सत्कार करना चाहिए।[7]

धर्मशास्त्रों में अतिथि सत्कार के कुछ नियम भी बताये गये हैं जैसे आगे बढ़कर स्वागत करना - पैर धोने के लिए जल देना, आसन देना, दीपक जलाकर रख देना, भोजन

---

1 धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी. काणे, प्रथम खण्ड-पृ.404

2 वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः।।
कुहवै चेवानुमत्यै च प्रजापतय एव च।। मनु.-3/84, 86

3 शांख्यायन गृ.सू.-2/14/4

4 एकरात्रं तु निवसन्नतिथि ब्राह्मणः स्मृतः।

5 पाराशर स्मृति-1-42

6 मार्कण्डेय पुराण-29/2-9

7 न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते।
वैश्यशूद्रावपि प्राप्तो कुटुम्बेऽतिथि धर्मिणौ।। मनु.-3/110, 112

एवम् ठहरने का स्थान देना, व्यक्तिगत कुशलता पूछना, सोने के लिए बिस्तर देना, जाते समय कुछ दूर तक पहुंचा देना।[1]

और यदि कुछ भी न हो तो उसे जल, निवास, चटाई एवम् मीठी बोली से सम्मान करना चाहिए।[2]

उक्त निरुपण से यह स्पष्ट होता है कि अतिथि सत्कार के पीछे एकमात्र प्रेरक शक्ति सार्वभौम दया की भावना है।

यज्ञ के भेद

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में प्रधानतया यज्ञ के दो भेद हैं - स्मार्त एवम् श्रौत। स्मृति प्रतिपादित यज्ञों को स्मार्त तथा श्रुति प्रतिपादित यज्ञों को श्रौत यज्ञ कहते हैं।

(1) स्मार्त यज्ञ

स्मार्त यज्ञ को गृह्य यज्ञ, पाक यज्ञ अथवा होत्र भी कहा जाता है। स्मार्त यज्ञ श्रौत यज्ञों की अपेक्षा सरल है। उपनीत व्यक्ति ही इन यज्ञों को करने का अधिकारी है। प्रत्येक विवाहित व्यक्त के लिए स्मार्ताग्नि (आवसथ्याग्नि, ओपवसथ्याग्नि) के स्थापन का आदेश है। औपासन, होम वैश्वदेव पार्वण, अष्टका, मासिक श्राद्ध, श्रवणा तथा शूलमव ये सात स्मार्त यज्ञ के सात अवान्तर प्रकार है। कतिपय गृह्य सूत्रों में सांयहोम, प्रातर्होम, स्थालीपाक नवयज्ञ, वैश्वदेव, पितृयज्ञ, अष्टका आदि भेद गिनाये गये हैं।

तथा कई ग्रन्थो मे पंचावटी, पंचोदन सव, इन्दमहः, गंगामह और कशेरुयज्ञ को भी

---

1 सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्।। मनु.-3/99, आप.धर्म.सू.-2/3/6/7-15

2 तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सुनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन।। मनु.-3/101।

स्मार्त यज्ञ के भेदों में गिनाया गया है।[1]

(2) श्रौत यज्ञ

श्रौत यज्ञों का मूलतः सम्बन्ध ब्राह्मण ग्रन्थों से है। विधिपूर्वक दीक्षा लेने के उपरान्त ही मनुष्य श्रौत यज्ञ का अधिकारी होता है।

अधिकारी व्यक्ति के लिए अग्न्याधान करना आवश्यक है। जो पच्चीस से लेकर चालीस वर्ष की उम्र तक की उम्र वाले सपत्नीक व्यक्ति ही कर सकते हैं गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सम्याग्नि ये चार श्रौत अग्नि के स्वरूप है। उक्त अग्नियों में नाना होम द्रव्यों, आज्य, पृषदाज्य, पुरोडाश, चरु, सोम, सन्नम्य, आमिक्षा, वाजिन्, करम्भ, मन्थ, धाना आदि का प्रक्षेपण श्रौत यज्ञ है। श्रौत यज्ञ के भी दो भेद हैं - (क) हवि संस्था। (ख) सोम संस्था।

हविर्यज्ञ को इष्टि भी कहा है। शतपथ ब्राह्मण का प्रारम्भ ही हविर्यज्ञों की विधियों से होता है। इसके सात भेद हैं। 1. अग्निहोत्र, 2. अग्न्याधान, 3. दर्श, 4.पौर्णमास, 5. आग्रायण, 6. चातुर्मास्य, 7. पशुबन्ध। किन्तु लाटयायन श्रौत सूत्र में दर्श तथा पौर्णमास को एक ही यज्ञ मानकर सौत्रामणि को सात हविर्यज्ञों में गणित किया है।[2]

शतपथ के प्रथम काण्ड में दर्श पौर्णमास का पृथक् से विस्तृत विवरण है तथा द्वितीय काण्ड में अग्न्याधान, पुनराधेय, अग्निहोत्र, पिण्ड पितृयज्ञ, आग्रयणेष्टि दाक्षायण तथा चातुर्मास्य इन सात हवियज्ञों का विवरण है। इस काण्ड को 'एक पादिका' नाम दिया गया है। उक्त हविर्यज्ञों में अग्निहोत्र प्रकृति यज्ञ है। तथा अन्य यज्ञ इसकी विकृतियां हैं।

श्रौत यज्ञ की सोमसंस्था के भी सात अवान्तर भेद हैं। 1. अग्निष्टोम, 2. उक्थ्य, 3.

---

1 शतपथ ब्राह्मण एक सांस्कृतिक अध्ययन - डॉ. उर्मिला देवी शर्मा। पृ.45।

2 लाट्यायन श्रौ.सू.-5/4/10

षोडशी, 4. अतिरात्र, 5. अत्याग्निष्टोम, 6. वाजपेय और 7. आप्तोर्याम। सोमयज्ञों में त्रिविध अग्नि में सोम रस की आहुति दी जाती थी। सोम का त्रिषवण होता है – प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा सांय सावन। सवन कर्म के कारण सोम यज्ञों को 'सुत्या' भी कहा गया है।

यज्ञांगों के इन्हीं स्वरुप की चर्चा हम विस्तारभय से यहां नहीं करेंगे।

इस प्रकार यज्ञ के अर्थ, पर्यायों और भेदों का सामान्य सर्वेक्षण करते हुए आगे अध्यायों में राजसूय यज्ञ का विस्तृत वर्णन किया जा रहा है।

* * *

प्रथम अध्याय

राजसूय यज्ञ से सम्बन्धित सन्दर्भ ग्रन्थों का परिचय

मनुष्यों में धर्म की प्रधानता ही उनको पशुओं से अलग करती है। इसलिए कहा गया है – '*धर्मों ही तेषामधिको विशेषो धर्मेणहीनाः पशुभि समानाः*' प्राचीन भारतीय संस्कृति की यह एक प्रमुख विशेषता है कि इसमें धर्म को प्रधानता दी गई है और यहां तक माना गया है कि धर्म के बिना अर्थ और काम की सिद्धि-उपलब्धि सम्भव नहीं हो पाती है। पाश्चात्य संस्कृति की तरह इसमें भौतिक उन्नति को सर्वोपरि नहीं माना गया है[1] अपितु माना गया है कि धर्मपूर्वक आचरण करता हुआ व्यक्ति प्रत्येक ऐश्वर्य-अभ्युदय को प्राप्त करता है।[2] फलस्वरूप वैदिक संस्कृति में धार्मिक कर्मकाण्डों की बहुलता दृष्टिगोचर होती है इन धार्मिक कर्मों में यज्ञ को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है।[3] यज्ञ शब्द वैयाकरणों और नैरुक्त आचार्यों के मतानुसार देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थवाली यज् धातु से निष्पन होता है।[4]

तदनुसार जिस कर्म में देवो अग्न्यादि प्राकृतिक तत्त्वों का यथायोग्य गुण संवर्धन तथा प्रत्यक्ष देवों विद्वानों का पूजा सत्कार[5] संगतिकरण अग्न्यादि प्राकृतिक तत्त्वों के साथ यथायोग्य संगति, जिस से अनेकविध शिल्पकार्यों की सिद्धि होती है। तथा विद्वानों महात्मा-पुरुषों का संग, परब्रह्म के साथ आत्मा का संयोग वा प्राप्ति, अन्न, जल, वायु, आदि प्राकृतिक तत्त्वों की शुद्धि वा गुण संवर्धन के लिए अग्नि में घृत आदि उत्तमोत्तम सुगन्धित पुष्टिकारक आरोग्यवर्धक पदार्थों का त्याग तथा लोकस्थ प्राणियों के लाभ वा उत्कर्ष के लिए विद्या और धन आदि का विनियोग किया जाता है वे सब कर्म 'यज्ञ' शब्द

---

1 धनात् धर्मं ततः सुखम् ।। चाणक्य नीति ।

2 धर्मेण चरतां सत्ये नास्त्यनभ्युदयः क्वचित् ।

3 यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म । शतपथ ब्राह्मण - 1.7.1.5

4 यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजति कर्मा । (निरुक्त 3.2011) यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षोनङ्)। अष्टा. 3.3. 9011)

5 यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः तानि धर्मा प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त । यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवाः।। अथर्ववेद - 7.5.1-5 मन्त्र
ऋग्वेद-1.164.50

से परिगृहित होते हैं।[1] यज्ञ शब्द के इसी मूल अर्थ को लेकर लोक में यज्ञ शब्द का बहुधा प्रयोग देखा जाता है। भगवद्गीता[2] में द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि का उल्लेख मिलता है प्रकृत शोधग्रन्थ में जिस राजसूय यज्ञ का वर्णन किया है वह द्रव्ययज्ञ के अन्तर्गत आता है क्योंकि इस यज्ञ में सोद्देश्य घृतादि पदार्थों, द्रव्यों का अग्नि आदि में त्याग किया जाता है।[3] द्रव्ययज्ञ श्रौत और स्मार्त भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। जिन यज्ञों का श्रुति मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों में साक्षात् उल्लेख मिलता है वे श्रौत यज्ञ कहलाते हैं प्रकृत राजसूय यज्ञ भी श्रौत यज्ञों के अन्तर्गत आता है। और स्मार्त आदि यज्ञ वैदिक साहित्य में विस्तृत रूप में वर्णित है और यह सर्वविदित है कि वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों और गीता आदि में यज्ञ पर पर्याप्त बल दिया गया है। चाहे वह सोमयाग हो, अग्निष्टोम, दर्शपूर्णमास, ऋतुयज्ञ चातुर्मास्य आदि और अग्निहोत्रादि ही क्यों न हो। इन ग्रन्थों में विभिन्न यज्ञों का विस्तृत उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार वैदिक संस्कृति व साहित्य में यज्ञ को संसार का केन्द्र माना गया है।[4] स्पष्टतः यज्ञ वैदिक संस्कृति का आधार स्तम्भ है।

किन्तु कालक्रम से ये यज्ञीय कर्मकाण्ड अवसर एवम् उपलक्ष्य के अनुसार विविधता को प्राप्त होते गए और इनमें जटिलता भी दृष्टिगोचर होने लगी। किन्तु अंग-अंगीभाव से इन यज्ञों का वर्णन सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होता है। यज्ञ वैदिक साहित्य में प्राण रूप है। देश, काल के अनुसार इन यज्ञों का प्रक्रिया भेद से सम्पादन होता है ऐसे ही एक प्रख्यात यज्ञ राजसूय से सम्बधित सन्दर्भ ग्रन्थों का परिचय इस अध्याय में दिया जा रहा है। राजसूय यज्ञ अत्यन्त प्रसिद्ध यागों में गिना जाता है राजसूय शब्द की व्युत्पति दो प्रकार से दर्शाई जाती है।

---

1 यज्ञ शब्द का यही तात्पर्य ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद के अध्याय एक के दूसरे मन्त्र के भाष्य में लिखा है।

2 भगवद्गीता (4.28)

3 द्रव्यं देवतात्यागश्च कात्यायन श्रौ.सू. 1.2.2

4 अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।। अथर्ववेद 9.15.14

'राज्ञा सोतव्यः, राजा वा इह सूयते' अर्थात् राजा के द्वारा अभिषव के योग्य अथवा राजा (सोम) निचोड़ा जाता है इसमें अतः यह यज्ञ राजसूय नाम से पुकारा जाता है अभिषिक्त राजा ही इस याग के अनुष्ठान का अधिकारी बताया गया है।[1] युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का विवरण महाभारत[2] में उपलब्ध होता है पुराणों और शिलालेखों में भी इस यज्ञ को राजाओं द्वारा अनुष्ठित किये जाने का उल्लेख है। विभिन्न श्रौत ग्रन्थों में इस यज्ञ के विधियों, अनुष्ठानों में मतभेद है। किन्तु मुख्यतः कात्यायन श्रौत सूत्र अध्याय 15 में इस यज्ञ का विस्तृत वर्णन है। राजसूय यज्ञ में अनुमति आदि सैकड़ों इष्टियों तथा दर्विहोमों, मल्ह आदि पशुबन्धों और पवित्र आदि सोमयागों का अनुष्ठान किया जाता है। इन इष्टियों, पशु एवम् सोमयागों के समुदाय का नाम राजसूय है किन्तु इनका परस्पर अंगांगिभाव नहीं हैं सबका समप्रधान भाव है लगभग ढाई वर्ष के सुदीर्घ काल में यह यज्ञ सम्पन्न होता है।

अब हम इस यज्ञ से सम्बन्धित सन्दर्भ ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

(1) वेद - वेदमन्त्रों के विनियोग से राजसूय यज्ञ सम्पन्न होता है इस यज्ञ के कर्मकाण्डीय अनुष्ठान में जिन-जिन वेद मन्त्रों का विनियोग है उनका यहां वर्णन न करके केवल वेदों का सामान्य परिचय दिया जा रहा है। वेद का शाब्दिक अर्थ ज्ञान होता है। इस तरह वेद निश्चय रूप में अनन्त है। ज्ञान का कोई अन्त नहीं होता। परन्तु वेदों के परिचित प्रकार चार है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद है। वेदों को जब चार प्रकार का होना बताया जाता है तब इसका अर्थ यही है कि वैदिक मन्त्र चार प्रकार के ऋत्विकों के लिए विभक्त किए गए हैं। यज्ञ में होता नामक ऋत्विज के लिए ऋक् मन्त्रों की संहिता है। अध्वर्यु के लिए यजुष् के मन्त्रों की, उद्गाता के लिए साम मन्त्रों की संहिता है तथा ब्रह्मा नामक ऋत्विज के लिए अथर्व के मन्त्रों का संकलन अथर्ववेद संहिता में किया गया है। फलतः यहां वेद शब्द ग्रन्थ विशेष के लिए प्रयुक्त होता है। ऋक् संहिता चारों वेदों में सुविशाल है। जिनके द्वारा परमेश्वर की स्तुति की जाती है वह ऋचा कहलाती है[3] तथा ऐसी

---

[1] कात्यायन श्रौ. सूत्र 15.1.1

[2] सभापर्व अ. 35-37

[3] ऋच्यते स्तूयते यया सा ऋक्। तादृशीनामृचाम् समूह एव ऋग्वेदः।। शाब्दिक निर्वचन

ऋचाओं के समूह को ऋग्वेद कहते हैं। तथा मीमांसकों के मत में जहाँ अर्थ के अनुसार पाद व्यवस्था की जाए वह भी ऋक् शब्द से अभिहित है। चारों वेदों में ऋग्वेद का गौरव सुप्रसिद्ध है। ऋग्वेद धार्मिक स्तोत्रों का विशाल खजाना है। इसमें परमेश्वर को विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हुए सुललित भावों के द्वारा सादर ईशस्तुति की गई है। पाश्चात्य एवम् कुछ भारतीय विद्वानों के मत में ऋग्वेद अन्य वेदों की तुलना में सर्वाधिक प्राचीन है। किन्तु स्वामी दयानन्द के मत में तो वेद ईश-कृत अनादि ज्ञान है। किन्तु सभी के मत में ऋग्वेद की पावनता सर्वत्र स्वीकार्य है।

तैतिरीय संहिता के अनुसार यज्ञ का जो विधान सामवेद, यजुर्वेद से किया जाता है वह शिथिल होता है। किन्तु ऋग्वेद में विहित अनुष्ठान दृढ़ होता है।[1] पुरुष सूक्त में चारों वेदों की उत्पत्ति यज्ञरूपी परमेश्वर के द्वारा हुई है ऐसा माना जाता है।[2]

ऋग्वेद का विभाग विस्तृत है यद्यपि महर्षि पतञ्जलि महाभाष्य में ऋग्वेद की 21 शाखाओं का उल्लेख करते हैं। परन्तु शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन और माण्डूकायन नामक शाखाएं मुख्य है। यह ऋग्वेद सूक्त-मण्डल भेद से द्विधा विभक्त है। मन्त्रों की संख्या शाकल ऋषि के अनुसार 10467 तथा शौनक ऋषि के अनुसार 10580 है। यह भेद खिलभेदादि से माना है।[3] सम्पूर्ण ऋग्वेद संहिता दशमण्डलों में विभक्त है।

ऋग्वेद का विषय विवेचन - ऋग्वेद धार्मिक ईश स्तोत्रों का सुविशाल निधि है। दार्शनिक तथ्यों का मूल स्रोत है। इसमें नासदीय सूक्त, पुरुष सूक्त हिरण्यगर्भसूक्त। नासदीय सूक्त के विषय में विज्ञ विद्वानों का मत है कि यह सूक्त सृष्टि रचना विषयक चिन्तन धारा का मौलिक परिचायक है विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऋग्वेद में परमेश्वर को केवल द्रष्टा माना है। कर्म जीवात्मा करता है तथा त्रेतवाद की पुष्टि तथा अद्वैतवाद का खण्डन मिलता है।[4] इसी प्रकार श्रद्धा, मन्यु, भ्रातृभाव, विश्वबन्धुत्व आदि मानवीय श्रेष्ठभावों का

---

1 यद्वै यज्ञस्य सामना यजुषा क्रियते शिथिलं तत्, यदृचा तत् दृढम् इति। तै.सं.-6.5.10.3

2 यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जजिरे। छन्दांसि जजिरे तस्मात् यजुस्तस्मात् अजायत।। पुरुष सूक्त?

3 ऋचां दशसहस्राणि .... सम्प्रकीर्तितम्। अनुवाकानुक्रमणी।।

4 द्वा सुपर्णा सयुजा सखाय.ऋग्वेद-1.169

वर्णन भी मिलता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में श्रद्धा सूक्त है। यथा – 'श्रद्धया अग्नि समिध्यते श्रद्धया हूयते हवि'। वाक् सूक्त[1] में तो यहां तक लिखा है कि 'श्रुधिरुत श्रद्धद्विवं ते वदानि' यहां सायण श्रद्धद्विवम् का अर्थ 'श्रद्धाबलेन लभ्यम् ब्रह्मात्मकं वस्तु' करते हैं। अर्थात् श्रद्धा से परमेश्वर ज्ञात होता है उपलब्ध होता है। इसी प्रकार दशम मण्डल[2] के पुरुष सूक्त में परमेश्वर का भव्य वर्णन है।[3] वह सबका शासक है इसी सूक्त में सृष्टि का प्रादुर्भाव यज्ञीय है इसका परिचय मिलता है।

(क) ऋग्वेद

इसी प्रकार यमयमी, सरमापाणि आदि संवाद सूक्तों के माध्यम से गम्भीर विषयो का सरलतापूर्वक विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में त्याज्य कर्मों का वर्णन भी मिलता है। यथा द्युतकरस्य विषादं[4] नाम्ना सूक्त में द्युत में पराजित जुआरी की दयनीय स्थिति का वर्णन है[5]और 13वें मन्त्र में जुआ न खेलने तथा कृषि करने का उल्लेख है।[6]

'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना भी ऋग्वेद में दर्शनीय है। तथा त्यागपूर्वक उपभोग का निर्देश है – यथा 'न स सखायो न ददाति सख्यै' अधिक क्या यज्ञ के विषय में कर्मकाण्डीय व्यवस्था सम्पादन में भी ऋग्वेद का अत्यन्त महत्व है। यज्ञ सम्पादक चार प्रकार से होता है तथा ब्रह्मा आदि ऋत्विजों का भेदोल्लेख स्पष्टत: एक मन्त्र[7] में मिलता है। ऋग्वेद के पहले मन्त्र[8] से ही पता चलता है कि यज्ञीय सन्दर्भ में ऋग्वेद का कितना महत्वपूर्ण स्थान है।

---

[1] गृह.–10.145

[2] ऋ., 10.900

[3] पुरुष एव इदं सर्वं यद् भूतं यच्चभाव्यम्।। ऋ. पु. सु. 10

[4] ऋ.,10.34

[5] पितामाताभ्रातारम् एवम् आहुर्न जानीयों नयता बद्धम् एतत्।।

[6] अक्षैर्मा दीव्य: कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमान:

[7] ऋ., 10.71.11

[8] अग्निमीडे पुरोहितम्। यजस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।। ऋग्वेद – 1.1.1

(ख) यजुर्वेद

यजुर्वेद में सभी प्रकार के यज्ञयागादी का स्पष्ट वर्णन विद्यमान है। यजुस् शब्द यज् धातु में उसि अर्थात् उस् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। यजुस् शब्द के अर्थ यजन, पूजन और संगतिकरण होता है।[1] यजन, पूजन तथा क्रियात्मक विधान में जिन मन्त्रों का प्रयोग होता है उनका संकलन यजुर्वेद है। यज्ञ का क्रियात्मक अनुष्ठान अध्वर्यु द्वारा होता है। यजन में ऋग्वेद का होता ऋचाओं के पाठ से उपयुक्त देवों का आह्वान या स्तुति करता है तो यजुर्वेद से सम्बन्धित मन्त्रों से अध्वर्यु यज्ञानुष्ठान करता हैं होता हार्दिक भक्ति से देवों का स्तवन मन्त्रों द्वारा करता है तो यजुर्वेदीय अध्वर्युः यजुषों का उपांशु रूप से उच्चारण करता हुआ याज्ञिक कर्मों का सम्पादन करता है एक में भाव की प्रधानता है तो दूसरे में कर्म की। इसलिए ऋग्वेद भक्ति प्रधान है तो यजुर्वेद कर्म प्रधान है। यज्ञीय कर्म में ऋक् और साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का नाम भी यजुः है।[2] जिन मन्त्रों का अन्त अनियमित अन्तिम अक्षरों से होता हो उसे भी यजुः कहते हैं।[3] यजुर्वेद के मन्त्रों में मन्त्राक्षरों में वृद्धि होना है। ऋग्वेद की ऋचाएं पादबद्ध है। इसलिए उनमें अक्षर नियत ही होते हैं। सामवेद के मन्त्र स्वरबद्ध है उनमें भी अक्षर नियत ही होते हैं। फिर भी यजुर्वेद के मन्त्रों में ऐसा स्वर सामञ्जस्य प्राप्त होता है। जिससे यजुर्वेद के गद्यबन्ध में काव्यात्मकता और लयात्मकता सुरक्षित है।

यजन वेद के रूप में यजुर्वेद का वैशिष्ट्य सर्वाधिक है। वेद प्रतिपाद्य यज्ञ के प्राण यदि ऋचाएं हैं और साम उसका नाद तो यजुर्मन्त्र प्राण नाद और शरीर तीनों हैं।

भेद – यजुर्वेद के दो भेद होते हैं और एक सौ एक शाखाएं हैं। कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद। इसमें 40 अध्याय हैं। जहां मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का मिश्रीभाव किया गया है। वह कृष्णयजुर्वेद इस नाम से तथा जहां केवल मन्त्रों का ही विशुद्ध रूप में प्रतिष्ठान किया गया वह शुक्ल यजुर्वेद के नाम से जाना जाता है। शुक्ल यजुर्वेद की दो ही शाखाएं

---

1 यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु।। पाणिनि, धातुपाठ

2 गद्यात्मकों यजुः

3 अनियमिताक्षरावसानो यजुः

हैं। वे माध्यन्दिन और काण्व नाम से जानी जाती है। कृष्ण यजुर्वेद की 85 शाखाओं में से अब केवल चार शाखाएं उपलब्ध होती है।

कृष्ण चजुर्वेद की प्रधान शाखा तैतिरीय है। तैतिरीय शाखा का साहित्यिक महत्व आत्यधिक है। तैतिरीय संहिता बृहत कलेवर वाला ग्रन्थ है। अनेक विद्वानों के प्रामाणिक भाष्य इस पर मिलते हैं इसमें पौरोडाश, यजमान, वाजपेय, राजसूय आदि याज्ञिक अनुष्ठानों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। 1914-15 ई. में कीथ ने इस संहिता का प्रामाणिक अंग्रेजी रूपान्तरण प्रकाशित किया।

मैत्रायणी संहिता भी तैतिरीय की तरह गद्य-पद्यात्मक है। इस संहिता में 4 काण्ड 545 प्रपाठक तथा 3114 मन्त्र है। और दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, वाजपेय, अश्वमेध, राजसूय, सौत्रामणी आदि यज्ञों का विधान विवेचित है।

कठ संहिता

यजुर्वेद की 27 शाखाओं में कठ शाखा एक प्रमुख स्थान रखती है। प्राचीन काल में कठ संहिता का पठन - पाठन घर-घर में था ऐसा महर्षि पतञ्जलि का कहना है।[1] कठ संहिता के पांच खण्ड है। और इनके नाम क्रमशः इठिमिका, मध्यमिका ओरिमिका, याज्योनुवाक्या और अश्वमेहतधनुवचन हैं। ये नाम वैदिक साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। इनके खण्डों का नाम स्थानक है। इठिमिका के अठारहवें स्थानक में पुरोडाश, अध्वर, पशुबन्ध वाजपेय राजसूय आदि यागों का विस्तृत वर्णन है। इस संहिता के अन्तिम भाग में दर्शपौर्णमोस, अग्निष्टोम, अग्निहोत्र, आधान, काम्य इष्टि निरूढपशुबन्ध, वाजपेय, राजसूय अग्निचयन चातुर्मास्य सौत्रामणी अश्वमेधादि यज्ञों का विशिष्ट विधान के साथ वर्णन है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद की कपिष्ठल संहिता जिसका उल्लेख महावैयाकरण पाणिनि महर्षि ने कपिष्ठलो गोत्रे[2] इस सूत्र में किया है। सम्प्रति यह शाखा पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं है।

---

[1] ग्रामे-ग्रामे काठके कालापके च प्रोच्यते। महाभाष्य - 4.3.101॥

[2] अष्टाध्यायी

(ग) सामवेद

चारों संहिताओं में सामवेद परम गौरवशाली है। जैसे गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि वेदों में मैं सामवेद हूँ।[1] इसी प्रकार बृहद्देवता में भी कहा गया है कि जो सामवेद को जानता है वह तत्ववित् है (सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्।) इत्यादि कथन सामवेद की महिमा का गान कर रहे हैं। इस वेद का उद्देश्य है गानपूर्वक उपासना। ऋचाओं की गीतिमता ही सामवेद है। ऋचाओं का गेयरूप ही साम है। वस्तुतः साम कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है ऋचाओं की गीतिमता ही साम है। इसलिए सामवेद के अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद के ही है। साम संहिता में उपलब्ध 1875 मन्त्रों में से 1771 ऋचाएं ऋग्वेद की है। अवशिष्ट 104 में 5 पुनरुक्त है। इस प्रकार सामवेद में केवल 99 मन्त्र ही हैं। सामशब्द 'सो' धातु से (उणादि) मनिन् प्रत्यय के योग से बनता है।

साम शब्द की सटीक निरुक्ति बृहदारण्यक उपनिषद् में दी गई है।[2] यहां सा सर्वनाम पद ऋचा के लिए प्रयुक्त है और अमशब्द का अर्थ है गान्धार आदि षड्ज स्वर। अतः साम शब्द का व्युत्पति मूल अर्थ हुआ स्वर प्रधान गायनोपयोगी ऋक् मन्त्रों का संकलन। जैमिनीय सूत्र 'गीतिषु सामाख्या' भी इसी तथ्य का निरूपण करता है। सामवेद का प्रधान लक्ष्य यज्ञकाल में भक्तिभाव से विह्वल होकर परमात्मा और उसकी विभूतियों का समताललय के साथ गुणगान करना सामवेदियों का प्रधान लक्ष्य था। सामगान करने वाले को 'उद्गाता' और उसके गायन कार्य को 'औद्गात्र' कहा जाता है। यज्ञ के समय देवताओं का आह्वान गेय स्वरों में मन्त्रों को गाकर उद्गाता करता हैं सामवेद के अधिकांश मन्त्र गायत्री एवम् प्रगाय छन्दों में है।

शाखाएं - सामवेद की अनेक शाखाएं हैं। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार सामवेद की एक सौ शाखाएं हैं।[3] सम्प्रति सामवेद की तीन शाखाएं उपलब्ध है। कौथुमी राणायनीय तथा जैमिनीय। इनमें कौथुमी, शाखा विशेष प्रसिद्ध है। इसी कौथुमी शाखा पर सायण का भाष्य है। कौथुमी

---

1. वेदानां सामवेदोऽस्मि - भगवद् गीता - 10.12
2. सा च अमश्चेति तत्सामानः सामत्वम्, बृ.उ. 1.3.22
3. एकशतम् अध्वर्यु शाखा, महाभाष्य - पस्पशाह्निक।।

शाखा के दो भाग है। - पूर्वार्चिक और उतरार्चिका पूर्वाचिक में गेय और आख्यक सामगान हैं तथा उत्तरार्चिक में 400 सामगीत हैं जो ऊह और ऊहन नाम के सामगान है।

सामवेद में सोम की बहुत महिमा गाई गई है। जैसे कि एक स्थान पर लिखा है जिसने सोम का पान किया उसे अमरत्व मिल गया उसके शरीर में अनुपम स्फूर्ति आ गई, मन में अभिनव उल्लास उत्पन्न हो गया।[1]

(घ) अथर्ववेद

अथर्ववेद के उपलब्ध अनेक नामों में अथर्ववेद, ब्रह्मवेद, अंगिरोवेद - अथर्वाङ्गिरस वेदादि नाम मुख्य है। अथर्व शब्द की व्याख्या तथा उसका निर्ववचन निरुक्त में तथा गोपब्राह्मण में मिलता है। 'थर्व' धातु कौटिल्यार्थक तथा हिंसा वाचक है इसलिए अथर्वा का अर्थ होता है अकुटिल वृति से या अहिंसक वृति से मन की शान्ति स्थिरता प्राप्त करने वाला व्यक्ति और ऐसे व्यक्ति के द्वारा दृष्ट मन्त्रसमूह अथर्ववेद।

अथर्वाङ्गिरस नामकरण इस वेद की दो धाराओं के कारण पड़ा प्रतीत होता है। इस वेद में अथर्व शान्ति पुष्टिकारक मन्त्र समूह है तथा द्वितीय अङ्गिरस अभिचारक कर्म से सम्बन्धित है।[2] राजा के लिए अथर्ववेद के गान की महती आवश्यकता मानी गई है क्योंकि राजा को राज्य में शान्ति तथा शत्रु विनाश दोनों की जरूरत होती है और यही कारण रहा कि राजपुरोहितों का अथर्ववेत्ता होना श्रेष्ठ माना गया।[3] यहां राजपुरोहित वशिष्ठ को अथर्ववेता कहकर सम्बोधित किया गया है।)

अथर्ववेद में 20 काण्ड है जिनमें 731 सूक्त तथा 5987 ऋचाओं का संग्रह है। भिन्न-भिन्न संस्करणों में यह संख्या घट और बढ़ भी सकती है। 20 काण्ड प्रपाठकों तथा अनुवाकों में विभक्त है। सब मिलाकर 34 प्रपाठक और 111 अनुवाक उपलब्ध होते हैं।

---

1 पवमानो - अजीनत् विश्ववित्रम् न तन्युतम्। ज्योतिवैश्वानरम् बृहत् . परिस्वानाश इन्दवो ----, 5.2. 8-3

2 तत्र अपर्वेणेऽदात् शान्रितम् यथा यज्ञो वितयते। भागवत 3.24.24

3 रघुवंश - 1.59 तथा 8.3

अथर्ववेद संहिता विषयवस्तु और आकार की दृष्टि से विषसयम है। प्रथम सात काण्डों में अभ्युदय से सम्बन्धित मन्त्र है। अष्ट्म से लेकर द्वादश काण्ड तक आध्यात्मक सम्बन्धित है और त्रयोदश से नितम काण्ड तक विषय प्रकीर्ण और बहुविध है। इस भाग में श्रौत और स्मार्त दोनों भावों का सम्मिलन प्रतीत होता है। आकार की दृष्टि से प्रथम दो चरण लघु कायिक हैं। जबकि तृतीय चरण बृहत्कायिक है।

प्रारम्भिक दो काण्डों में ज्वरोपचार आदि चिकित्सा सम्बन्धि मन्त्र है। सातवें काण्ड में विजय प्राप्ति का प्रकरण है। आठवें काण्ड में मृत्युञ्जय मन्त्र दिए हुए हैं। एकादश काण्ड में ब्राह्मचर्य की महिमा का वर्णन है। द्वादश काण्ड में प्रख्यात 'भूमिसूक्त' है। इसमें पृथ्वी की महत्ता का वर्णन है और सैंकड़ों औषधि वनस्पतियों का वर्णन है। धतुर्दश में विवाह प्रकरण पञ्चदश में यज्ञ सम्पादन का आध्यात्मिक वर्णन है। सोलहवें काण्ड में धनार्जन, आयु और अरोग्य अर्जन के विविध उपाय वर्णित है। उन्नीसवें काण्ड में राजसूय यज्ञ वर्णित है। इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अथर्ववेद विविधताओं का वेद है।

शाखाएं

महर्षि पतञ्जलि महाभाष्य में अथर्ववेद की 9 शाखाओं का उल्लेख करते हैं।[1] किन्तु आजकल शौनक और पैप्पलाद दो शाखाएं ही प्राप्त होती है। इन दोनों में शौनक सर्वाधिक प्रचलित और सुप्रसिद्ध है। इस वेद का एकमात्र ब्राह्मण ग्रन्थ, गोपथ ब्राह्मण भी इसी शाखा से सम्बन्धित है।

दूसरी शाखा पैप्पलाद की है। पैप्पलाद और शौनक संहिताओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। पैप्पलाद में कुछ मन्त्रो की अधिकता तथा किञ्चिद् पाठान्तर ही प्राप्त होता है।

अथर्ववेद का ऋत्विक ब्रह्मा है वही सोमयज्ञ का विधायक है। सोम अमृत (जीवन) का पर्याय है। आनन्द और शान्ति का प्रतीक है।

---

[1] नवधाऽथर्वणो वेदः - पस्पशाह्निक महा.भा. ।।

अथर्ववेद में शल्य चिकित्सा की विधियां अपने आप में अद्‌भुत है। जगह-जगह पर शल्य चिकित्सा सम्बन्धित वैज्ञानिक (विज्ञान सम्मत) निर्देश देखकर आधुनिक शल्य चिकित्सक भी मुग्ध रह जाते हैं।[1]

अथर्ववेद में वर्णित प्रेम, समत्व भाव आदर्श एवम् अनुकरणीय है।[2]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अथर्ववेदक लोकसिद्धि प्रदायक वेद है।

II. ब्राह्मण ग्रन्थ

लोक में प्रचलित ब्राह्मण शब्द वर्ण वाचक है किन्तु यहां ब्राह्मण शब्द ग्रन्थवाची है। मेदिनी कोश के अनुसार वेद भाग का सूचक ब्राह्मण शब्द नपुंसक लिंग में ही प्रयुक्त होता है।[3]

महर्षि पाणिनि ग्रन्थ अर्थ में ब्राह्मण शब्द का स्पष्ट उल्लेख करते हैं।[4] इसी प्रकार निरुक्त में (4/27) तथा शतपथ ब्राह्मण[5] में विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों के लिए वेद शब्द का प्रयोग भी किया है।[6] वैसे मन्त्रों के समूह का नाम संहिता है, जिसके अन्तर्गत ऋक्, यजुः साम और अथर्व आते हैं - ब्राह्मण संहिता का व्याख्यान है।[7]

इस कथन से यह सिद्ध होता है कि वेद द्विविध है पहला मन्त्ररूप तथा दूसरा ब्राह्मण रूप। प्रत्येक वेद की शाखा के अनुसार ब्राह्मणग्रन्थ भिन्न-भिन्न है।

---

1 प्रथम काण्ड अनुवाक 3 में
2 अथर्व - 3-30-3, अनुव्रतः पिता पुत्र..., 3-30-33
3 ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्। मेदिनीकोश ॥
4 अष्टाध्यायी-3.4.36
5 शत. 4.6.9.20
6 मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् आपस्तम्ब सूत्र 31 ॥
7 भट्ट भास्कर व.सं.1.5.10 ब्राह्मण नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यान ग्रन्थः ॥

वेदशेषभूत ये ब्राह्मण ग्रन्थ विभिन्न यज्ञों के अनुष्ठानों का विस्तृत वर्णन करते हैं। स्थूल रूप में हम कह सकते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ के अनुष्ठान के अवसर पर प्रयोग में आने वाले वेदमन्त्रो की व्याख्या है। किन्तु मन्त्र ही आदि में प्रादुर्भत है।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों का मूल प्रतिपाद्य विषय यज्ञविषयक कर्म काण्ड ही है। इनमें यज्ञ का क्रियात्मक विधान है। वेदी किस आकृति की होनी चाहिए, कब और कैसे मन्त्रोच्चारण तथा अग्नि प्रज्वलित करनी है। यज्ञीय पात्र कैसे होने चाहिए उनका कब-कब उपयोग करना है। यजमान तथा ब्रह्मा आदि ऋत्विजों को किस दिशा में बैठना है। तथा उनके क्या-क्या कर्म है और उनका आचरण कैसे होना चाहिए। किस समय किन-किन मन्त्रों का यज्ञ में विनियोग होगा। इत्यादि विषयों का ब्राह्मण ग्रन्थों में व्याख्यान किया गया है। हम यह भी कह सकते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान उद्देश्य वेदो की कर्मकाण्डीय मीमांसा प्रस्तुत करना है। ये ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्र संहिताओं का अर्थ प्रतिपादन करने वाले उनके अभिप्राय को स्पष्ट करने वाले तथा समस्त वेद मन्त्रों को याज्ञिक कर्मों में विनियुक्त करने वाले हैं। इस प्रकार ब्राह्मण ब्रह्म वेदार्थ विवेचन के साथ-साथ यज्ञानुष्ठान विद्या है। इनमें यज्ञों के भेद, उपभेद, विधियां तथा फल वर्णित है।

प्रत्येक वेद के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थ भिन्न-भिन्न है। सम्भवतः जितनी शाखाएं थी, उतने ही ब्राह्मण थे। किन्तु आजकल 1130 ब्राह्मणों में 18 ही अवशिष्ट है। शेष विदेशी आक्रान्ताओ ने नष्ट कर दिए तथा काल कवलित हो गए। पतञ्जलि महाभाष्य आदि परवर्ती ग्रन्थों में अनुपलब्ध ब्राह्मणों के कुछ निर्देश मिलते हैं।

उपलब्ध ब्राह्मणों में ऋग्वेद के ऐतरेय, कौशीतकी अथवा शांखायन, कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय, शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ, सामवेद के ताण्ड्य (पञ्चविंश) और जैमिनीय (तलवकार) तथा अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण मुख्य है।

---

1 आचार्य सायण, तै.सं. भाष्यभूमिका - यद्यपि मन्त्र ब्राह्मणाप्तक का वेदन्त तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यान रूपत्वात् मन्त्राः एवादौ समाम्नाताः ।।

ब्राह्मण साहित्य मुख्यतया गद्य रूप में हैं। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में सरस, सरल गीत, कथा, आख्यान भी मिलते हैं जैसे कि ऐतरेय ब्राह्मण[1] में वर्णित श्रम-गीत (नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति---- चरैवेति - चरैवेति)॥

संक्षेप में हम कह सकते हैं ब्राह्मण ग्रन्थों का सार्वभौमिक सार्वकालिक सन्देश कर्म की ज्ञानपूर्वक सिद्धि है।

III. आरण्यक और उपनिषद्

आरण्यक और उपनिषद ब्राह्मण वाङ्मय के परिशिष्ट रूप है। आरण्यक ब्राह्मण का चरम रूप है तो उपनिषदों को हम सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का सार कह सकते हैं। मन्त्र संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ दोनों को श्रुति की संज्ञा दी गई है। आरण्यक और उपनिषद दोनों वेद के अन्तिम भाग है। इसलिए इन दोनों को वेदान्त भी कहते हैं।

ब्राह्मणो ग्रन्थों में यज्ञीय कर्म काण्ड का व्याख्यान एवम् ऋचाओं का यज्ञों में कब कैसे विनियोग करना है आदि व्याख्यात है। अर्थात् इनका मुख्य विषय यज्ञानुष्ठान और कर्मकाण्ड की विधियों का विधिविधान है जबकि आरण्यक ग्रन्थ इनका परिशिष्ट रूप है किन्तु आरण्यकों में यज्ञानुष्ठानों के कर्मकाण्डीय विधि विधान प्रतिपाद्य विषय नहीं है अपितु आरण्यक ग्रन्थों में यज्ञों के गूढ़ और लाक्षणिक विवेचन के साथ दार्शनिकता को प्रतिष्ठित करना है। इसलिए कहा जाता है कि ब्राह्मण यदि यज्ञ विद्या है, तो आरण्यक रहस्य विद्या है। प्रथम दृष्ट्या लगता है कि अरण्य-घनघोर जंगलों में रहने वाले चिन्तनशील वामप्रस्थाश्रमी मुमुक्षुओं ने आरण्यक ग्रन्थों की रचना की है। सायण भी इसकी पुष्टि करते हैं।[2]

इसी प्रकार आरण्यक शब्द का व्युत्पतिपरक अर्थ भी ऐसा ही है - 'अरण्य एव पाठ्यत्वात् आरण्यकम् इतीर्यते।' अरण्यक रहस्य का द्योतक तो होता ही है।

---

1 एतरेय प्रपा.7.15

2 तैतिरीयारण्यक भाष्य

शतपथ ब्राह्मण के 14वें मण्डल में प्रथम अध्याय में आरण्यकों का सम्भवतः प्रथम उल्लेख है। काल क्रम से आरण्यकों में उपनिषद दर्शन शुरु हुआ और पश्चात् स्वतन्त्र उपनिषद् साहित्य के रूप में विख्यात हुआ ये दोनों परस्पर संश्लिष्ट है। जिसके कारण किसी एक का स्वतन्त्र विवेचन सम्भव नहीं है। फिर भी हम कह सकते हैं कि आरण्यक रहस्य विद्या है तो उपनिषद सरल ब्रह्मविद्या है किन्तु दार्शनिकता दोनों में है।

संहिता शाखाओं व ब्राह्मण ग्रन्थों के समान आरण्यको की संख्या 1131 होनी चाहिए थी किन्तु वर्तमान में केवल 7 ही उपलब्ध होतें हैं। जिनमें प्रथम ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण से ऐतरेयारण्यक है और इसी वेद की शाखायन संहिता से सम्बद्ध शांखायनारण्यक है। इसी प्रकार कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत तैतिरीय ब्राह्मण का तैतिरीयारण्याक है तथा शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण का एक अंश बृहदारण्यक नाम से सुप्रसिद्ध है। ऐसे ही सामवेद की जैमिनीय शाखान्तर्गत जैमिनीय आरण्यक, ब्राह्मण और उपनिषद् इन तीनों का समन्वित रूप है। अथर्ववेदीय कोई भी आरण्यक सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। इन आरण्यकों में यज्ञ से सम्बन्धित आरण्यक ऐतरेय आरण्यक, तैतिरीय आरण्यक और जैमिनीय आरण्यक तीन प्रमुखतया उल्लेखनीय है। और इन तीनों में भी ऐतरेय का महत्व सर्वाधिक है ऐतेरयारण्यक में अठारह अध्याय है जो कि पांच भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में प्रातः सावन, माध्यान्दिन सवन, सांय सवन और महाव्रतादि यज्ञीय वर्णन है।

यजुर्वेद के तैत्तिरीयाख्यक में 10 प्रपाठक है। अन्तिम प्रपाठक में याज्ञिक क्रियाओं का दार्शनिक पक्ष उद्घाटित है। और यज्ञोपवति का महत्व उल्लिखित है।[1]

सामवेदीय जैमिनीपरणयक में सामवेद के यज्ञीय विनियुक्त मन्त्रों की दार्शनिक दृष्ट्या मीमांसा की गई है। इन आरण्यकों में ऐसा नहीं है कि केवल यज्ञीय विवेचन ही मिलता है। यज्ञानुष्ठान का भी वर्णन मिलता है। इन आरण्यकों में प्राण को बहुत महत्ता प्रदान की गई है।[2]

---

1 प्रसूता वै यज्ञापवीतिनो यज्ञः। यत्किमस्य ब्राह्मणों यज्ञापवीत्यधीते यजते एतावत्।।

2 सर्वा ऋचः सर्वे वेदा सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण इत्येव विद्यात्-ए.आ. 2-2-10

IV. उपनिषद्

उपनिषद् शब्द उप+नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु में क्विप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। इसका मुख्य अर्थ होता है समीप में निश्चित या निष्ठा से बैठना। इस मुख्य अर्थ के आधार पर विद्वानों ने उपनिषद् शब्द का अर्थ आचार्य के पास बैठकर जिस ज्ञान को शिष्यों ने प्राप्त किया, वह उपनिषद् विद्या है। शाब्दिक दृष्टि से सद् धातु के (सदलृ विशरणगत्यावसादनेषु) विनाश, गति तथा अवसादन (शैथिल्य) आदि अर्थ है। तदनुसार पारिभाषिक अर्थ होते हैं जिससे अविद्या का नाश होता है जिससे मुमुक्षुओं को गति मिलती हो तथा ऐसी विद्या जिससे सांसारिक बंन्धन शिथिल हो जाते हो। इस प्रकार उपनिषद् ब्रह्म विद्या है। ब्रह्मविद्या वेद विद्या का अन्तिम रूप है। जिस कारण इसे वेदान्त भी कहते हैं। यह उपनिषद् वेदान्त या वेदो का सार है।

प्राचीनता, श्रेष्ठता और ऋषि कृतित्व की दृष्टि से महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने एकादश उपनिषदों को प्रामाणिक माना है।[1]

वैसे उपनिषदों की संख्या 220 तक चली गई है। किन्तु इनमें से अधिकांश अप्रामाणिक और साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित होकर लिखी गई है। इनमें प्रमुख ऋग्वेद से सम्बन्धित ऐतरयोपनिषद्। यजु से सम्बन्धित तैतिरीय, कठ और श्वेताश्वतर। सामवेद से सम्बद्ध छान्दोग्य तथा केन। और अथर्ववेद से सम्बन्धित प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्योपनिषद् प्रमुख है। इन उपनिषदों की रचना शैली में भिन्नता है। कुछ गद्य में है तो कुछ गद्य-गद्य दोनों में रचित है। उपनिषदों में प्राचीनतम ईशोपनिषद् को माना जाता है। यह यजुर्वेद का 40वां अध्याय ही है। प्रारम्भिक पद ईशावास्य होने के कारण इसको ईशोपनिषद् कहते हैं। उपर्युक्त उपनिषदों के अतिरिक्त भी अनेकों उपनिषदों हैं किन्तु विद्वानों ने उन सभी को प्रामाणिक नहीं माना हैं वैसे भी सभी उपनिवदों में यज्ञों का वर्णन नहीं हैं राजसूय यज्ञ का भी अंगांगीभाव से अपरोक्ष वर्णन होने के कारण हम यहाँ सभी उपनिषदों का विस्तृत उल्लेख नहीं कर रहें हैं केवल प्रामणित उपनिषदों का नामोल्लेख मात्र कर दिया हैं

---

[1] ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य ऐतरेय, तैतिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतरापनिषद्

श्रौतसूत्र

वेदांगों के अन्तर्गत कल्पसूत्र का ग्रहण होता है। कल्पसूत्र का ग्रहण होता है। कल्पसूत्र के तीन विभाग हैं-श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। राजसूय महायज्ञ का विधान श्रौतसूत्र के अन्तर्गत है। आपास्तम्ब[1], शांखायन[2], लाट्यायन[3], द्राह्मायण[4], वैतान[5], मशक[6], मानवश्रौतसूत्र[7], निदान[8], बौधायन[9] और कात्यायन इत्यादि श्रौत सूत्रों में विस्तार से राजसूय यज्ञ का उल्लेख मिलता है। किन्तु विद्वानों ने राजसूय महायज्ञ का प्रामाणिक और पूर्ण विधि-विधान कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार माना है।

हमने भी शोध-ग्रन्थ के इस अध्याय में कात्यायन श्रौत सूत्र के अध्याय 15 के अनुसार राजसूय महायज्ञ का विस्तार से उल्लेख किया है। यह महायज्ञ लगभग ढाई वर्ष के सुदीर्घकाल में सम्पन्न होता है। इमसें अनेकों यागों, इष्टियों और रथारोहण, द्यूतक्रीडा आदि का समावेश होता है। सबको मिलाकर राजसूय यज्ञ कहा जाता है। इसका आरम्भ पवित्र नामक सोमभाग से होता है। इसके पश्चात् क्रमशः पांच इष्टियां, चातुर्मास्य पर्व, दर्शपूर्णमास इष्टियां, पञ्चवातीय होम, इन्द्रतुरीय कर्म, अपामार्ग होम, त्रिशंयुक्त द्विहविष्क इष्टियां, रत्न हवियां, मैत्राबार्हस्पत्य इष्टियां, अभिषेचनीय सोमयाग, देवसू हवियां, अभिषेक, शुनः शेप कथा, रथारोहण, द्यूतक्रीड़ा, अनुबन्ध्या त्रैधातवी इष्टि, संसृपा हवियां, दशपेय सोमयाग, पञ्चविल इष्टि, प्रयुग् हवियां, पशुबन्ध, केशवपनीय सोमयाग, व्युष्टिद्विरात्र, क्षत्रधृति, त्रिष्टोम ज्योतिष्टोम और सब सोमयागों के पश्चात् कार्तिक की पूर्णमासी को चरक सौत्रामणी नामक त्रिपशुक इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। राजसूय के अन्त में त्रैधातवी इष्टि की जाती है। विभिन्न सूत्रकारों तथा व्याख्याकारों के अनुसार राजसूय में किये जाने वाले कर्मों में कुछ

---

1 प्र.क.-8.16, 8.22, 12.8, 13.23, 18.8, 18.22, 19.8, 22.25

2 अध्याय-15, 16

3 प्रपाठक-8.11, 9.1

4 प.ख.-23.3, 24.3, 25.1, 26.1, 27.1

5 अ.-7,8

6 उपग्रन्थ-तृ.प्र.

7 इष्टि.-अ.-2, वाज.-अ. 1, राजसूयकल्प-अ. 1-5

8 प्र.प.-5.6, 7.10

9 प्र.-12, 20, 18, 22, 24, 26

अन्तर है। इष्टियों और यागों के कालों में भी एकरूपता नहीं है। हमने इस अध्याय में साधारण कालों का निर्देश किया है।

उपनिषदादि यहाँ श्रज्ञेत सूत्रों का परिचय वैदिक साहित्य के अतिरिक्त लौकिक साहित्य में भी राजसूय यज्ञ का उल्लेख मिलता है। लौकिक साहित्य में राजसूय यज्ञ विधि-विधाान सहित सम्पूर्ण रूप में उल्लेखित नहीं हैं केवल क्रियानुष्ठानों का ही वर्णन दृष्टिगोचर होता हैं और राजसूय के लौकिक-पारलौकिक फलों का अतिश्यता से वर्णन मिलता है। राजसूय के सन्दर्भ में लौकिक साहित्य में सर्वप्रथम महाभारत का नाम लेना ही उचित होगा क्योंकि महाराज युधिष्ठिर द्वारा अनुष्ठित राजसूय यज्ञ की विश्रुत लोकप्रसिद्धि है।

V. महाभारत, रामायण

महर्षि वेदव्यास विरचित सर्वप्रसिद्ध लौकिक रचनाओं में से एक हैं यह एक सुविशाल महाकाव्य हैं जिसमें समय के साथ-साथ प्रक्षेप भी होता रहा है। इसको पांचवां वेद तक कहा जाता हैं और उक्ति है कि 'यन्न भारते तन्न भारते' अर्थात जो ज्ञान महाभारत में वर्णित नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं मिल सकता। योगीराज भगवान श्री कृष्ण तथा अर्जुन का संवाद, उपदेश भी इसी में से लिया गया है जो पृथक् भगवद्गीता के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसमें राजसूय यज्ञ का वर्णन सभापर्व के अध्याय 35 से 37 तक में मिलता हैं।

रामायण- आदिकवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा विरचित इस महाकाव्य का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। रामचरितमानस आदि अनेकों भाषा ग्रन्थों में इसके अनुवाद हो चुके हैं। इसमें अयोध्या काण्ड, किष्किन्धा काण्ड और उत्तर काण्ड के अनेक सर्गों में महाराज दशरथ के राजसूय का उल्लेख है।

VI. पुराण

वैदिक साहित्य की गम्भीरता के कारण जनसमान्य इससे दूर होकर रसिक अलंकारिक वर्णनों से परिपूर्ण पुराणों के आगोश में चला गया। इनमें सभी विषयों का मिश्रण है। मुख्यतया पुराण साहित्य में अवतारवाद की प्रतिष्ठा है। कहीं-कहीं निराकार-एक ईश्वरीय सत्ता को भी माना गया है। प्रामाणिक रूप से अठारह महापुराण है। एक बात आश्चर्यजनक

रूप में पुराणों में मिलती है कि सत्कर्म की प्रतिष्ठा की प्रक्रिया में अपकर्म और दुष्कर्म का व्यापक चित्रण करने में पुराणकार पीछे नहीं हटे। इनमें देवताओं की कुप्रवृतियों को भी व्यापक रूप में चित्रित किया है। लेकिन शायद मूल उद्देश्य सद्भावना का विकास रहा हो। राजसूय महायज्ञ मुख्यतया निम्नोल्लेखित पुराणों में मिलता है-

अग्निपुराण- इस पुराण में अनेक विषयों का वर्णन उपलब्ध होता है। रामायण, महाभारत, हरिवंशपुराण आदि का इसमें परिचय दिया गया है। मत्स्य, कूर्म आदि अवतारों की कथाएं भी दी हुई है। सृष्टि वर्णन, होम विधि, दीक्षा और अभिषेक विधि, धनुर्वेद शिक्षा, औषधविज्ञान, अश्वचिकित्सा, विविध काव्य, रस-अलंकारों के लक्षण, व्याकरण, योग, अर्थशास्त्र और सूर्य वंश तथा सोमवंश आदि का इसमें वर्णन उपलब्ध होता है। स्त्रियों के प्रति इस पुराण में उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए पुराणकार कहता है-[1] पांच अवस्थाओं में स्त्री को दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। इसी प्रकार राजधर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि राजा को प्रजा की रक्षा उसी प्रकार करनी चाहिए जिस प्रकार कोई गर्भिणी स्त्री अपने गर्भ में पल रहे बच्चे की करती है। इसमें राजसूय का वर्णन 12, 18, 273 और 382वें अध्यायों में है।

कूर्म पुराण- इसमें कच्छप रूप में कूर्मावतार का वर्णन है। इसकी चार संहिताएं हैं। आजकल केवल ब्राह्मी संहिता ही प्राप्य है। इसमें पुराणों के लक्षण, देवों-ऋषियों के वंश, कथाएं आदि वर्णित हैं। इस पुराण ने वैष्णव, शैव और शाक्त तीनों सम्प्रदायों को समान मान्यता दी है। इसके उत्तरार्द्ध में ईश्वर गीता या व्यास गीता का वर्णन है। इसके अतिरिक्त सदाचार, गायत्री महिमा, गृहस्थ धर्म, विविध संस्कार आदि का वर्णन है। राजसूय का वर्णन अध्याय 36 में किया गया है।

ब्रह्मपुराण- इसमें ब्रह्म को सर्वोपरि माना गया है। कर्मकाण्ड के बढ़ जाने से जो विकृतियां समाज में फैल गई थी उनका विस्तृत वर्णन भी इस पुराण में मिलता है। यह समस्त विश्व ब्रह्म की इच्छा का ही परिणाम है और इस जगत् का प्रत्यक्ष जीवन दाता सूर्य को माना गया है। सूर्यवंश और चन्द्रवंश का वर्णन भी है। सूर्य की उपासना, महिमा इसका प्रमुख प्रतिपाद्य

---

1 नष्टे मृते प्रवजिते क्लीवे च पतिते पतौ। पंचत्स्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।।

विषय है। श्रीकृष्ण के अलौकिक चरित्र को भी दर्शाया गया है। जम्बूद्विप तथा अन्य द्विपों के साथ-साथ भारतवर्ष की महिमा का विवरण भी प्राप्त होता है। इस वर्णन में भारत के पर्यटक स्थलों का वर्णन भी है। मनु वंश वर्णन में राजसूय महायज्ञ का उल्लेख मिलता है। चतुर्थ अध्याय में सभी देव दानवों के राज्याभिषेक का वर्णन भी मिलता है। राजसूय का वर्णन 2, 4,8,9,28,57,67,176 और 220 में अध्यायों में मिलता है।

ब्रह्माण्ड पुराण- समस्त ब्रह्माण्ड का वर्णन इसमें मिलता है। यह तीन भागों में विभक्त है और बारह हजार श्लोक हैं। इसमें हिरण्यगर्भ प्रादुर्भाव, भुवनकोष, खगोल वर्णन में सूर्यादि ग्रहों, आकाशीय पिण्डों का विस्तार से वर्णन है। विभिन्न वंशों का वर्णन। भारतवर्ष का वर्णन करते हुए पुराणकार इसे कर्मभूमि कहकर सम्बोधित करता है। इसमें विभिन्न पूजा-पद्धतियों का भी वर्णन है। राजसूय महायज्ञ का वर्णन इसमें पूर्व व मध्य भाग के क्रमशः 36वें तथा 7,8,33,63 और 65वें अध्यायों में मिलता है।

मत्स्य पुराण- वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित इस पुराण में व्रत, पर्व, दान, वास्तुकला और राजधर्म आदि विषय वर्णित है। इसे दो सौ इक्यानवे अध्यायों में विभाजित किया गया है। पुराण के प्रथम अध्याय में मत्स्यावतार की कथा है। इसके अतिरिक्त मत्स्य पुराण में सूर्य, चन्द्र, यदु, क्रोष्टु, पुरु, कुरु और अग्नि वंश आदि का वर्णन है। ऋषि-मुनियों के वंशों का उल्लेख भी किया गया है। इस पुराण में राजधर्म और राजनीति का अत्यन्त श्रेष्ठ वर्णन है। व्यवहारिक ज्ञान, स्थापत्य कला और प्राकृतिक शोभा में हिमालय आदि का भी वर्णन है। कथाओं में सावित्री-सत्यवान् की कथा भी इसमें है। राजसूय का वर्णन 23वें अध्याय में किया गया है।

विष्णु पुराण-यह पुराण छः भागों में विभक्त है। इस पुराण में भूमण्डल का स्वरूप, ज्योतिष, राजवंशों का इतिहास, ध्रुव, पृथु और प्रहलाद आदि का वर्णन, कृष्ण चरित्र, कृषि-कर्म, गृहस्थ धर्म, वेदों की शाखाओं का विस्तार, सदाचार, इस पुराण में भी भारत वर्ष को कर्मभूमि कहकर पुकारा गया है।[1] इस भारत भूमि की वन्दना के लिए यह पद्य विख्यात है-

---

[1] विष्णुपुराण-2/3/5

गायन्तिदेवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥[1]

राजसूय महायज्ञ का वर्णन इसके चतुर्थांश के षष्ठ अध्याय में वर्णित है।

श्रीमद्भागवतपुराण- यह वैष्णव सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें सकाम-निष्काम कर्म, ज्ञानसाधना, भक्ति, सगुण-निर्गुण, व्यक्त-अत्यक्त का वर्णन है। इसके सभी बारह स्कन्धों में विष्णु के अवतारों का वर्णन है। यह ब्राह्मणवादी पुराण है। अन्य मनुष्यों को इस पुराणकार ने हेय बताया है। विभिन्न वंशों का वर्णन है। इस पुराणकार ने अपनी ही पुराण की अतिश्योक्ति से प्रशंसा की है। जैसे कि अतिनिन्दित पापों से भी इसके श्रवण मात्र से छुटकारा हो जाता है। अश्लील कथाओं का भी भण्डार है यह पुराण। इसमें काल गणना भी की गई है। राजसूय का वर्णन इसमें 1,3,5,7 और 10वें स्कन्ध में वर्णित है।

प्ररेणों के अतिरिक्त अनेकों काव्य-ग्रन्थों में भी राजसूय यज्ञ का संक्षेप से उल्लेख मिलता है और आधुनिक साहित्य में भी राजसूय का उल्लेख दृष्टिगत होता हैं जिसमें सर्वप्रथम नाम श्रीधरभास्कर वर्णेकर कृत श्रीशिवराज्योदयम् महाकाव्यम् का लिया जा सकता है।

VII. आधुनिक साहित्य

श्रीशिवराज्योदयम महाकाव्यम्

यह महाकाव्य साहित्य अकादमी के द्वारा पुरस्कृत महाकाव्य है। इस महाकाव्य को 1974 में अकादमी अवार्ड बुक के नाम से पुरस्कार मिला है। और इस महाकाव्य में लगभग 2740 पद्य हैं। यह शिवाजी महाराज के जीवन से सम्बन्धित महाकाव्य है। इस महाकाव्य में वर्णित राजसूय महायज्ञ शास्त्रीय नहीं है फिर भी इसमें राजसूय यज्ञ का उल्लेख आगे कर दिया गया है। इस प्रकार हम देखतें हैं कि राजसूय यज्ञीय परम्परा का एक विशिष्ट याग हैं जिसका उल्लेख बहुधा अनेकों ग्रन्थों में हुआ हैं और यह भी सम्भव हैं कि कुछ सन्दर्भ ग्रन्थ हमारी दृष्टि में न आए हों और सामान्य आधुनिक लौकिक सन्दर्भ ग्रन्थों का विस्तार भय से यहाँ परिचय नहीं दे रहें है।

* * *

---

[1] विष्णुपुराण-2/3/24

द्वितीय अध्याय
वैदिक संहिताओं में राजसूय यज्ञ

वेद भारतीय परम्परा के प्राचीनतम और सर्वाधिक पवित्र ग्रन्थ माने जाते हैं। भारत के संस्कृत निधिस्वरूप वेद ज्ञान का वह अक्षय महासागर है, जहाँ से ज्ञान की अनेकों विमल धाराएँ निकलकर अज्ञानजन्य ताप को शान्तकर मानव का जीवन सुखमय कर देती है अर्थात् इसमें विलीन हुआ मानव अनेक जन्मों के कालुष्यों से मुक्त होकर परम कैवल्य को प्राप्त करता है। यह केवल भारतीय साहित्य के सर्वप्रथम ग्रन्थ ही नहीं अपितु मानव मात्र के इतिहास में सर्वप्रथम ग्रन्थ रत्न हैं।

वस्तुतः वेद शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत है। वेदों की श्रुति संज्ञा अन्वर्थ है क्योंकि इसके अन्तर्गत आने वाले संहिता ग्रन्थों को ही वेद माना जाता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी और धातुरूपों के आधार पर वेद शब्द 'विद्' धातु से निष्पन्न है - **विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम्, विद्लृ लाभे और विद् विचारणे** अर्थात् ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचारण के अर्थ में इस धातु का प्रयोग मिलता है। वेद शब्द की व्याख्या अनेक माननीय विज्ञज्जनों ने अपने-अपने मतानुसार की है - विद् धातु से करण और अधिकरण कारक में पाणिनि के **हलश्च** सूत्र[1] से घञ् प्रत्यय करने पर वेद शब्द निष्पन्न होता है। जिसके द्वारा मनुष्य समग्र विद्याओं को जानते हैं, प्राप्त करते हैं, विचार करते हैं अथवा सत्यविद्या की प्राप्ति के लिए जिसमें प्रवृत्त होते हैं, वे वेद हैं।[2] वेदों में वह ज्ञान निहित है जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

---

1 अष्टाध्यायी, 3/3/121

2 विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति....
विचारन्ति, सर्वे मनुष्याः सत्यविद्यां यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च ते वेदा।
ऋग्वेदभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृ० 25.

ऐसे ही सायणाचार्य का कथन है कि जो ग्रन्थ इष्टप्राप्ति अनिष्ट निवारण हेतु साधनभूत अलौकिक उपाय का प्रदर्शन करता है, वही वेद है।[1] मीमांसकों के अनुसार पुरुष प्रयत्न के बिना स्वयं प्रादुर्भूत राशि ही वेद है।[2] क्योंकि वेद सनातन है। अतः सनातन परमात्मा के श्वास निःश्वास की भांति प्रादुर्भूत हुए हैं। मनु ने वेद को पितरों, देवों एवं मनुष्यों का चक्षु बताया है।[3] चक्षु का अभिप्राय है – ज्ञान, जो वास्तव में जीवन मार्ग दर्शाता है। स्मृतिकार याज्ञवल्क्य मुनि वेद के महत्त्व का निरूपण करके शब्द और अर्थ को भी वेद का मूलतत्त्व प्रतिपादित करते है – प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणों से जिस पदार्थ का बोध नहीं किया जा सकता, वेद उसका बोध कराता है। शब्द प्रमा से विहित कर्मों के उपदेश की समाप्ति जिन ग्रन्थों पर होती है, उन्हें वेद कहते है।[4]

भारतीय परम्परा के अनुसार वेद से तात्पर्य उस विशाल साहित्य से है, जिसका अनेक शताब्दियों के लम्बे समय से प्रादुर्भाव हुआ और श्रुति के रूप में शताब्दियों तक कुल परम्परा के अनुसार जिस ज्ञान का प्रादुर्भाव परमात्मा की इच्छा से वैदिक ऋषियों के पवित्र अन्तःकरण से हुआ। वेद ईश्वर प्रदत्त है। वेद अपौरूषेय एवं सृष्टि के आदि में आविर्भूत माने जाते हैं। वेद की अपौरूषेयता के विषय में स्वयं वेद कहता है–

तस्मात्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत्॥

---

1 इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति सः वेदः।
तैतिरीय संहिता, भाष्यभूमिका, सायणाचार्य, पृ० 2.

2 अपौरूषेयं वाक्यं वेदः।
ऋग्वेदभाष्यभूमिका, शास्त्री, पृ० 14.

3 पितृदेव मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
मनुस्मृति, 12/64, पृ० 486.

4 प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥
ऋग्वेद परिचय, पृ० 14.

अर्थात् उस सर्वात्मन् पुरुष से ही ऋक्, यजु, साम और अथर्व प्रादुर्भूत हुए।

I. वेदों का उद्भव और संख्या

महर्षि दयानन्द की ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में **वेदोत्पत्तिविचारः** तथा **वेदानां नित्यत्वविचारः** प्रकरणों में वेदों की उत्पत्ति कैसे हुई पर विचार किया गया है। वस्तुतः वेदोत्पत्ति शब्द का अर्थ है - वेदों का प्रादुर्भाव, वेदों का प्रकाशन या प्रकटीकरण। शतपथ ब्राह्मण के वचन के संदर्भ में दयानन्द कहते है -

यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्वराद्वेद्वानां प्रादुर्भाव तिरोभावौ भवत इति निश्चयः।[1]

अर्थात् शरीर से श्वास निकलकर फिर उसी में प्रविष्ट होता है उसी प्रकार ईश्वर से वेदों का प्रादुर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है, यह निश्चय है।

अथर्ववेद के **यस्मादृचो अपातक्षन्**[2] इस मन्त्र के अनुसार वेदों की उत्पत्ति परमात्मा से हुई है। अतः यहाँ उत्पत्ति और प्रादुर्भाव का समान अर्थों में ही प्रयोग किया गया है। सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते परन्तु उसके ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं बीजाकुंरवत्[3] जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है, वही वृक्ष रूप होकर फिर भी बीज के भीतर रहता है, उसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान से सब दिन बने रहते हैं, उनका नाश कभी नहीं होता क्योंकि ईश्वर की विद्या से इनको नित्य ही जानना चाहिए।

सृष्टि के आदि में जो वेदों को प्रकाशित किया जाता है उसी का नाम वेदोत्पत्ति है। वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गए? एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार,

---

1 यजुर्वेद, 31/7.

2 ऋग्वेद भाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द, वेदोत्पत्ति, पृ० 269.

3 वेद तथा ऋषि दयानन्द, श्री निवास शास्त्री, पृ० 55.

नौ सौ छिहत्तर वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गए और यह संवत् सतहत्तरवां वर्त रहा है।[1] जिसको आर्य लोग विक्रम का उन्नीस सौ तैतीसंवा संवत् कहते हैं।

मूल वेदों की संख्या के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। कहीं केवल एक वेद कहा गया है कहीं तीन या वेदत्रयी कही गई है, फिर वेद चार हैं यह कथन कैसे युक्तिसंगत माना जा सकता है। मनुस्मृति में **वेदः स्मृतिः सदाचारः**[2] इत्यादि से 'वेदः' एकवचन ही है। भर्तृहरि ने भी वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के आरम्भ से इस मान्यता का उल्लेख किया है कि महर्षियों ने एक वेद का पृथक्-पृथक् समाम्नाय किया।[3] वस्तुतः परम्परा से एक ही वेद चला आया था। वेदव्यास ने उसे चार भागों में व्यवस्थित करके ऋक्, यजु, साम और अथर्व नाम से चारों वेदों का चार ऋषियों को उपदेश दिया।

क्या वेद तीन हैं? संस्कृत वाङ्मय में अनेक स्थानों पर ऐसे प्रसंग आते हैं जिनके पढ़ने से यह भ्रान्ति सी हो जाती है कि क्या वेद तीन हैं? ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद को ही वेदत्रयी के अन्तर्गत रखा गया है। शतपथ ब्राह्मण में कई स्थानों पर 'त्रयीविद्या' शब्दों द्वारा वेदों के त्रित्व की ओर निर्देश हुआ है।[4] विष्णु पुराण में लिखा है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद त्रयी कहलाते हैं।[5] छान्दोग्योपनिषद् में भी **'त्रयी विद्या'** शब्दों द्वारा वेदों के त्रित्व की ओर निर्देश किया गया है। अथर्ववेद बाद की रचना है इसलिए त्रयी में इसकी गणना नहीं है।

---

1 ऋग्वेदादि०, पृ० 285.

2 मनुस्मृति, 2.12

3 प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः।
एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक्-पृथक्।।
वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, 1.5

4 स (प्रजापतिः) भ्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथमसृजत त्रयीमेव विद्याम्।
शत०ब्रा०, 6.1.1.8.

5 ऋग्यजुः सामसंज्ञये त्रयी वर्णावृत्तिर्द्विजं।
विष्णु पुराण, 3.16.

किसी को भी यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वेद तीन हैं, वेद चार ही हैं। वेदों के पश्चात् वैदिक साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थों का सर्वोच्च स्थान है। शतपथ ब्राह्मण स्पष्ट रूप से वेदों को परमात्मा द्वारा रचित मानता है और कहता है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, अथर्ववेद ये चारे वेद श्वास-प्रश्वास की भांति सहज भाव से परमात्मा ने प्रकट कर दिए थे।[1] जैसे अन्य वेदों की रचना ईश्वरीय मानी गई है, उसी तरह अथर्ववेद भी ईश्वरीय रचना है। तैत्तिरीयोपनिषद् में मनोमय शरीर का वर्णन करते हुए आलंकारिक भाषा में यजुर्वेद को उसका सिर, ऋग्वेद को दक्षिण पक्ष, सामवेद को वामपक्ष और अथर्ववेद को उस शरीर का नितम्ब भाग कहा है।[2] सूर्योपनिषद् में सूर्य को परमात्मा का रूप बताया गया है और कहा गया है कि उसी से वेदों की उत्पत्ति हुई। आलंकारिक भाषा में कहा गया है कि हे सूर्य! तू ही प्रत्यक्ष रूप से ऋग्वेद है, तू ही यजुर्वेद, तू ही सामवेद और अथर्ववेद है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी एक स्थान पर वेदों की संख्या चार ही कही गयी है और उनके नाम भी ऋग्वेदादि चार ही बताये गये हैं।[3]

वस्तुतः जब वेद चार हैं, तो उन्हें त्रयी क्यों कह दिया गया है? इसका समाधान यह है कि वेदों की रचना तीन प्रकार की है। वेद के कुछ मन्त्र 'ऋक्' प्रकार के हैं, कुछ मन्त्र 'साम' प्रकार के, कुछ मन्त्र 'यजु' प्रकार के हैं।[4] ऋग्वेद में प्रायः सभी मन्त्र छन्दोबद्ध पद्यात्मक हैं, इसलिए उसे विशेष रूप से ऋग्वेद-ऋचाओं का वेद कहा गया है। सामवेद में सभी मन्त्र ऐसे हैं, जिन्हें संगीत में ढालकर गीति-रूप में गाया जाता है, इसलिए इसका नाम विशेष रूप से सामवेद-सामों का वेद हो गया। यजुर्वेद में यजुः वाक्य, गद्य वाक्य अन्य वेदों

---

[1] एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निः श्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्वाङ्गिरसः।
शत०ब्रा० 14.5.4.10.

[2] तस्य यजुरेवशिरः ऋग्दक्षिण पक्षः, सामोतर पक्ष... अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा।
तैत्तिरीयोपनिषद्, (तै०उ०) 2.3.

[3] त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथाङ्गतः।
ऋक्सामवर्णाक्षरता यजुषोऽथर्वेणस्तथा।।
नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, 1.117.

[4] वेद और उसकी वैज्ञानिकता, वेदवाचस्पति, पृ० 238.

की अपेक्षा अधिक है, इसलिए इसका नाम विशेष रूप से यजुर्वेद - यजुः वाक्य का वेद हो गया। अथर्ववेद में उक्त तीनों के मन्त्र हैं। इस प्रकार रचना की दृष्टि से चारों वेदों को, वेदत्रयी भी कह दिया जाता है। वस्तुतः वेद चार ही है।

II. वेदों में यज्ञ प्रधानता

'यजुष्' शब्द 'यज्' धातु के साथ 'उसि' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न माना गया है। जिससे यज्ञ किया जाये वह अथवा एक वेद-विशेष को यजुः कहा जाता है।[1] 'यज्' धातु से निष्पन्न होने के कारण 'यजुष्' शब्द का अर्थ विद्वानों ने प्रायः यज्ञ (वैदिक कर्मकाण्ड) सम्बन्धी मन्त्र किया है तथा यह माना है कि यजुष्-संहिता का निमार्ण मुख्यतः यज्ञों के सम्पादन के लिए ही हुआ है, अथवा यजुर्वेद में अध्वर्यु की सुगमता के लिए वैदिक प्रार्थनाएँ तथा निवेदन संग्रहीत है।[2] वैदिक साहित्य में 'यजुष्' शब्द 'ऋक्' तथा 'साम' से पृथक माना जाता है। 'यजष्' यज्ञ सम्बन्धी मन्त्र है जो गद्य और पद्य दोनों में हो सकता है।[3]

यजुष् की अन्य परिभाषाएँ यजुर्वेद में उपलब्ध मन्त्रों की शैली की दृष्टि से प्रस्तुत की गई है। यथा-

1. **अनियताक्षरावसानो यजुः** - अर्थात् छन्दों की दृष्टि से अक्षरों की इयत्ता अथवा व्यवस्था न हो वह यजुः है।
2. **गद्यात्मको यजुः** - अर्थात् गद्य शैली में लिया गया मन्त्र यजुः है।
3. **शेषे यजुः शब्दः** - अर्थात् ऋक् या छन्दोबद्ध तथा साम या गीतिपरक मन्त्रों से भिन्न मन्त्रों के लिए यजुः शब्द प्रयुक्त होता है।[4]

---

[1] यजति येन तद् यजुः वेद विशेषो वा।
उणादिकोष, स्वामी दयानन्द की व्याख्या, 2.11.4.

[2] प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ० 140.

[3] वैदिक कोष, डॉ० सूर्यकांत, पृ० 390.

[4] मीमांसा सूत्र, 2.1.37.

'यजुष्' शब्द की इन तीन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि यजुर्वेद के मन्त्र छन्दोबद्ध नहीं माने गये हैं। परन्तु यजुर्वेद में शैली की दृष्टि से अनेक छन्दोबद्ध ऋक् मन्त्र उपलब्ध होते हैं। याजुष् मन्त्रों के अनियताक्षर होने के कारण ही यजुः सर्वानुक्रमसूत्र में अनेक मन्त्रों में छन्दों की कल्पना नहीं की गयी है।[1] परन्तु **नाच्छन्दो वागुच्चरामि** इस ब्राह्मण वाक्य के अनुसार यजुर्वेद के गद्य मन्त्रों में भी छन्दों की व्याख्या स्वीकार की गयी है। गद्य मन्त्रों के दैवी और आसुरी - ये दो भेद किये जाते हैं। इन भेदों का निर्देश प्रायः सभी वैदिक छन्दोविचितियों में उपलब्ध है।

इन परिभाषाओं का 'यजुष्' शब्द के व्युत्पयत्तिलभ्य अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि इनमें 'यज्' धातु का अर्थ विद्यमान नहीं है। इस दृष्टि से 'यजुष्' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कुछ विस्तृत विचार किया जाता है।

III. 'यजुष्' शब्द की व्युत्पत्ति से यज्ञों का यजुर्वेद से सम्बन्ध

'यजुष्' शब्द और 'यज्ञ' शब्द दोनों के मूल में 'यज्' धातु मानी जाती है। पाणिनि के अनुसार 'यज्' धातु के तीन प्रमुख अर्थ हैं - देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा दान। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'यज्' शब्द सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्मों का पर्याय हैं। सम्भवतः इसी दृष्टि से यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में ही श्रेष्ठतम कर्म की प्राप्ति के लिए सविता देव से प्रार्थना की गई है।[2] इस कारण 'यजुष्' शब्द को केवल अग्निहोत्रादि यज्ञों से ही सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। शांखायन आरण्यक (4.6) तथा कौषीतकि उपनिषद् (2.6) में ब्रह्म की यजुः नाम से उपासना की बात की गई है क्योंकि श्रेष्ठता की प्राप्ति के लिए सभी प्राणी ब्रह्म से युक्त होते हैं।[3] माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण (4.6.7.3) में यह कहा गया है कि विष्णु ने यजुषों को अपने अंश के रूप में स्वीकार किया। तैतिरीय संहिता (2.3.2.4) में 'यजुष्' के द्वारा

---

[1] यजुषामनियताक्षरावसानत्वात् एकेषां छन्दो न विद्यते।

यजुर्वेदसंहिता : सर्वानुक्रमसूत्र, सातवलेकर, 1.1.

[2] देवो वः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण।

[3] तद् (ब्रह्म) यजुरित्युपासीत् सर्वाणि ह्यस्मै भूतानि श्रेष्ठ्याय युज्यन्ते।

प्रजापति ने विष्णु की सृष्टि की, यह कहा गया है। इसके अतिरिक्त जैमिनि ब्राह्मण (2.56) तथा माध्यन्दिन शतपथ[1] (7.3.1.40) में मन को यजुः कहा गया है। शतपथ (10.3.5.6) में अन्न को यजुः कहा गया है।

'यजुष्' शब्द की व्युत्पत्ति स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार की है - **यजन्ति येन मनुष्याः ईश्वरं धार्मिकान् विदुषश्च पूजयन्ति, शिल्पविद्यासङ्गतिकरणं च कुर्वन्ति, शुभविद्यादानं च कुर्वन्ति तद् यजुः।** इस व्युत्पत्ति में 'यज्' धातु के तीनों अर्थों का समावेश हो गया है। अभिप्राय यह है कि जिससे मनुष्य ईश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों के ज्ञान से धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, शिल्प क्रियादि से युक्त विद्याओं की सिद्धि तथा उत्कृष्ट विद्या और उत्कृष्ट गुणों का दान करे, वह यजुर्वेद है। इसी दृष्टि से यजुर्वेद में कर्मकाण्ड माना गया है तथा ऋग्वेद को ज्ञानकाण्ड। ऋग्वेद के द्वारा वस्तु का ज्ञान हो जाने के पश्चात् उसको कार्य में परिणत करने की क्रिया का विधानयजु है।[2]

इसी प्रकार ऋषि ने 'यज्ञ' शब्द के - ईश्वर, क्रिया-कौशल, आनन्द, सङ्गतिकरण उत्तम पदार्थों का ज्ञान करना, सद्विद्या की वृद्धि करने वाला व्यवहार, सत्संग, अध्ययन-अध्यापन इत्यादि अर्थ किये हैं।

IV. यजुर्वेद की विषय-वस्तु राजसूय के विनियोग मन्त्र

यज्ञ ही यजुर्वेद का प्रमुख विषय है। यजुर्वेद का सम्बन्ध यज्ञानुष्ठानों से है और उसमें संकलित मन्त्रों का विषय या विधियों का सम्पादन करना है तथा किस यज्ञ में किस कांड में मंत्रों का व्यवहार किया जाना चाहिए, इसकी विधियाँ यजुर्वेद में दी गयी है। अतः यह वेद कर्मकाण्ड प्रधान है। यजुर्वेद में मुख्य रूप से धार्मिक दृष्टि से वैदिक कर्मकाण्ड, सामाजिक दृष्टि से राज्य व्यवस्था और आरोग्य की दृष्टि से भैषज्य विज्ञान का विशद

---

1 मा०श० 7/3/1/40

2 यजुर्वेदभाष्य में अग्नि का स्वरूप, स्वामी दयानन्द, पृ० 96.

विवेचन है। शुक्ल यजुर्वेद की मंत्र संहिता वाजसनेयी संहिता के नाम से प्रसिद्ध है। शुक्ल यजुर्वेद में चालीस अध्यायों की विषय-वस्तु को इस प्रकार विभक्त किया गया है-

प्रथम अध्याय में यज्ञों के महत्त्व का तो वर्णन है ही किन्तु यज्ञों के करने के अन्न, जल और रस वाले फलों की भी प्राप्ति होती है एवं समस्त पर्यावरण शुद्ध हो जाता है।

तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम
नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि।[1]

द्वितीय अध्याय में वेदी बनाना तथा यज्ञ करने की विधि और उसका लाभ बताया है। अग्नि को यज्ञ का मुख्य साधन माना गया है। यज्ञों में देव एवं पितरों को प्रसन्न करने पर भी अधिक बल दिया गया है।

तृतीय अध्याय में होत्रादि, यज्ञों का वर्णन है और उनके लाभ का एवं अग्नि के स्वभाव का वर्णन है।

बीसवें अध्याय में राजधर्म पर अधिक विवेचन है जिससे राजा अपने कर्तव्यों से कभी विमुख न हो और प्रमाद न करे। राजधर्म, राजा और राज्य के विषय में इस प्रकार विस्तृत रूप से अनेक बार पूर्ण जागरुकता से विवेचन हुआ है।

पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरम् श्रीर सौ ग्रीवाश्चश्रोणी।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥[2]

अर्थात् जो राजा प्रजा को अपने अंगों के समान समझता है तथा प्रजा को अपनी पीठ, राज्य को उदर, कन्धे, ग्रीवा, कटि, जंघा, भुजा समझता है वह सदा सुखी रहता है।

---

1 शुक्ल यजुर्वेद, (शु०य०), 1.31.

2 शु०य०, 20.8.

सत्ताइसवें अध्याय - में अनिष्ट का निवारण, जीवन की वृद्धि, अपमृत्यु आदि का वर्णन किया गया है जिसमें मानव जीवन सदा सुखी रहे। अग्नि का महत्त्व एवं यज्ञ करना भी मानव जीवन का एक आवश्यक कार्य है। यथा-

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेद इन्द्राय हव्यम्।
विश्वेदेवा हविरिदं जुषन्ताम्।।[1]

वस्तुतः यजुर्वेद के उपर्युक्त विषय विवेचन से यह स्पष्ट है कि यजुर्वेद में कर्मकाण्ड की प्रधानता है। अतः यज्ञीय दृष्टिकोण से यजुर्वेद का वैदिक साहित्य में एक महत्वपूर्ण योगदान है राजसूय महायज्ञ यजुष् के मन्त्रों के बिना अधुरा ही होता है। क्योंकि-

गद्य को 'यजु' कहते है। यजुर्वेद में उन गद्य वाक्यों का समूह है जिनका प्रयोग 'अध्वर्यु' यज्ञ के अवसर पर करता है। यज्ञ का वास्तविक क्रियात्मक अनुष्ठान 'अध्वर्यु' ही करता है। अतः इस वेद का सम्बन्ध राजसूय यज्ञानुष्ठान के साथ सबसे अधिक है। महाभाष्यकार पंतजलि के कथन के अनुसार यजुर्वेद की 101 शाखाएँ है[2] पर अब यह सब उपलब्ध नहीं होती। अलग-अलग चरणव्यूहों में इनकी संख्या भिन्न-भिन्न मिलती है। प्रामाणिक रूप में छः शाखाएँ है। यदि सर्वांगेण सभी शाखाएँ उपलब्ध होती तो शायद किसी एक में राजसूय महायज्ञ का उल्लेख स्पष्टतः उपलब्ध होता। पुनरपि उपलब्ध शाखाग्रंथों के अनुसार हम कह सकते हैं कि यजुर्वेदीय इन शाखाग्रन्थों के बिना राजसूय पूर्ण नहीं किया जा सकता। यह हम यजुष् मन्त्रों का राजसूय के अंगीभूत इष्टियों में विनियोग को देखते हुए कह सकते हैं।

सम्पूर्ण माध्यन्दिन संहिता 40 अध्याय, 1975 कण्डिको और 2988 मन्त्रात्मक है। इसका वर्ण्य-विषय यज्ञीय कर्मकाण्ड और मन्त्र दोनों हैं, इसमें कर्मकाण्ड विधायक ब्राह्मण

---

[1] शु०य०, 27.22.

[2] यजुर्वेद संहिता, श्री राम शर्मा, पृ० 10.

भाग नहीं हैं, केवल विशुद्ध मन्त्रभाग ही है। परन्तु इन मन्त्रों का उपयोग कर्मकाण्डीय दर्शपौर्णमास, सौत्रामणी, पुरुषमेध, पितृमेधादि के लिए होता है।

V. काण्व संहिता - काण्व संहिता के प्रमुख आचार्य महर्षि कण्व रहे है। इनका सम्पूर्ण आख्यान महाभारत के आदि पर्व[1] तथा 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में प्राप्त होता है। इसमें 40 अध्याय, 328 अनुवाक तथा 2986 मन्त्र हैं। इसकी मन्त्र संख्या, माध्यन्दिन संहिता से 111 अधिक है। इस संहिता के वर्ण्य-विषय भी माध्यन्दिन संहिता के समान ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण यजुर्वेदीय ग्रन्थों में यज्ञ के विधि-विधानों की प्रधानता रही है।

श्री मैकडॉनल महोदय का कथन है कि वाजसनेय संहिता में केवल वे ही मन्त्र एवं प्रयोग सङ्कलित हैं जो शुद्ध यज्ञ से सम्बन्धित हैं इसी कारण इसे शुक्लयजुर्वेद कहते हैं तैत्तिरीय संहिता में मन्त्र समुदाय विनियोगकल्प एवं ब्राह्मण भाग का एकत्र संग्रह है अतः इसी सङ्कीर्ण रूप के कारण इसे कृष्ण यजुर्वेद कहते हैं।[2]

विण्टरनिट्स का कथन है कि शुक्ल तथा कृष्ण यजुर्वेद में भेद केवल इतना है कि जहाँ शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र हैं वहाँ कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ-साथ यज्ञ प्रक्रिया तथा उन पर विवेचन भी है अर्थात् कृष्ण यजुर्वेद में वैदिक मन्त्रों के साथ-साथ ब्राह्मण भाग भी प्रत्येक प्रसंग में यथावसर संगृहीत हैं क्योंकि अध्वर्यु के लिए संगृहीत प्रार्थनाओं में यज्ञीय कर्मकाण्डों पर विस्तृत विचार करना आवश्यक था। तदनुसार यजुर्वेद की प्रार्थना-पुस्तकों में निर्देश बाहुल्य असंगत नहीं ठहराया जा सकता। जिनका पुनः सम्पादन आगे चलकर मन्त्र भाग को पृथक् करके शुक्ल यजुर्वेद के रूप में कर दिया गया।[3]

वस्तुतः शुक्ल यजुर्वेद तथा कृष्ण यजुर्वेद के विभाजन का आधार निम्न बातों पर निर्भर करता है। जहाँ तक कृष्ण यजुर्वेद का सम्बन्ध है उसमें छन्दोमय मन्त्र भाग और

---

1 महा०भा०, 63.18

2 संस्कृत साहित्य का इतिहास, मैकडॉनल, पृ० 164.

3 भारतीय साहित्य का इतिहास, विन्टरनिट्स, पृ० 126.

गद्यात्मक ब्राह्मण भाग दोनों सम्मिलित हैं। उसका स्वरूप शुक्ल यजुर्वेद की अपेक्षा अस्पष्ट है, अव्यवस्थित है, उसमें यज्ञीय कर्मकाण्ड के साथ-साथ एवं उसके व्याख्यान भी सम्मिलित हैं। कहीं-कहीं दोनों भाग अलग-अलग रूप में दिये गये हैं तो कहीं-कहीं ब्राह्मण भाग में मन्त्र और मन्त्रभाग में ब्राह्मण भी सम्मिलित हैं। यही अव्यवस्थित रूप ही इसे शुक्ल यजुर्वेद से पृथक् करता है, क्योंकि शुक्ल यजुर्वेद में मन्त्र भाग एवं ब्राह्मण भाग का एक साथ मिश्रण न होकर अलग-अलग विवेचन है। इसमें अति परिशुद्ध मन्त्र भाग ही वर्णित है जो अधिक स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित है। इसका ब्राह्मण भाग विशुद्ध एवं अलग है जिसमें मन्त्रों की रचना, उसकी विनियोग विधि एवं व्याख्याएँ अलग-अलग वर्णित है। इस प्रकार इसका परिशुद्ध एवं व्यवस्थित रूप ही कृष्ण यजुर्वेद के अस्पष्ट एवं अव्यवस्थित रूप से इसे पृथक् करता है।

बेबर ने वाजसनेयि संहिता का वर्तमान संस्करण 300 ई० पूर्व निर्धारित किया है। माध्यन्दिन संहिता के राजसूय प्रकरण में **एष वोऽमी राजा** मन्त्र भाग है।[1] इस उद्धरण से तो यही प्रतीत होता है कि इस में राजसूय महायज्ञ का स्पष्टतः उल्लेख प्राप्त होता है।

वैसे यजुर्वेद के विषय-वस्तु को एक प्रकार का यान्त्रिक पुरोहितवाद कहा गया है।[2] इस में पुरोहित अनेक कृत्यों का जटिल विधान करते हैं, और जिसमें छोटे से छोटे कृत्य का अत्यधिक महत्त्व माना गया है।

यज्ञीयकृत्य शनैः शनैः अधिकाधिक रहस्यपूर्ण बनते गये। यज्ञ एवं उसके मन्त्रों को प्रकृति के नियामक एवं दैवी शक्ति से युक्त माना जाने लगा। यजुर्वेद में ऐसे अनेक मन्त्र एवं प्रार्थनाएँ हैं, जिनसे शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सकती है, जलवृष्टि कराई जा सकती है। यजुर्वेद में किसी कार्य के लिए प्राकृतिक शक्तियों को प्रभावित करने हेतु इन मन्त्रों का

---

[1] माध्यन्दिन संहिता, 1.40, 10.18.

[2] वैदिक साहित्य का इतिहास, प्रा० राममूर्ति शर्मा, पृ० 72.

स्वरूप ऐन्द्रजालिक सा हो गया है। इसी कारण राजसूय महायज्ञ आदि यज्ञ और जटिल होते चले गये।

VI. अथर्ववेद में राजसूय यज्ञ

राजसूय अथर्ववेद[1] और बाद के साहित्य में[2] राजकीय प्रतिष्ठापन संस्कार के लिए प्रयुक्त शब्द है। सूत्रों[3] में तो इस संस्कार का विस्तार से वर्णन है, किन्तु इसकी प्रमुख विशेषताओं का ब्राह्मणों[4] में भी स्पष्ट उल्लेख है, जबकि इस संस्कार के समय प्रयुक्त मन्त्र यजुर्वेद[5] की संहिताओं में सुरक्षित है। पुरोहितीय विस्तारण के अतिरिक्त इस संस्कार में लौकिक समारोह के चिह्न भी वर्तमान है उदाहरण के लिए राजा अपनी मर्यादा के औपचारिक परिधान और सार्वभौमिक सत्ता के प्रतीक के रूप में धनुष और बाण धारण करता है उसका औपचारिक अभिषेक होता है और वह अपने किसी सम्बन्धी की गायों पर दिखावटी आक्रमण करता है[6] अथवा किसी राजन्य के साथ दिखावटी युद्ध[7] करता है। पासे के खेल का भी आयोजन होता है जिसमें उसे विजयी बनाया जाता है[8] अपने सार्वभौमिक शासन को व्यक्त करने के लिए वह भाव रूप में आकाश की दिशाओं पर चढ़ता है और सिंह-चर्म पर खड़ा होकर सिंह की शक्ति तथा विशिष्टता प्राप्त करता है। अभिषिक्त राजाओं की एक तालिका ऐतरेय ब्राह्मण में दी हुई है जहाँ राजकीय अभिषेक को इन्द्र से

---

[1] अर्थव० 4.8,1 11.7,7 और 19.33.1

[2] तै०ब्रा०सं० 5,6 2,1 ऐ०ब्रा० 7.15,8, श०ब्रा० 5 1,1,12 इत्यादि

[3] वेबर : ऊबर डेन राजसूय: हिलेब्रान्ट: रिचुअल लिटरेचर 144-147

[4] विशेषत: शतपथ ब्राह्मण 5.2, 3.1 और बाद में मैत्रायणी सं० 4.3.1, तै०सं० 1.8.1.1

[5] तैत्तिरीय संहिता 1.8; काठक सं० 15, मैत्रा०सं० 2.6, वाजसनेयिसं० 10

[6] शतपथ ब्रा० 5.4,3,1 और बाद।

[7] देखिये 2 अक्ष

[8] एतरेय ब्रा० 8, 21-23

सम्बद्ध 'महाभिषेक' कहा गया है। यह तालिका सामान्य रूप से शतपथ ब्राह्मण[1] और शांखायन श्रौत सूत्र[2] में दी हुई है। वेदों में राजसूय महायज्ञ के उल्लेख से पूर्व यह स्पष्ट करना उचित रहेगा कि वेदों में राज्य-व्यवस्था का विधान किस प्रकार है तथा राजा के चयन की क्या प्रक्रिया है? और राजा के चयन के उपरान्त उस चयनित राजा का अभिषेक, राज्याभिषेक राजसूय महायज्ञ के किस-किस अंगीभूत प्रक्रियाओं से सम्पन्न होता है-

VII. वैदिक राज्य शासन

कर्म करने में प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र होता है किन्तु फलप्राप्ति में परतन्त्रता होती है जो अज्ञानी अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हुए अनुचित कर्मों को करके फलस्वरूप दुःखों को प्राप्त करते तथा अन्यों को भी दुःखी करते हैं ऐसे लोगों के लिए अनुशासन की व्यवस्था अनिवार्य होती है और राजशासन व्यवस्था या दण्डव्यवस्था होती है और राजशासन व्यवस्था या दण्डव्यवस्था का वेदों में यथोचित विधान है शासन व्यवस्था का यही परम प्रयोजन है कि नियमानुशासन में आबद्ध व्यक्ति स्वयं के लिए तथा दूसरों के लिए भी सुखकारी होता है। क्योंकि-

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥[3]

किन्तु दण्ड का यथोचित संचालन न्यायकारी, न्यायप्रिय राजा ही कर सकता है इसलिए वेदों में प्रयुक्त हुए राजा के विशेषण न्यायाधीश, न्यायेश, न्यायकारी आदि के रूप में हुआ है।[4]

---

[1] श०ब्रा० 13.5, 4

[2] शां०श्रौत०सू० 16.9 तुलना की०से०बु० 41, xxiv, xxv

[3] मनु०, 12/100.

[4] महर्षि दयानन्द वेदभाष्य, ऋ०, 6/16/31,
ऋ०, 6/21/8, यजु०, 6/13, यजु० 9/31, यजु० 25/6

अतः वेदों में उल्लेख है 'कि राजा को चाहिए कि निर्दोष की रक्षा हो तथा सदोष को दण्ड मिले।[1] राजा की दण्डव्यवस्था या न्यायवस्था न केवल नगर में, ग्राम में प्रभाव पैदा करती अपितु राष्ट्र में सब ओर प्रभाव पैदा करती है। यथा-

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्।।[2]

इस प्रकार के राजा का निर्वाचन लोकतान्त्रिक प्रक्रिया से होता था चाहे वह वंशानुगत हो या नहीं किन्तु विशिष्टगुण युक्त, सर्वश्रेष्ठ प्रजाजन हो। वेदोक्त राजगुणोचित गुणों वाला जन-सामान्य भी राजपद प्राप्त करता था। और यदि कोई वंशानुगत राजा अहंकारग्रस्त होकर मर्यादाओं को तोड़कर राष्ट्र को दुःख सागर में डुबोकर प्रजा को पीड़ित करता था तब उसके स्थान में प्रजा में से किसी योग्यत्तम व्यक्ति को प्रजा के अनुमोदन से राजा बना दिया जाता था। यहाँ एक विशिष्ट प्रश्न यह उठता है कि राजा का निर्वाचन किस रीति से होता था? सभी प्रजाजनों से या किसी समिति, परिषद् या सभा द्वारा? वेदमन्त्रों में प्रायः यह संदेश मिलता है कि राष्ट्र में सामान्यजन हों, विशिष्टवर्ग हों विद्वान हों गरीब-अमीर सब को समानरूप से राजा के निर्वाचन प्रक्रिया से चयनित राजा के सामने राजा पुरोहित विनम्रता से कहता है कि तुम प्रजा से चयनित हो स्थिर होकर शासन करो, कर्तव्यों का पालन करो और प्रजा को सन्तोषप्रद श्रेष्ठ कार्यों को सिद्ध करो तथा सभी को सुखी करो जिससे पुनरपि प्रजा का तुममें विश्वास पैदा हो। अशुभकर्मों के फलीभूत कदापि तुम राजपद से हटा न दिए जाओ।

यजुर्वेद के ही एक मन्त्र में राजपुरोहित विमल मन से राजा के राज्याभिषेक के समय कहता है- हे राजन्! निर्वाचनाधिकारी मैं तुम को अब राष्ट्र के समस्त स्त्री-पुरुषों की भुजाओं के द्वारा तथा कृषक वर्ग के हाथों से वरण करता हूँ। यथा-

---

1 अथर्ववेद, 8/4/12, यजु०, 19/77

2 यजुर्वेद, 12/11

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां
पूष्णो हस्ताभ्याम्।[1]

सभी प्रजाजनों के मताधिक्य से राजपदारुढ़ प्रजाप्रिय राजा को प्रशस्तिमय वचनों से अभिनन्दन करते हुए कहते हैं कि तुम ही हमारे नेता हो। पूर्ववर्ती राजाओं के यशः शरीर से लोक में अधिष्ठित नृपतियों के पवित्र आचरण को आचरण में ग्रहण कर और सभी प्रकार से अभ्युदयकारी राजप्रथा का विस्तार कर। नीति में निपुण, धार्मिक, विद्वान् जैसा निर्देश दें वैसा आचरण कर।[2]

राज्याभिषेक के समय विशिष्ट विद्वान् राजा को राजपद प्रदान करते हैं। और उन विशिष्ट विद्वानों से अभिषिक्त हुए राजा को कहते हैं कि जो वसु के समान, रुद्र के समान और आदित्य के समान विद्वान तेजस्वि और जितेन्द्रिय के हाथों में राष्ट्र समर्पित कर दिया है यथा–

वसवो रुद्र आदित्या उपरिस्पृशमोग्रं
चेत्तारमधिराजकम्।।[3]

एक मन्त्र में राजा को अभिलक्षित करके कहा गया है कि हे राजन्! तुम जिन द्वारा सम्राटपद पर अभिषिक्त हुए हो वे ज्ञानी, विद्वान् विमल बुद्धि वाले लोग हैं जिन्होंने तुम्हारा वरण राजा के रूप में किया है। यथा–

त्वामग्ने वृणुते ब्राह्मणा इमे शिवोअग्ने संवरणे भवा नः।
सपत्नहाग्ने अभिमतिजिद्भव स्वेगये जागृह्य प्रयुच्छन्।।

---

1 आददे, यजुर्वेद, 6/11

2 यजुर्वेद, 6/2

3 यजुर्वेद, 34/46

इस निर्वाचन प्रक्रिया में जहाँ विद्वानों का महत्व दर्शाया गया है वहीं जन-सामान्य का महत्व भी कम नहीं दर्शाया गया है वेदमन्त्रों में मिलता है कि राजपद की प्राप्ति के लिए कोई प्रत्याशी प्रजाजनों के समीप जाकर कहता है कि जो कैवर्त हैं, बढ़ई हैं, लोहकार, स्वर्णकार हैं, चर्मकार हैं, श्रमिक, जो बुद्धिजीवि मनस्वी लोग है, जो धनी लोग है। और जो ग्रामीण लोग है वे सभी मेरे में विश्वास प्रकट करते हुए मेरा वरण करे। यथा-

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीनपर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥[1]

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीनपर्ण मध्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥[2]

इसी प्रकार प्रजाओं से निर्वाचित हुए अन्य स्व सहायक सदस्यों से कहता है कि हे! सदस्यों तुम सभी! राजधर्म को जानने वाले हैं, अतः राज्य को स्थिर करने के लिए, न्यायवृत्ति का पालन कराने के लिए और प्रजा को सुखी करने के लिए तुम सब मेरा समर्थन करो। यथा-

अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहार्थेतहार्थेत स्थे राष्ट्रदा।
राष्ट्रममुष्मै दत्तौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त॥[3]

राजा के निर्वाचन में कुछ समीतियों सभाओं का महत्व दर्शाया गया है समिति के सदस्यों का सहाय्य पाकर राजा प्रतिष्ठित होता है। वैदिक दृष्टि से सदस्यों और अथवा विद्वत्गणों से समर्थित राजा राजपद को प्राप्त करता है-

जैसे अथर्ववेद में कहा गया है-

---

1 अथर्वेद, 3/5/6

2 अथर्वेद, 3/5/7

3 यजुर्वेद, 10/3

पथ्या रेवती बहुधा विश्वरूपाःसर्वाः संगत्यं वरीयस्ते अक्रन्।

तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह॥[1]

VIII. राजसूय यज्ञ द्वारा राज्याभिषेक

वेदों में राजाओं का राजसूय (सोम अभिषव) के द्वारा राज्याभिषेक का पर्याप्त वर्णन मिलता है पुरोहितों के द्वारा प्रस्तावित, विद्वानों के द्वारा अनुमोदित, राज्यपरिषद् से समर्थित, प्रजा के द्वारा निर्वाचित राजा सोल्लास राजसूय यज्ञ किया करते थे। ऋग्वेद में बहुत से मन्त्र हैं जिनमें अभिषेक का प्रकार वर्णित है। अभिषेक के समय राजपुरोहित राजा को बहुत से विशेषणों से सम्बोधित करते हुए अभिषिञ्चन किया करता था। जैसे –

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्य्यस्य।

वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यतिदिद्यून् पाहि॥[2]

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवास पर्वता इमे।

ध्रुवं विश्वमिंद जगद् ध्रुवो राजा विश्वामयम्॥[3]

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।

ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयता ध्रुवम्॥[4]

इहैवैधि मापच्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।

इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुधारय॥[5]

और राजसूय के अवसर पर राजा को श्रेष्ठ कर्मों में प्रेरित करने का भी विधान है–

---

1 अथर्वेद, 3/4/7

2 यजु०, 10/17

3 ऋग्वेद, 10/173/4 – 10/173/4

4 ऋग्वेद, 10/173/5 – 10/173/5

5 ऋग्वेद, 10.173/7 – 10/173/7

अर्य्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय।[1]

विद्वानों से आवृत राजा कहता है कि मुझमें सोम की, इन्द्र की और बृहस्पति की वृति का विकास हो जिससे मैं देवरूप हो जाऊँ।

सोमस्य राज्ञोवरुणस्यधर्मणिबृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशा अभक्षपयम्।।[2]

इससे प्रतीत होता है कि राजा में सोमरस के समान सोम्यता, वरुण के समान दुष्टो की दमनकारिता, बृहस्पति के समान वाक्पतित्व, वसुमती के समान स्थिरता, इन्द्र के तुल्य ऐश्वर्य और अनुशासन, अग्नि के समान तेजस्वित्व और वायु के सामन प्राणसञ्चारकत्व के गुण अपेक्षणीय होते थे। राजसूय के अवसर पर राजा देवगुणों से अपने आपकों प्रकाशित करता हुआ प्रार्थना करता है कि मैं तेजस में सविता के तुल्य, वाणी में सरस्वती के तुल्य, रूप में इन्द्रवत्, ब्रह्मवचर्स में बृहस्पति के समान, ओज में वरुण के समान, ऊष्मा से अग्निवत्, प्रहलाद करने वाली राजवृति में सोम के तुल्य और व्यापकत्व में विष्णु का अनुकरण करुंगा। यथा–

सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैःपूष्णापशुभिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेन ओजसाग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि।[3]

इस प्रकार वेदों में राजसूय यज्ञ राजा के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण होता था। इस अवसर पर राजा अपने अन्दर सद्गुणों का आधान करता था।

---

[1] यजु०, 1/27

[2] ऋग्वेद, 10.167.3

[3] यजु०, 10/30

IX. अंगीभाव से वेदों में राजसूय यज्ञ वेदों में परमेश्वर को यज्ञ रूप कहा गया है उस यज्ञरूप परमात्मा के द्वारा यह सम्पूर्ण सगत्, सभी विद्याएं, सब वेद, सब ऋचाएं और सभी प्राणी निर्मित हुए हैं। जैसे-

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये।।[1]

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।[2]

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।।[3]

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।।[4]

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्।।[5]

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवाः।।[6]

---

1 यजु० 31/6

2 यजु०, 31/7

3 यजु० 31/9

4 यजु० 31/14

5 यजु० 31/15

6 यजु० 31/16

ये मन्त्र यज्ञ शब्द से राजसूय यज्ञ का अंगीभूत यज्ञ अग्निहोत्र और ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध अविच्छिन्न रूप से प्रकट करते हैं। और जो लोग अग्निहोत्र को करते हैं उन्हें इच्छित सुख की प्राप्ति होती है।

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आद्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे।।[1]

अधिक क्या ऋग्वेद का प्रारम्भ ही अग्निहोत्र से होता है –

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातम्।।[2]

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवान् एह वक्षति।।[3]

अग्निहोत्र पद्धति के प्रसारक और रक्षक राजा ही होते थे राजा का ही यह कर्तव्य होता था कि प्रजा के अभ्युदय के लिए अग्निहोत्र का रक्षण करें। जैसे–

राजा त्वर्थान् समाहृत्य कुर्यादिन्द्र महोत्सवम्।
प्रीणितो मेघवाहस्तु महतीं वृष्टिं समावहत्।।

गीता का यह वचन यजुर्वेद के "देहि में ददामि ते"[4]

इस वचन से पारस्परिक विनिमय की ही अभिव्यक्ति करते हैं। यज्ञ को ब्राह्मण्ड के आधार के रूप में वर्णित किया गया है।

---

1 अथर्ववेद, 1/14/4

2 ऋग्वेद, 1/1/1

3 ऋग्वेद, 1/1/2

4 यजुर्वेद, 3/50

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।[1]

राजसूय के साधनभूत अग्निहोत्र के समय जो वैदिक मन्त्रोच्चारण किया जाता है उनमें सुख और धन-धान्य प्राप्ति की कामना ही की जाती है। यथा-

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानिपरिताबभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥[2]

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः।
स देवानांमधिपति र्बभूव सो अस्मासु द्रविणमादधातु॥[3]

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो भूत्।[4] **मतिश्च सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।**[5]

यजमान जब अग्निहोत्र काल में अग्नि में मन्त्रों से आहुति देता है तब वह पाप विनाश व प्रायश्चित हेतु शुद्धि के लिए यज्ञ करता है। जैसे-

यद्ग्रामे यद् अरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदेवयज्ञामहे स्वाहा।[6]

इस प्रकार हम देखते हैं कि चारो वेद संहिताओं में राजसूय महायज्ञ वर्णित है किन्तु प्रत्यक्ष 'राजसूय' शब्द से वर्णन चारों वेदों में केवल अथर्ववेद के निम्नलिखत मन्त्रों में ही मिलता है-

---

[1] ऋग्वेद, 1/164/35

[2] ऋग्वेद, 10.121.10

[3] अथर्ववेद, 6.5.2

[4] ऋग्वेद, 3.32.12

[5] अथर्ववेद, 7/5/2

[6] यजु०, 3.45

1. **भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव।**
तस्यमृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राजन्यमनुमन्यतामिदम्॥[1]

राजसूययज्ञोपदेशः-राजतिलक यज्ञ का उपदेश।।

भावार्थ : (भूतः) विभूति वा ऐश्वर्य वाला पुरुष (भूतेषु) सब स्थावर जंगम पदार्थों में (पयः) दूध, अन्न जल आदि (आ) अच्छे प्रकार (दधाति) धारणा करता है, (सः) वही (भूतानाम्) प्राणी और अप्राणियों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता (बभूव) हुआ है। (मुत्युः) मृत्यु (मारणासामर्थ्य) (तस्य) उसके (राजसूयम्) राजतिलक यज्ञ में (चरति) अनुचर होता है। (सः राजा) वह राजा (इदम् राज्यम्) इस राज्य को (अनु मन्यातम्) अङ्गीकार करे ।।1।।

भावार्थः - जिस प्रतापी पुरुष को विद्वान् पुरुषों ने राजा बनाया है, वह अपनी बुद्धि, नीति और वीरता से प्रजा के प्राण और धन की रक्षा करता है, और वही शिष्टों का पालन करके मृत्यु से बचाता और दुष्टों को दण्ड देकर मारता है ।।1।।

2. **सहस्त्रार्धःशत्रकाण्डः पयस्वानपानमग्निर्वीरुधां राजसूयम्।**
स नोऽयं दर्भः परिपातु विश्वतो देवो मणिरायषासं सृजाति नः॥[2]

भावार्थ :- (सहस्त्रार्धः) सहस्त्रों पूजा वाला, (शतकाण्डः) सैकड़ों सहारे देने वाला, (पयरूवान्) अन्नवाला, (अपाम्) जलों की (अग्निः) अग्नि (के समान व्यापक) (वीरुधाम्) ओषधियों के (राजसूयम्) राजसूय (बड़े यज्ञ के समान उपकारी) है। (सः अयम्) वही (दर्भ) दर्भ (शत्रुविदारक परमेश्वर) (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (परि पातु) पालता रहे, (देवः) प्रकाशमान (मणिः) प्रशंसनीय (वर पमेश्वर) (नः) हमें (आयुषा) (उत्तम) जीवन के साथ (सं सृजाति) संयुक्त करें ।।1।।

भावार्थः - जो जल के भीतर अग्नि के समान सर्वव्यापक परमेश्वर सृष्टि की अनेक प्रकार रक्षा करता है, मनुष्य उसकी भक्ति से प्रयत्नपूर्वक अपने जीवन को सुफल बनायें ।।1।।

* * *

---

[1] अथर्व, काण्ड-4, सूक्त-8, मन्त्र-1

[2] अथर्ववेद, काण्ड-19, सूक्त-33, मन्त्र-1

तृतीय अध्याय
ब्राह्मण ग्रन्थों में राजसूय यज्ञ

वैदिक संहिताओं के पश्चात् एक विशिष्ट साहित्यिक प्रकार के ब्रह्मसम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण हुआ। ये ग्रन्थ ही ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाए। इन ग्रन्थों की यह विशेषता है कि वे गद्यगत हैं और उनकी विषय-वस्तु की विशेषता यह है कि ये याज्ञिक कृत्यों का विवेचन करते हैं। ब्राह्मणों का उद्देश्य उन्हीं व्यक्तियों के लिए यज्ञ की पावन महत्ता का व्याख्यान करना है, जो यज्ञ की विधि एवं कृत्यों से पूर्व परिचित है। मैकडॉनल का कथन है कि विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध धार्मिक ग्रन्थों में प्राचीन होने के कारण ये ब्राह्मण ग्रन्थ विश्व-धर्म के लिए अत्यन्त उपादेय है तथा इनमें प्राचीन भारत की परिस्थिति के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है।[1]

I. ब्राह्मण शब्द का अर्थ

'ब्रह्मन्' शब्द से अण् प्रत्यय होने पर ब्राह्मण शब्द व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार ब्राह्मण शब्द का अर्थ है - **ब्रह्मणोऽयमिति ब्राह्मणः** अर्थात् ब्रह्म से सम्बद्ध ब्राह्मण कहलाता है। आपस्तम्ब ने मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को 'वेद' कहा है।[2] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार **ब्रह्म वै मन्त्र**[3] अर्थात् ब्रह्म शब्द का अर्थ वेदमन्त्र और यज्ञ दोनों से है। भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में ब्राह्मण शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है। कर्मकाण्ड और उससे सम्बन्धित मन्त्रों की व्याख्या जिन ग्रन्थों के अन्तर्गत मिलती है, उसे ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं।[4]

---

1 संस्कृत साहित्य का इतिहास, मैकडॉनल, पृ० 27.

2 मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः।
आपस्तम्बपरिभाषा, 31.

3 शत०ब्रा०, 7.1.1.5.

4 ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तंमन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः।
तैत्तिरीयसंहिताभाष्य, भट्टभास्कर, 1.5.1.

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ सम्बन्धी क्रिया की व्याख्या में भी ब्राह्मण शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'दूरोहण' शब्द का व्याख्यान पाया जाता है जो यज्ञ क्रिया से सम्बन्धित है।[1] ब्राह्मणों में यज्ञों की विस्तृत विवेचना, कर्मकाण्डीय विधि-विधानों की व्याख्या तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार किया गया है।

II. ब्राह्मण ग्रन्थों का काल

ब्राह्मण ग्रन्थों का काल-निर्धारण यह प्रश्न उतना ही कठिन है जितना की संहिताओं के काल-निर्धारण का प्रश्न। अतः निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना उस समय हुई होगी, जब ऋग्वेद के सूक्तों की रचना हुए सुदीर्घ काल बीत चुका था। ब्राह्मणों से हमें उस युग की सूचना मिलती है, जब सम्पूर्ण बौद्धिक क्रिया यज्ञ, यज्ञसम्बन्धी उत्सवों, यज्ञ के महत्त्व निर्धारण और यज्ञ की उत्पत्ति सम्बन्धि विचारों पर केन्द्रित थी। यद्यपि सभी ब्राह्मणों के वर्ण्य विषय में प्रायशः साम्य है, परन्तु फिर भी उनके रचना काल में अन्तर है। सम्पूर्ण ब्राह्मण साहित्य का निर्माण शताब्दियों की अवधि में सम्पन्न हुआ था।

ब्राह्मण ग्रन्थों में बौद्ध-धर्म का कोई भी संकेत नहीं मिलता जबकि बौद्ध-साहित्य ब्राह्मण-साहित्य के पूर्व अस्तित्व को संकेतित करता है। अतः ब्राह्मण-ग्रन्थों का उद्गम व विकास ऋग्वेद काल के बाद तथा बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव के पूर्व हुआ है।

मैक्समूलर ने समस्त वैदिक वाङ्मय को चार भागों में विभाजित कर प्रत्येक के साहित्य-निर्माण एवं विकास के लिए दो सौ वर्षों का अन्तराल माना है -

(i) छन्दः काल - 1000-1200 ई०पू०

(ii) मन्त्र काल - 800-1000 ई०पू०

(iii) ब्राह्मण काल - 600-800 ई०पू०

---

[1] दूरोहणं रोहति कर्मणस्तंमन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः।

ऐतरेय ब्राह्मण, 6.29.90

(iv) सूत्र काल - 400-600 ई०पू०[1]

इस प्रकार सूत्र काल ब्राह्मण काल के पश्चात् एवं बौद्ध धर्म के उत्थान के प्रभातकाल में माना गया है और सूत्रकाल से दो सौ वर्ष पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन हो चुका था, क्योंकि दो सौ वर्षों के अन्तराल में विचार, साहित्य और यज्ञ-परम्पराओं में पर्याप्त विकास हो गया था। अतः मैक्समूलर के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों का रचना काल 600-800 ई०पू० माना जाता है।

बालगङ्गाधर तिलक ज्योतिष गणना के आधार पर लगभग 2500 ई०पू० समय निश्चित करते हैं।[2]

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्राह्मण साहित्य का निर्माण किसी एक समय में नहीं हुआ है। इसके विकास में कई शताब्दियाँ लगी होगी, क्योंकि ब्राह्मणकाल में ब्राह्मणों एवं पुरोहहितों का महत्त्व बढ़ गया था, सम्पूर्ण देश में ब्राह्मण संस्कृति फैली और यज्ञ प्रक्रिया का पूर्ण विकास हुआ इन सब के लिए कई शताब्दियाँ लगी होगी। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण 3000 ई०पू० से 1000 ई०पू० के मध्य माना जा सकता है। अतः यह निश्चित है कि 800 ई०पू० में ब्राह्मण-साहित्य का पूर्ण विकास हो चुका था।

III. ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय-वस्तु और विधि-विधान

ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय तीन वर्गों में विभाजित है - विधि, अर्थवाद और उपनिषद्। इनमें विधिभाग यज्ञ-विषयक प्रयोगात्मक नियमों का प्रतिपादन करता है। अर्थवाद में उपाख्यानों एवं प्रशंसात्मक कथाओं द्वारा प्रयोग-विधान का सूक्ष्म रहस्य समझाया गया है। उपनिषद् भाग में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों का विवेचन है। वाचस्पति मिश्र ने मन्त्रों

---

1 संस्कृत साहित्य का इतिहास, मैक्समूलर, इलाहाबाद

2 वैदिक साहित्य का इतिहास, डॉ० पारसनाथ द्विवेदी, पृ० 120.

का विनियोग-निर्वचन, प्रयोजन अर्थवाद तथा विधि को ब्राह्मणों ग्रन्थों का प्रतिपाद्य बताया है।[1] शबरस्वामी ने शाबरभाष्य में दस विधियों का उल्लेख करते हुए कहा है -

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परिक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु।।[2]

इनमें निन्दा और प्रशंसा का अर्थवाद में सन्निवेश है। परिक्रिया और पुराकल्प दोनों का समावेश आख्यान के अन्तर्गत है। शेष नियमों का विधि में सन्निवेश है। इस प्रकार ब्राह्मणों के तीन विषय ही मुख्य हैं - विधि, अर्थवाद और आख्यान।

(क) विधि

विधि के अन्तर्गत यज्ञीय विधियों एवं अनुष्ठानों का निरूपण है। जैसे - ताण्ड्यब्राह्मण में 'बहिष् पवमान' के लिए अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्‌गाता, प्रतिहर्ता और ब्रह्मा इन पाँचों ऋत्विजों के प्रसर्पण का विधान है। इनमें क्रमशः एक को दूसरे के पीछे पंक्ति में चलने का नियम है और नियम के टूट जाने पर हानि की सम्भावना बनी रहती है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञीय विधि-विधानों का भण्डार है, उदाहरणगत - जल का स्पर्श क्यों किया जाता है? पुरुष असत्य बोलता है, अतः वह अपवित्र है। उसकी आन्तरिक पवित्रता भी प्रभावित हो जाती है। जल पवित्र है, अतः उसके स्पर्श से वह अशुद्ध से शुद्धान्तःकरण हो जाता है।[3] पुनः ताण्डय ब्राह्मण में कहा **एतद्वाचश्छिद्रं यदनृतम्**[4] अर्थात् यह वाणी का छिद्र है, जो असत्य है। जिस

---

1 वै०सा० इतिहास, वाचस्पति मिश्र, पृ० 175.

2 वै०सा० इतिहास, वाचस्पति मिश्र, पृ० 117.

3 अमेध्यो वै पुरुषः यदनृत वदति तेन पूतिरूतर्तः। मेध्या वा आपः। मेध्या भूत्वा ब्रतमुपायानीति। पवित्र वा आथः। पवित्रपूता व्रतमुपायानीति तस्माद्वापः उपस्पृशन्ति।
शतपथ ब्राह्मण, 3.1.3.18.

4 ताण्ड्य ब्राह्मण, 8.6.13.

प्रकार छिद्र में से सब कुछ गिर जाता है, उसी प्रकार अनृतवादी की वाणी में से सब कुछ गिर जाता है। उसके शब्दों में कोई शब्द प्रभाव नहीं रहता।

(ख) विनियोग

ब्राह्मणों में मन्त्रों के विनियोग का भी विधान बताया गया है। विनियोग में 'किस मन्त्र का प्रयोग किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया जाय' इसका सयुक्तिक विवेचन होता है। जैसे - **आ नो मित्रावरुणा**[1] इस मन्त्र के गायन का विनियोग दीर्घरोगी की रोगनिवृति के लिए है, क्योंकि मित्र दिन का देवता होने से प्राण के प्रतीक होते हैं और वरुण रात्रि के देवता होने से अपान के प्रतीक माने गये हैं। अतः दीर्घ रोगी के शरीर में मित्रावरुण के रहने की प्रार्थना शरीर में प्राणापान वायु के धारण का संकेत है। अतः वह विनियोग सयुक्तिक है।

(ग) हेतु

कर्मकाण्ड की विशेष विधियों के लिए जो कारण बताये गये हैं उन्हें 'हेतु' कहते हैं। ब्राह्मणों के यज्ञीय विधि-विधान के लिए समुचित एवं योग्य कारणों का निर्देश है। जैसे अग्निष्टोम याग में उद्गाता मण्डप में उदुम्बर वृक्ष की शाखा का उच्छ्रयण करता है। इसका कारण है कि 'प्रजापति ने देवों के लिए ऊर्ज का विधान किया, उसी से उदुम्बर वृक्ष की उत्पत्ति हुई, अतः उदुम्बर का देवता प्रजापति माना गया है और उद्गाता का सम्बन्ध प्रजापति से है। इसलिए उद्गाता उदुम्बर की शाखा का उच्छ्रयण करता है।'[2] इसी प्रकार द्रोणकलश रथ के नीचे रखने का निर्देश किया है कि 'प्रजापति के प्रजा-सृष्टि की कामना करते ही उनके मस्तिष्क से आदित्य की उत्पत्ति हुई। उसी के देदीप्यमान सोमरस का पान कर देवताओं ने दीर्घायुष्य को प्राप्त किया।[3] इसी प्रकार और बहुत सी विधियों के कारणों का निर्देश ब्राह्मणों में पाया जाता है।

---

[1] वैदिक साहित्य का इतिहास,पारसनाथ द्विवेदी, पृ० 117

[2] ताण्ड्य ब्राह्मण, 6.4.1.

[3] वही, 6.5.1

(घ) अर्थवाद

अर्थवाद में उपाख्यानों एवं प्रशंसात्मक कथाओं के द्वारा यज्ञीय प्रयोगों का महत्त्व प्रतिपादित किया जाता है। किस यज्ञ-विशेष के लिए किन-किन विधियों की आवश्यता होती है और उससे किस फल की प्राप्ति होती है? इन विषयों का निर्देश अर्थवाद में आता है। इसे अतिरिक्त यज्ञ में निषिद्ध पदार्थों की निन्दा तथा विधियों, अनुष्ठानों एवं देवों के प्रशंसापरक वाक्य भी अर्थवाद की परिधि में आते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में असत्य बोलना, मांसखानादि निन्दा के योग्य माना है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रशंसावचन ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

(ङ) निर्वचन

ब्राह्मणों में स्थान-स्थान पर शब्दों के निर्वचन का भी निर्देश दिया गया है जो भाषाशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय हैं। जैसे - 'उदक' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है - **उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्येते।**[1] इसी प्रकार 'रथन्तर' शब्द की व्युपत्ति इस प्रकार है - **रथंतर्या क्षेप्लाऽतारीत् इति पद् रथन्तरस्य रथन्तरत्वम्।**[2] इसी प्रकार ब्राह्मणों में अनेक प्रकार की निरुक्तियों का निर्देश है।

(च) आख्यान

ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक रोचक एवं महत्वपूर्ण आख्यान मिलते हैं। जिनका उद्देश्य विधि-विधानो के स्वरूप की व्याख्या करना है। ये आख्यान यज्ञीय कर्मकाण्ड के हेतु आदि विधियों की स्पष्ट व्याख्या करते हैं, किन्तु कभी-कभी इन आख्यानों में बहुत सी महत्वपूर्ण बातें भी मिल जाती हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के सरस एवं सुरुचिपूर्ण बनाने में इन आख्यानों का विशेष योगदान है।

---

[1] अथर्ववेद, 3.13.1.

[2] ताण्ड्य ब्राह्मण, 7.6.4.

(छ) यज्ञ वर्णन

ब्राह्मण ग्रन्थों में मुख्यत: श्रौतयज्ञों का विस्तार से वर्णन हैं प्रधान श्रौतयज्ञ ये हैं - अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, निरूढपशुबन्ध। सात सोमक्रतु प्रसिद्ध थे - अत्यमिष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अप्तोर्याम, राजसूय और वाजपेय।[1] गृहस्थों की सात पाक संस्थाओं (यज्ञों) का भी वर्णन है। अष्टका, पार्वण, स्थालीपाक, श्राद्ध पिण्डपितृयज्ञ, आग्रहयणी, चैत्री, आश्वयुजी। इनमें वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध, पुरुषमेध पितृमेध, सर्वमेध आदि बहुत से बड़े यज्ञ हैं। एक दिन में सोमयज्ञ को एकाह और अनेक दिन के यज्ञ को अहीन कहते हैं। इनसे बड़े यज्ञों को सत्र और दीर्घसत्र कहा जाता है। इन अहीनादि सोमयज्ञों के सैकड़ों भेद थे। यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म माना जाता है।[2] ब्राह्मण तो यज्ञ की इतनी महिमा समझते हैं कि वह ब्रह्म को भी यज्ञ स्वरूप ही बताते हैं। जगत् में जो कुछ प्रत्यक्ष यज्ञस्वरूप दिखाई दे रहा है वही प्रजापति है। **एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजापतिः**[3] अर्थात् यह प्रजापति ही है जो प्रत्यक्ष यज्ञ है। संसार में जड़ जगत् में जो यज्ञ हो रहा है सूर्य उसका केन्द्र है। पञ्चमहायज्ञों का भी ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णन मिलता है।

(ज) सत्य-आचरण

मन्त्रों के समान ब्राह्मण ग्रन्थों में सत्यभाषण की महिमा पाई गई है। सत्य का बोलना, सत्य का मानना, सत्यस्वरूप और सत्यसंकल्प बनने का यत्न करना ये सब बातें वैदिक धर्म का प्रधान अङ्ग हैं।[4] वेदमन्त्रों में सत्य का बड़ा उज्ज्वल रूप वर्णन किया गया है। ब्राह्मण सत्य के विषय में कहते हैं - **अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति**[5] अर्थात् अपवित्र वह पुरुष है

---

1 वैदिक साहित्य का इतिहास, डॉ० कुँवरलाल जैन, पृ० 151.

2 यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।
शतपथ ब्राह्मण, 1.7.15.

3 शतपथ ब्राह्मण, 4.3.4.3.

4 वै०सा०इति० डॉ० कुँवरलाल जैन, पृ० 151.

5 शतपथ ब्राह्मण, 3.1.3.18.

जो झूठ बोलता है। इसी प्रकार तैतिरीयोपनिषद् में कथन है - **'सत्यं वद' 'धर्म चर'**। सत्य बोल, धर्म का आचरण कर इत्यादि।

वस्तुतः वेदमन्त्रों की सुगम व्याख्या, यज्ञीय विधि-विधानों के अतिसूक्ष्म निरूपण तथा समकालीन वैचारिक आंदोलन को दिशा प्रदान करने की भावना मुख्यतया ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य-विषय रहे हैं।

IV. ब्राह्मण ग्रन्थों की संख्या

यजुर्वेद के ऐसे स्थलों को ब्राह्मणों का नाम दिया जा सकता है जहाँ मन्त्रों तथा मन्त्राशों के साथ यज्ञ के उद्देश्य तथा अर्थ पर भी विचार किया गया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं यज्ञ सम्बन्धी सङ्केतों को लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों की स्वतंत्रत रचना की गई और कुछ समय पश्चात् वह अनुभव किया गया होगा कि प्रत्येक वैदिक सम्प्रदाय का स्वतंत्र ब्राह्मण होना चाहिए। इसलिए आज ब्राह्मणों की विशाल संख्या मिलती है और यही कारण है कि वैदिक साहित्य का कुछ अंश इसी अर्थ में ब्राह्मण न होकर वेदाङ्ग ही अधिक हैं। अथर्ववेद का गोपथब्राह्मण भी वेदाङ्ग ही अधिक है। यह ब्राह्मण वैदिक साहित्य में सबसे बाद की रचना है। प्रारम्भ में अथर्ववेद से सम्बन्धित कोई ब्राह्मण न था। वेद के साथ ब्राह्मणसत्ता की अनिवार्यता को ही इस प्रकार के ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' संज्ञा देने का श्रेय है।

इस प्रकार ब्राह्मणों की विपुल संख्या का होना स्वाभाविक है, क्योंकि चारों वेदों की विभिन्न शाखाओं के अपने स्वतंत्र ब्राह्मण अवश्य होंगे। परन्तु इनमें से बहुत से विलुप्त भी हो गए होंगे। इस समय प्राप्त ब्राह्मणों में विलुप्त ब्राह्मणों के उद्धरण मिलते हैं, जो ब्राह्मणों की संख्या के अस्तित्व को पुष्ट करते हैं। प्राप्त ब्राह्मणों की संख्या भी किसी प्रकार से कम नहीं है।

वैदिक संहिताओं की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों का वर्गीकरण
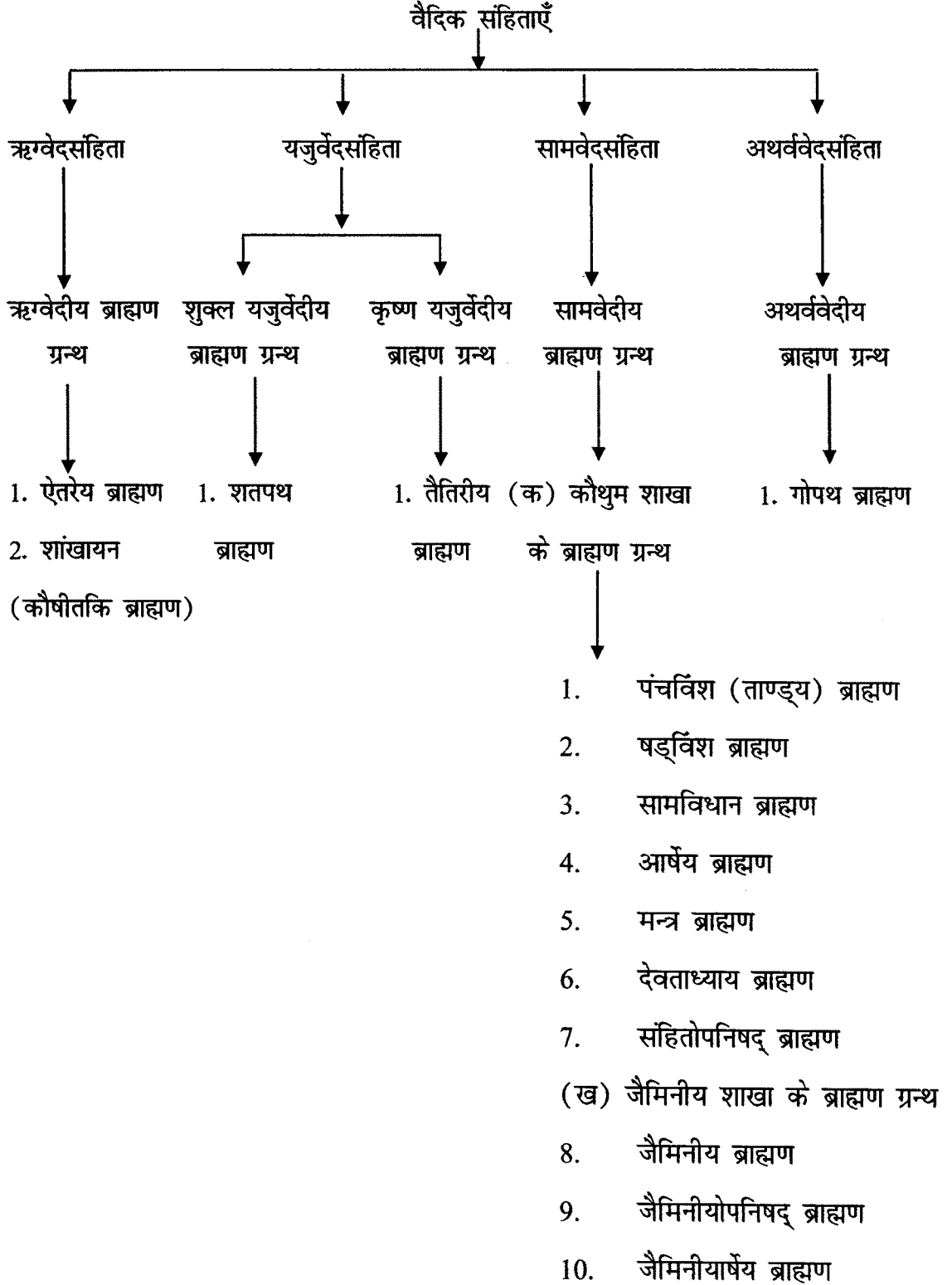
इस प्रकार वैदिक संहिताओं के पृथक्-पृथक् ब्राह्मण ग्रन्थ हैं - ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं - 1. ऐतरेय 2. कौषीतकि ब्राह्मण। यजुर्वेद संहिता के दो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। सामवेद की कौथुम शाखा के ब्राह्मण ग्रन्थ चालीस अध्यायों में विभक्त है जो अध्यापन-संख्या के क्रम से पंचविंश ब्राह्मण, उद्भुत् ब्राह्मण और जैमिनीय उपनिषद् तथा आर्षेय ब्राह्मण हैं, इनको क्रमशः आर्षेय ब्राह्मण और छान्दोग्य ब्राह्मण भी कहते हैं। अर्थववेद की नौ शाखाएँ हैं जिनमें एक ही ब्राह्मण उपलब्ध है। जिसे गोपथ ब्राह्मण के नाम से जाना जाता है।

V. ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

(क) ऐतरेय ब्राह्मण

ऐतरेय ब्राह्मण में चालीस अध्याय हैं। प्रत्येक पांच अध्यायों की एक पञ्चिका होती है। अध्यायों को खण्डों में विभाजन किया गया है। इस प्रकार ब्राह्मण में 40 अध्याय 8 पंचिकायें और 284 खण्ड हैं। पंचिकाओं के अनुसार वर्ण्यविषय इस प्रकार हैं -

पंचिका 1 तथा 2 - इनमें 'अग्निष्टोम' याग में होता के कर्तव्यों के विस्तृत वर्णन है। तथा अग्निष्टोम याग का विस्तृत विवेचन किया गया है।

पंचिका 3 तथा 4 - प्रातः मध्याह्न और सांयकालीन यज्ञों में बोले जाने वाले शास्त्रों का उल्लेख है। इनके साथ ही अग्निष्टोम की विकृतियों अर्थात् उक्थ्य, अतिरात्र और षोडशी नामक यागों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

पंचिका 5 - इसमें द्वादशाह नामक सोमयागों का वर्णन है। इसी में अग्निहोत्र का भी वर्णन है।

पंचिका 6 - इसमें कई सप्ताह चलने वाले सोमयागों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त ऋत्विजों के कार्यों का विवेचन तथा बाल्यखिल्य आदि खिलसूक्तों की विशद समीक्षा है।

पंचिका 7 - इसका मुख्य विषय राजसूय याग है। इसके तृतीय अध्याय में प्रसिद्ध शुनःशेप उपाख्यान है जो **'चरैवेति चरैवेति'** गाथाओं के कारण विख्यात है।

पंचिका 8 – इसके प्रथम दो अध्यायों में राजसूय याग का ही वर्णन है। अन्तिम तीन अध्याय सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तृतीय और चुतर्थ अध्याय में दस प्रकार की शासन पद्धतियों का विस्तृत वर्णन है। अन्तिम अध्याय में पुरोहित के धार्मिक और राजनीतिक महत्त्व का प्रतिपादन है। इसमें शत्रुनाशार्थ एक अद्भुत् 'ब्रह्मापमिर' नामक प्रयोग का वर्णन है जिसमें ब्रह्म के अन्तर्गत विद्युत, वृष्टि, सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का समावेश वर्णित है।

(ख) शांखायन ब्राह्मण

शांखायन ब्राह्मण में 30 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय खण्डों में विभाजित है। इन खण्डों की संख्या 4 से लेकर 17 तक हैं। सम्पूर्ण खण्डों की संख्या 266 है। खण्डों में लम्बे गद्य हैं। गद्य में कई स्थानों पर कौषीतकि का उल्लेख है और उनका मत दिया गया है।

अध्याय-1 : अग्न्याधान

अध्याय-2 : अग्निहोत्र

अध्याय-3 : दर्श और पूर्णमासेष्टि यज्ञ

अध्याय-4 : अनुनिर्वोप्या, अभ्युदिता, अभ्युदृष्टा आदि एकादश विशेष इष्टियाँ

अध्याय-5 : चातुर्मास्य-यज्ञ

अध्याय-6 : ब्रह्मा के कर्तव्य, हविर्यज्ञ

अध्याय-7 : सोमयज्ञ का विस्तृत वर्णन

सोमयागों में अध्याय 8 में अतिथि सत्कार, अध्याय 12 में अपोनपत्रीय यज्ञ के आज्य, प्रयाग और अध्याय 15 में मरुत्वतीय शस्त्रों का वर्णन, अध्याय 22 और 23 में पंद्रह षडह के आज्य, प्रयाग और अध्याय 26 में गवामयन और छन्दोमय शस्त्र का वर्णन, अध्याय 28 में प्रैष, अनुप्रैष और निगदों का वर्णन अध्याय 30 में नाभानेदिष्ठ, नाराशंस, बालखिल्य, दधिक्रम एवयामरुत्, अतिरात्र, वाजपेय और आप्तोर्यामा का भी वर्णन है।

VI. यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

(क) शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन)

माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में 14 काण्ड, 100 अध्याय, 438 ब्राह्मण और 7624 कण्डिकाएँ हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ 14 भागों में विभक्त हैं इन्हें काण्ड कहते हैं । काण्डों में उपविभाग हैं, इन्हें कण्डिका कहते हैं। इस प्रकार इसके संदर्भ-निर्देश के लिए चार संख्याएँ होती हैं - काण्ड, अध्याय, ब्राह्मण और कण्डिका। इसका प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है -

काण्ड-1 : दर्श और पूर्णमास संज्ञक इष्टि याग।

काण्ड-2 : अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, दाक्षायण-याग, नवान्नेष्टि चातुर्मास्य याग।

काण्ड-3,4 : सोमयाग।

काण्ड-5 : वाजपेय और राजसूय याग।

काण्ड-6 : सृष्टि-उत्पत्ति, चयन-निरुपण।

काण्ड-7,8 : चयन-निरूपण, वेदि-निर्माण।

काण्ड-9 : चयन-निरूपण, शतरुद्रिय होम, राष्ट्रभृत होम।

काण्ड-10 : चयननिरूपण, छोटी और बड़ी वेदियों का निर्माण।

काण्ड-11 : दर्श-पूर्णमास, दाक्षायण-यज्ञ, उपनयन, पञ्चमहायज्ञ, स्वाध्याय-प्रशंसा।

काण्ड-12 : द्वादशाह, संवत्सर सत्र, ज्योतिष्टोम, सौत्रामणि याग, प्रायश्चित।

काण्ड-13 : अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, दशरात्र, पितृमेध।

काण्ड-14 : प्रवर्ग्य-याग, ब्रह्मविद्या, बृहदारण्यकोपनिषद्।

(ख) शतपथ ब्राह्मण (काण्व)

काण्व शतपथ ब्राह्मण में माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण से कुछ क्रम-विन्यास में अन्तर है। इसमें 17 काण्ड, 104 अध्याय, 435 ब्राह्मण और 6806 कण्डिकाएँ हैं। माध्यन्दिन के काण्ड 2 का वर्ण्य-विषय काण्ड 1 में कर दिया गया है और उसके काण्ड 1 का विषय इसके काण्ड 2 में है। शतपथ-ब्राह्मण का वर्ण्य-विषय काण्डों के अनुसार इस प्रकार है -

काण्ड-1 : अग्निहोत्र, नवान्न इष्टि (आग्रयण इष्टि, दाक्षायण, चातुर्मास्य)

काण्ड-2 : दर्श और पूर्णमास याग।

काण्ड-3 : अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास यागों का अर्थवाद।

काण्ड-4-5 : सोमयाग।

काण्ड-6-7 : वाजपेय और राजसूय।

काण्ड-8 : उखासंभरण।

काण्ड-9-12 : 12 विभिन्न चयन याग।

काण्ड-13 : आधानकाल, पथिकृत्, शंयुवाक्, ब्रह्मचर्य, दर्शपूर्णमास।

काण्ड-14 : सौत्रामणि, प्रायश्चित्।

काण्ड-15 : अश्वमेध।

काण्ड-16 : प्रवर्ग्ययाग।

काण्ड-17 : बृहदराण्यक उपनिषद्, ब्रह्मविद्या।

(ग) तैत्तिरीय ब्राह्मण

कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा का एकमात्र यही ब्राह्मण संप्रति पूरा उपलब्ध है। यह तीन काण्डों में विभक्त है। प्रथम और द्वितीय काण्ड में 8-8 अध्याय या प्रपाठक हैं। तृतीय काण्ड में 12 अध्याय हैं। इनमें उपखंडों को 'अनुवाक' कहते हैं। इनकी संख्या 353 है। काण्डों के अनुसार प्रतिपाद्य विषय निम्नलिखित है -

काण्ड-1 : अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि और राजसूय याग।

काण्ड-2 : अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणि, बृहस्पति, सव, वैश्व सव आदि।

काण्ड-3 : नक्षत्रेष्टियाँ और पुरुषमेध।

VII. सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

(क) ताण्ड्यमहाब्राह्मण

ताण्ड्य ब्राह्मण को 25 अध्यायों में विभक्त किया गया है, अतः इसे 'पंचविंश' ब्राह्मण कहते हैं। विषय-विवेचन की प्रौढ़ता के कारण इसे 'प्रौढ़ ब्राह्मण' भी कहते हैं। इसमें ज्योतिष्टोम से प्रारम्भ करके एक हजार वर्ष तक चलने वाले सामयागों का वर्णन है। इसमें इसी के अन्तर्गत स्तोत्र, स्तोम, उनकी विष्टुतियों आदि का विस्तृत वर्णन है। यह उद्गाता के कार्यों की विस्तृत विवेचना के कारण आदरणीय ब्राह्मण माना जाता है। अध्यायों के अनुसार प्रतिपाद्य विषय निम्न क्रमानुसार है –

अध्याय-1 : उद्गाता के लिए पठनीय मन्त्रों का निर्देश।

अध्याय-2-3 : त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश आदि स्तोत्रों की विष्टुतियाँ।

अध्याय-4-5 : वर्ष भर चलने वाले 'गवामयन' याग का वर्णन।

अध्याय-6-9 : 12वें खण्ड तक ज्योतिष्टोम, उक्थ्य और अतिरात्र का वर्णन है तत्पश्चात् 12 खण्डों में विभिन्न प्रायश्चित सम्बन्धी विधियाँ हैं।

अध्याय-10-15 : द्वादशाह यागों का वर्णन।

अध्याय-16-19 : एकाह यागों का वर्णन।

अध्याय-20-22 : अहीन यागों का वर्णन।

अध्याय-23-25 : सत्र यागों का वर्णन।

इसमें कुल 170 यागों का वर्णन है। अहीन याग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों के लिए हैं। इसमें अनेक यजमान हो सकते हैं। दक्षिणा दी जाती है। सत्रयाग में ब्राह्मण यजमान होते हैं तथा दक्षिणा नहीं दी जाती। यह याग 13 दिन से लेकर वर्षों तक चलता है। यह सोमयाग का ही एक अंग है जिसमें 17 से 24 यजमान हो सकते हैं।

(ख) षड्विंश ब्राह्मण

यह कौथुमशाखीय सामवेद का महत्वपूर्ण ब्राह्मण है जिसे पंचविंश (ताण्ड्य) ब्राह्मण का ही परिशिष्ट समझा जाता है। ताण्ड्य ब्राह्मण में सोमयाग के जिन विषयों का विवेचन नहीं हुआ है उनका इसमें विवेचन किया गया है।

षड्विंश ब्राह्मण में 26 अध्याय हैं जिनके अवान्तर भेद या खण्ड हैं। इसके प्रथम पांच अध्यायों में यज्ञ का ही विषय वर्णित है। अन्तिम अध्याय को अद्भुत् ब्राह्मण कहते हैं। इसमें भूकम्प, अतिवृष्टि, अकाल, अनिष्ट, कुस्वप्न और अपशकुनों आदि के साथ ही विभिन्न उत्पातों की शान्ति के लिए विभिन्न यागों का वर्णन किया गया है। यह ब्राह्मण तत्कालीन मान्यताओं, प्रथाओं आदि के ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है। इसके प्रथम अध्याय में 'सुब्रह्मण्या' ऋचा का विशेष वर्णन है। इसके साथ-साथ भूः भुवः और स्वः इन तीन महाव्याहृतियों से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की उत्पत्ति का वर्णन है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ से हमें यह भी ज्ञात होता है कि अभिचार यज्ञों के समय ऋत्विज् लाल पगड़ी और लाल धोती पहनते थे।[1] ब्राह्मणों का सन्ध्योपासना समय अहोरात्र की सन्धि अर्थात् प्रातः और सांय सन्धिबेला बतलाया गया है।[2] षड्विंश ब्राह्मण में यज्ञिय विधानों के प्रसंग में आख्यायिकाएँ आयी हैं। इसमें प्राप्त इन्द्र और अहल्या वाला आख्यान बहुत प्रसिद्ध है।

(ग) सामविधान ब्राह्मण

प्रतिपाद्य की दृष्टि से यह ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों से सर्वथा भिन्न है। इसमें जादू-टोने से संबद्ध सामग्री के साथ-साथ विभिन्न उपद्रवों की शान्ति के लिए आगमन के साथ ही विभिन्न अनुष्ठानों का वर्णन है। सामविधान ब्राह्मण मे श्रौतयागों के साथ ही प्रायश्चित विधान, कृच्छ्रादि व्रत, काम्य याग और अभिचार कर्मों का भी वर्णन है। यह ग्रन्थ तीन प्रपाठक और 25 अनुवाकों में विभक्त है जिसमें वर्णित विषय इस प्रकार हैं –

प्रपाठक 1 – प्रजापति से सृष्टि की उत्पत्ति, सामप्रशंसा, सामस्वरों के देवता, देवों के लिए यज्ञ, कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र व्रतों का वर्णन, स्वाध्याय और अग्न्याधान के नियम, दर्शपूर्णमास,

---

[1] लोहितोष्णीषा लोहितवाससो निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति।

षड्विंश ब्राह्मण, 4.22

[2] तस्माद् ब्राह्मणोऽहोवरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते।

वही, 5.5.4.

अग्निहोत्र, सौत्रामणि याग, श्रौतसूत्रों के साथ देव-प्रीत्यर्थ सामगान, विभिन्न पापों के लिए प्रायश्चितों का वर्णन है।

प्रपाठक 2 और 3 - इसमें काम्य कर्म, रोग निवृति एवं क्षेम के लिए विभिन्न प्रयोग, अभीष्टसिद्धि, राज्याभिषेक, अभिचार-शान्ति, युद्ध विजय आदि के लिए विभिन्न प्रयोग दिए गये हैं। अन्त में साम सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्यों का वर्णन, अध्ययन के अधिकारी तथा दक्षिणा का वर्णन है।

(घ) आर्षेय ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में तीन प्रपाठक हैं जो 82 खण्डों में विभिक्त हैं। सामगान के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह ब्राह्मण विशेष उपयोगी है। सामगानों के चार प्रकार में से केवल दो प्रकार के गानों का वर्णन है - ग्रामगेय और अरण्यगेय। सामगानों के नामकरण में पांच आधारों पर सामगानों की पाँच कोटियाँ हो गई हैं। ये पाँच आधार हैं -

1. उन ऋषियों के नामों के आधार पर जिन्होंने उनका साक्षात्कार किया।
2. ऋचा के प्रारम्भिक पदों के आधार पर।
3. गान के अन्तिम भाग के आधार पर।
4. प्रयोजन के आधार पर।
5. इनसे भिन्न अन्य आधार पर।

आर्षेय ब्राह्मण ऋषि के नाम के साथ-साथ उनके गोत्र का उल्लेख करता है जैसे हविष्मत् गान के ऋषि हैं - हविष्मान्। इनका संबंध अंगिरा गोत्र से है।

अधिकांश विद्वानों का मत है कि आर्षेय और देवताध्याय ब्राह्मण एक ही ग्रन्थ के दो भाग हैं। एक में सामगान के ऋषियों का और दूसरे में देवों का वर्णन है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में ग्रामगेय गानों का उल्लेख सामवेद संहिता के क्रम से है।

(ङ) देवताध्याय ब्राह्मण

देवताध्याय ब्राह्मण अत्यन्त लघु और सूत्र शैली में निबद्ध है इसमें चार खण्ड हैं जो सामगनों के देवताओं से विशेष रूप से सम्बद्ध हैं। खण्डों के अनुसार वर्ण्य विषय इस प्रकार है –

खण्ड 1 : विभिन्न सामों से सम्बन्धित देवताओं का वर्णन और इन देवों से सम्बद्ध सामगानों का उल्लेख।

खण्ड 2 : छन्दों के देवता और उनके वर्णों का विशेष वर्णन।

खण्ड 3 : सामवेदीय छन्दों के नाम की निरुक्तियां जैसे – **'गायत्री गायते स्तुतिकर्मणः।'**[1]

खण्ड 4 : साम गायन के आधार पर गायत्री के विभिन्न भागों की देवरूपता का वर्णन।

(च) छन्दोग्य ब्राह्मण – इसमें दस प्रपाठक हैं। प्रथम दो प्रपाठकों में गृह्यकृत्यों में विनियुक्तमंत्र संकलित हैं अतः इस अंश को मंत्र ब्राह्मण या मंत्रपर्व भी कह दिया जाता है। शेष आठ प्रपाठक छान्दोग्योपनिषद् कहलाते हैं। छान्दोग्य ब्राह्मण में मंत्रभाग के अतिरिक्त आठ प्रपाठकों में छान्दोग्योपनिषद् निबद्ध है जो वर्णन शैली की दृष्टि से अत्यन्त क्रमबद्ध और युक्तियुक्त है। इस उपनिषद् के प्रथम पाँच अध्यायों में विभिन्न उपासनाओं का विवेचन मिलता है। इसमें अनेक महत्वपूर्ण आख्यान-उपाख्यान आये हैं, यथा – शिलक, दाल्लम्भ और प्रवाहण का संवाद, उषस्ति का आख्यान, शौवसाम सम्बन्धी उपाख्यान, राजा जनश्रुति और रैक्व का उपाख्यान, सत्यकाम का उपाख्यान, केकय अश्वपति का आख्यानादि।

सामगानों की दार्शनिक आधार पर व्याख्या करते हुए ओंकार तथा साम के निगूढ़ स्वरूप का विवेचन किया गया है। शैव उद्गीथ में भौतिक प्रयोजनों से प्रेरित होकर यज्ञानुष्ठान और साम-गान करने वालों पर व्यंग्य के अतिरिक्त सामविधान और षड्विंश

---

1 निरुक्त, 7.12

ब्राह्मणों के अद्भुत् शान्ति प्रकरणों में विहित विभिन्न अभिचार और काम्यकर्मों का संकेत किया गया है।

(छ) संहितोपनिषद् ब्राह्मण

प्रस्तुत ब्राह्मण में संहिता का विभाजन विभिन्न श्रेणियों में किया गया है – देवहू, वाक्शबहू और अमित्रहू। यह वर्गीकरण मन्द्रारिस्वरजन्य उच्चारण पर आधारित है, जो गानविधि के बिना सम्भव नहीं है।

(ज) वंश ब्राह्मण

इसमें तीन खण्ड हैं। ग्रन्थारम्भ में ब्रह्मा, आचार्यों, ऋषियों और देवों – वायु, मृत्यु, विष्णु और वैश्रवण को नमस्कार करते हुए साम-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक ऋषियों और आचार्यों की वंश परम्परा दी गई है। प्रथम दो खण्डों में शर्वदत्त गार्ग्य, जो परम्परा की अंतिम कड़ी है, इससे प्रारम्भ करके कश्यपान्त ऋषि परम्परा है। कश्यप ने अग्नि से, अग्नि ने इन्द्र से, इन्द्र ने वायु से, वायु ने मृत्यु से, मृत्यु ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्मा से सामवेद को उपलब्ध किया। इस प्रकार सामवेद की परम्परा वस्तुतः स्वयंभू ब्रह्मा से प्रारम्भ होकर कश्यप ऋषि तक विभिन्न देवों के माध्यम से पहुँची और कश्यप ऋषि से प्रारम्भ होकर शर्वदत्त गार्ग्य तक गई।

(झ) जैमिनीय ब्राह्मण

यह मुख्यतया तीन भागों में विभक्त है इसके प्रथम भाग 360, द्वितीय में 437 और तृतीय भाग में 385 खण्ड हैं। जैमिनीय और ताण्ड्य ब्राह्मणों की अधिकांश विषयवस्तु समान है, जैसे दोनों में ही सोमयागगत औद्गात्रतंत्र का निरूपण है। इसके अतिरिक्त प्रकृति याग, गवामयनसत्र, एकाह, द्वादशाह और अहीन यागों का दोनों ग्रन्थों में वर्णन किया गया है लेकिन वर्ण्य विषय समान होते हुए भी विवरण में बहुत अधिक अन्तर है। जैमिनीय ब्राह्मण में ताण्ड्य ब्राह्मण की अपेक्षा विषय अति विस्तार से निरूपित है। आख्यानों की दृष्टि से जैमिनीय ब्राह्मण में विस्तृत वर्णन किया गया है।

(ञ) जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण

कौथुमशाखीय आर्षेय ब्राह्मण की भांति इसमें भी प्रथम दो वाक्यों को छोड़कर स्वाध्याय तथा यज्ञ की दृष्टि से ऋषि छन्द और देवता के ज्ञान पर बल दिया गया है। वर्ण्य-विषय दोनों के समान हैं। ग्रामगेयगानों के ऋषि निरूपण में अध्यायों और खण्डों की व्यवस्था और विन्यास भी प्रायः समान हैं। किन्तु कहीं-कहीं संहिताओं में शाखागत अन्तर के कारण गानों के क्रम में भिन्नता है। कौथुमशाखीय आर्षेय ब्राह्मण की अपेक्षा यह कुछ संक्षिप्त है।

(ट) जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण

सम्पूर्ण जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण चार अध्यायों में विभक्त है। अध्यायों का अवान्तर विभाजन अनुवाकों और खण्डों में है।

आरम्भ में ओंकार की महत्ता पर बल दिया गया है। ओम् परम ज्ञान और बुद्धि का आदि कारण है। ओम् से ही अष्टाक्षरा गायत्री की रचना हुई। गायत्री से ही प्रजापति को भी अमरता प्राप्त हुई इसी से अन्य देवों और ऋषियों ने अमरता प्राप्त की -

तदेतमृतं गायत्रम्। एतेन वै प्रजापतिरमृतत्त्वमगच्छत्। एतेन देवाः। एतेनर्षयः।[1]

जैमिनीय उपनिषद् का समापन इस कथन से हुआ है - **ऐषा शाट्यायनी गायत्रस्योपनिषद् एवमुपासितव्या।**[2]

VIII. अथर्ववेद के ब्राह्मण ग्रन्थ

(क) गोपथ ब्राह्मण - सम्पूर्ण गोपथ ब्राह्मण में आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह के अनुसार कभी सौ प्रपाठक थे, किन्तु वर्तमान में इसके दो भाग हैं - पूर्व भाग और उत्तर भाग। पूर्व

---

1 जेमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, 3.7.3.1.

2 जेमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, 4.9.2.9.

भाग में पाँच प्रपाठक और उत्तर भाग में छः प्रपाठक हैं। इनमें क्रमशः 135 और 123 प्रपाठक हैं पूर्व भाग की विषय वस्तु इस प्रकार से है -

प्रथम प्रपाठक : सृष्टि-प्रक्रिया, प्रणवोपनिषद्, गायत्र्युपनिषद् देवाङ्गिरसों तथा दक्षिणा ओंकार-जप का फल तथा आचमन-विधि आदि का वर्णन।

द्वितीय प्रपाठक : ब्रह्मचारी के महत्त्व तथा कर्तव्य (1-81 कण्डिकाएँ), होतादि चारों ऋत्विकों की भूमिका तथा देवयानादि का विशद निरूपण।

तृतीय प्रपाठक : दर्शपूर्णमास, ब्रह्मोद्य, अग्निहोत्र, अग्निष्टोम प्रभृति यज्ञों का विवेचन।

चतुर्थ प्रपाठक : गावामयन आदि सत्रों की मीमांसा।

पञ्चम प्रपाठक : यज्ञ-क्रम, ऋत्विकों को वाणी आदि की प्राप्ति, अंगिरा की प्राप्ति, ऋत्विकों के कृत्यों की विवेचना आदि।

गोपथ ब्राह्मण के उत्तर भाग में यज्ञों को व्यावहारिक अनुष्ठान पर अधिक बल दिया गया है।

प्रथम प्रपाठक : ब्रह्माख्य ऋत्विक् (ऋत्विज्) की प्ररोचना, दर्शपूर्ण मास, काम्येष्टियां, आग्रायण, अग्निचयन और चातुर्मास्य का वर्णन।

द्वितीय प्रपाठक : काम्येष्टियां, प्रवर्ग्येष्टि, यज्ञ शरीर के भेद, सोमयाग ध्वंस, सोमस्वकन्द प्रामस्थिति, स्तोमभाग, आग्नीध्र, सदस्यजन्यकर्म, प्रस्थितगृहों आदि का निरूपण।

तृतीय प्रपाठक : वषट्कार और अनुवषट्कार ऋतुगृहादि एकाह प्रातः सवन, एकाह माध्यन्दिन सवन आदि।

चतुर्थ प्रपाठक : षोडशीयाग का निरूपण।

पञ्चम और षष्ठ प्रपाठक : अतिरात्र, सौत्रामणि, वाजपेय, आप्तोर्याम अहीन और सत्रयाग।

वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यद्यपि आधिदैविक है, किन्तु कहीं-कहीं प्रसंगवश आध्यात्मिक तत्त्व भी वर्णित हैं। ब्राह्मण-काल में याज्ञिक क्रियाकलापों

की ही प्रधानता थी, अतः उस समय प्रचलित यागों और उनसे सम्बन्धित देवताओं के अतिरिक्त उपनिषदीय प्रतिपादन इसमें है। ब्राह्मणों में विधि और अर्थवाद के अतिरिक्त उपनिषदीय प्रतिपादन भी है। यज्ञ न केवल कर्मकाण्ड है वरन् सृष्टि-विद्या के भी प्रतीक हैं। सृष्टि के गूढ़ रहस्यों के साथ ही आत्मा के अस्तित्व, पुनर्जन्म, ओंकार की उत्पत्ति, महिमा तथा ब्रह्म का आविर्भाव आदि के संदर्भ में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त आधिदैविक, आधिभौतिक और अध्यात्मिक विषयों का ब्राह्मण ग्रन्थों में पूर्ण एवं विशद वर्णन मिलता है।

IX. ब्राह्मण ग्रन्थ एवं यज्ञ

ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ को एक वैज्ञानिक संस्था के रूप में प्रस्तुत करते हैं, इस तथ्य को सभी विद्वज्जन एक मत से स्वीकार करते हैं यज्ञ संस्था के उद्भव तथा विकास को समझने में सहायक तथा उसके स्वरूप और सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रिया कलाप की कार्य-करण-मीमांसा ब्राह्मण ग्रन्थों की विशिष्ट उपलब्धि है। शतपथ ब्राह्मण में प्राकृत और कृत्रिम दो स्वरूपों में यज्ञ की चर्चा करते हुए यज्ञ को जीवन का सबसे महत्वपूर्ण कर्म बतलया गया है। यज्ञ की प्रतिकात्मक व्याख्या करते हुए यज्ञ का मानवीकरण किया गया है। यज्ञ को देवों की आत्मा कहा गया है और अनृत-भाषणादि कार्यों से यज्ञ को क्षति पहुँचती हैं, यज्ञवेदी का स्वरूप स्त्री के समान बतलया गया है।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के अनेक प्रकार कहे गए हैं। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध, राजसूय तक यज्ञ कहे गए हैं। इन सब में इस का प्रधान रूप से ध्यान रखा गया है, जो कुछ सृष्टि में हो रहा है, वही यज्ञ में किया जाता है। इसके दो लाभ हैं - एक तो याज्ञिक को सृष्टि नियम का ज्ञान प्रत्यक्ष समान होता जाता है। दूसरे सृष्टि नियम को यह यज्ञ सहायता पहुँचाता है। सूर्य अपने बल से इस संसार की दुर्गन्धि को दूर करता है और जल को पवित्र करता है। मनुष्य का किया हुआ अग्निहोत्र भी यही दोनों काम करता है। संवत्सर में 360

---

1 योषा वै व्येदिर्वृषाग्निंः परिग्रह्य वै योषा त्वृषाणं शेते।

शत०ब्रा०, 1.2.5.15.

दिन हैं। मनुष्य में 360 अस्थियाँ हैं। 360 ही ईटें अग्निचयन में चिनी जाती हैं।[1] सृष्टि नियम का यही ज्ञान है। सृष्टि नियम को यही सहायता पहुँचाता है। इसी के फल से पुरुष अनेक पापों से तर जाता है। अतः याज्ञिक दृष्टि से प्राप्त अनेक विलक्षण क्रियाकलापों के कारण समस्त ब्राह्मण ग्रन्थ विशेष महत्त्व के आस्पद हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में विविध क्रियाकलापों और आख्यानों तथा उपाख्यानों में अनेक इतिहास और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्य समाविष्ट हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसंग में हमें अनेक ऐतिहासिक नाम मिलते हैं। जैसे - परीक्षित पुत्र जनमेजय, मनु पुत्र शर्यात्, अविक्षित पुत्र मरुतय सुदास, पैजवन, शतानीक और दुष्यन्तपुत्र भरत। भरत के पराक्रम की प्रशंसा करते हुए कहा गया है -

महाकर्म भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः।
दिवं मर्त्य इव हस्ताभ्यां नोदायुः पञ्च मानवाः॥

शतपथ ब्राह्मण में गांधार, केकय तथा शल्व जनपदों की विशेष चर्चा की गई है। आर्यावर्त के मध्य तथा पूर्वभा, कुरु, पांचाल, कोसल, विदेह, सृंजय आदि जनपदों का उल्लेख है। अश्वमेध के प्रसंग में अनेक प्राचीन सम्राटों तथा दुष्यन्त, जनक और जनमेजय का उल्लेख है। तत्कालीन जनपदों और नदियों का विस्तृत भौगोलिक विवरण ताण्ड्य ब्राह्मण को गहरी ऐजिहासिक अर्थवत्ता देता है। ऋषियों में वसिष्ठ, शिला, प्रभव, गुंगवास, अगस्त्यतीर्थ, कश्यपमतंग इत्यादि भौगोलिक महत्व के स्थानों का उल्लेख है। जनपदों में कुरु, पांचाल, अंग, मगध, काशी, शाल्व, मत्स्य, सवर, उशीनर के नामों का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण में मध्य प्रदेश का उल्लेख है - **ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि।** उस समय भारत के पूर्व में विदेह आदि जातियाँ राज्य करती थीं। दक्षिण में भोज, पश्चिम में नीच्य व अपाच्य उत्तर में उत्तरकुरु और उत्तरमद्र तथा मध्य भाग में कुरु-पांचाल राज्य थे।

---

1 वैदिक वाङ्मय का इतिहास, पं० भागवद्त्त, पृ० 168.

शतपथ ब्राह्मण इस बात का प्रमाण है कि उसके धर्म और संस्कृति का केन्द्र कुरु-पांचाल देश है, क्योंकि इसमें कुरु राजा जनमेजय तथा पांचाल के ब्राह्मण गुरु अरुणि का उल्लेख मिलता है, यह भी ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मण धर्म मध्यदेश के पूर्व में कौशल, जहाँ की राजधानी अयोध्या थी तथा विदेह जहाँ की राजधानी मिथिला थी, तक व्याप्त था। विदेहपति जनक का दरबार कुरु-पांचाल के विद्वानों से भरा रहता था।

जनसमुदाय की सम्पूर्ण धार्मिक आस्थाएँ ब्राह्मण ग्रन्थों में संचित हैं।[1]

वस्तुत: ब्राह्मण ग्रन्थों में उस दर्शन का अभाव है, जिसका उदय काल विकास उपनिषदों में हुआ। ब्राह्मणों के दर्शन को कर्मकाण्डीय दर्शन कहा जा सकता है। शतपथ ब्राह्मण में कर्म-काण्डीय दर्शन में ऐसे अनेक तथ्य मिलते हैं, जो दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

अत: वेदों के ब्राह्मण भाग भारतीय संस्कृति के उज्ज्वलतम उन्नायक एवं मानवीय जीवन के परिशोधक महामन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

X. प्रमुख ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर राजसूय यज्ञ का वर्णन

(क) माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में राजसूय महायज्ञ का विधान -

अब वह पूर्ण आहुति देता है। सब का अर्थ है पूर्ण। यह सोचता है कि सब को प्राप्त करके सूय (दीक्षित) होऊँ। इस समय वह वर देता है। वर का अर्थ है सब। वह सोचता है कि सब को प्राप्त करके दीक्षित होऊँ। चाहे तो इस आहुति को देवे, चाहे तो न देवे।[2]

अगले दिन अनुमति के लिये हवि के हेतु आठ कपालो का पुरोडाश बनाता है। और जो आटा या चावल पीसने के नीचे गिर जाता है, उस को वह स्रुवा में रख लेता है।

---

[1] स वै देवतानामोजिष्ठो बलिष्ठः पायिष्णुतमः।

ऐतरेय ब्राह्मण, 7.16.

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 3.1

अन्वाहोयपचन (दक्षिणाग्नि) में से एक जलती हुई लकड़ी लेकर दक्षिण की ओर चलते हैं और जहाँ कहीं स्वयं बना हुआ गड्ढा या प्रदर देखते हैं।[1]

वहीं अग्नि को रखकर आहुति देता है इस मन्त्र से

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहा।[2]

"हे निर्ऋति, यह तेरा भाग है स्वीकार कर"।

इस पृथ्वी को ही निर्ऋति कहते हैं। यह जिसको बुरी भावना से पकड़ लेती है, उसका नाश कर देती है। इस प्रकार आहुति देकर वह पृथ्वी की इस बुरी भावना को शांत कर देता है और इस प्रकार शांत होकर निर्ऋति उसको नहीं पकड़ती और वह गड़ढे या प्रदर में क्यों आहुति देता है? इस लिए कि पृथ्वी का यह भाग निर्ऋति अर्थात् बुरी भावना से युक्त है।[3]

अब वे बिना पीछे देखते हुए लौटते हैं। अब अनुमति के लिए आठ कपालों के पुरोडाश को लेता है। इस पृथ्वी का नाम अनुमति है। क्योंकि यदि कोई किसी काम को करना चाहता है तो इस पर कर सकता है, वह इसकी अनुमति देती है। इसलिए वह इस को प्रसन्न करता है कि इसकी अनुमति लेकर दीक्षित होऊँ।[4]

अब आठ कपाल क्यों होते हैं? गायत्री में आठ अक्षर होते हैं और यह पृथ्वी ही गायत्री है। एक ही हवि से दोनों आहुतियाँ क्यों देता है? इसलिए कि दोनों का एक ही फल निकले (अर्थात् अनुमति)। इसकी दक्षिणा कपड़ा। जैसे कपड़ा पहने कोई जंगल में सुरक्षित नहीं जा सकता (कपड़ा उतार कर ही डाकुओं से बच सकता हैं)। इसी प्रकार (इस वस्त्र को दक्षिणा में देने से) उसे दीक्षित होने में कोई आपत्ति नहीं आती।[5]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 3.2

[2] यजुर्वेद, 3.95

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 3.3

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 3.4

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 3.5

दूसरे दिन अग्नि और विष्णु के लिए ११ कपालों का पुरोडाश बनाता है और साधारण दृष्टि के समान आहुति देता है। यही वही है तो अग्नि विष्णु की दक्षिणीय हवि है। अग्नि ही सब देवता है। अग्नि में ही सब देवताओं के लिए हवि दी जाती है। अग्नि ही निचला भाग है और विष्णु ऊपरी भाग। वह सोचता है कि सब देवताओं को ग्रहण करके और सब यज्ञ को ग्रहण करके ही मैं दीक्षित होऊँ, इसलिए ११ कपालों का पुरोडाश अग्नि और विष्णु का वीर्य है। जो विष्णु है वही यज्ञ है। अग्नि ही यज्ञ है। यह अग्नि का ही है। इसलिए सोना ही इसकी दक्षिणा है।[1]

अब दूसरे दिन अग्नि और सोम के लिये ११ कपालों का पुरोडाश बनता है और साधारण दृष्टि के समान आहुति देता है। इसी से इन्द्र ने वृत्र को मारा था और इसी से उस में वह विजय प्राप्त की, जो उसको प्राप्त है। इसी प्रकार यह (राजा, यजमान) भी पापी शत्रु को मारता है और विजय प्राप्त है। वह सोचता है कि अभय और शत्रु-रहित होकर दीक्षित होऊँ। इस लिए अग्नि-सोम के लिए ११ कपालों का पुरोडाश होता है। इस यज्ञ की दक्षिणा यही है कि एक गाय छोड़ दी जाय। उस चन्द्रमा को मुक्त करके ही मारते हैं। पूर्णमासी को मारते हैं और अमावस्या को मुक्त करते हैं इसलिए दक्षिणा में गौ को मुक्त किया जाता है।[2]

अब अगले दिन इन्द्र और अग्नि के लिए १२ कपालों का पुरोडाश बनाता है और उसको साधारण इष्टि के समान आहुति देता है। जब इन्द्र ने वृत्र को मारा, तो उससे पराक्रम और वीर्य डर के भाग गये। और इसी हवि के द्वारा उसने पराक्रम और वीर्य को फिर जीता। इसी प्रकार यह भी इस हवि के द्वारा पराक्रम और वीर्य को धारण करता है। अग्नि तेज है और इन्द्र पराक्रम तथा वीर्य। वह सोचता है कि दोनों वीर्यों को ग्रहण करके दीक्षित होऊँ। इसलिये इन्द्र और अग्नि का १२ कपालों का पुरोडाश होता है। इसकी दक्षिणा एक सांड है।

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 3.6

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 3.7

वह कन्धों में तो अग्नि के समान है और अण्डकोषों में इन्द्र के। इसलिए इसकी दक्षिणा सांड है।[1]

अब वह आग्रायणी इष्टि करता है। जो राजसूय यज्ञ करता है, वह अपने लिये सब यज्ञों को, इष्टियों को और दर्विहोमों को भी प्राप्त कर लेता है। आग्रयणी इष्टि वस्तुत: देवों की सृजी हुई है। वह सोचता है कि इष्टि को भी लूं तब दीक्षित होऊँ। इसलिए वह ओषधियों को रोग रहित और निर्दोष कर देता है। वह सोचता है कि मैं निर्दोष ओषधियों के लिए दीक्षित होऊँ। इसकी दक्षिणा एक गौ है।[2]

अब वह चातुर्मास्य यज्ञ करता है। जो राजसूय यज्ञ करता है, वह सब यज्ञों को सब इष्टियों को और दर्विहोमों को प्राप्त कर लेता है। यह जो चातुर्मास्य है, वह देवों के द्वारा सृजा हुआ है। वह यह सोचकर चातुर्मास्य यज्ञ करता है कि इस यज्ञ को करके भी दीक्षित हो जाऊँ।[3]

वह वैश्वदेव यज्ञ करता हैं वैश्वदेव यज्ञ द्वारा ही प्रजापति ने बहुत प्रजा बनाई यह सोचकर कि बहुत प्रजा बनाकर मैं दीक्षित हो जाऊँ। वह भी यही सोचकर वैश्वदेव यज्ञ करता है कि बहुत प्रजा को बनाकर दीक्षित हो जाऊँ।[4]

अब वह वरुणप्रघास यज्ञ करता है। वरुण प्रघास यज्ञ करके ही प्रजापति ने प्रजा को वरुण पाश से छुड़ाया। और वे तन्दुरुस्त और दोषरहित उत्पन्न हो दीक्षित होऊँ। इसी प्रकार यह भी सोचता है कि स्वस्थ और रोगरहित प्रजा को उत्पन्न करके दीक्षित होऊँ। इस लिए वरुण प्रघास यज्ञ करता है कि प्रजा को वरुण के पास से मुक्त कर सके।[5]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 3.8

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 3.9

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 3.10

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.1

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.2

अब साकमेध यज्ञ करता है। साकमेध के द्वारा ही देवों ने वृत्र को मारा और उसी से उन्होंने वह विजय प्राप्त की जो उनको प्राप्त है। वह भी इस प्रकार अपने शत्रुओं को मारता है और विजय प्राप्त करता है यह सोचकर कि जब शन्ति और रक्षा स्थापित हो जाए तो, मैं दीक्षित होउँ।[1]

अब शुनासीर्य यज्ञ करता है। यह सोचकर कि दोनों रसों को प्राप्त करके दीक्षित होऊँ। अब पंचावातीय यज्ञ है। अग्नि को फूंककर पांच भाग करके स्रुवा से पांच भाग कर के आहुति देता है।[2]

इस मन्त्र से पहले आधे भाग में आहुति देता है-

अग्निनेत्रेभ्य देवेभ्यः पुरः सद्भ्यः स्वाहाः।[3]

"पूर्व में बैठे हुए अग्नि के समान नेत्र वाले देवों के लिए स्वाहा।"

अब दक्षिण के आधे भाग में इस मन्त्र से आहुति देता है-

यमनेत्रभ्यो देवेभ्या दक्षिणाद्भ्यः स्वाहा।[4]

"दक्षिण में बैठे हुए यम के समान नेत्र वाले देवों के लिए स्वाहा।"

अब पश्चिम के आधे भाग में आहुति देता है-

विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा।[5]

"पश्चिम में बैठे हुए विश्वदेव नेत्र वाले देवों के लिए स्वाहा।"

अब उत्तर के आधे भाग में आहुति देता है-

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.3

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.4

[3] यजु०, 9.35

[4] यजु०, 9.35

[5] यजु०, 9.35

मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा देवेभ्य उत्तरासद्भ्यः स्वाहा।[1]

"उत्तर में बैठे हुए मित्रावरुण या मरुत् के से नेत्र वाले देवों के लिए स्वाहा।"

अब बीच में आहुति देता है-

सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्य उपरिद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहा[2]

"ऊपर बैठे हुये पूज्य सोम के से नेत्र वाले देवों के लिए स्वाहा"।[3]

अब फिर फूंक कर आहुतियाँ देता है-

ये देवा अग्निनेत्राः पुरः सदस्तेभ्यः स्वाहा।

ये देवा यमनेत्रा दक्षिणसदस्तेभ्यः स्वाहा।

ये देवा मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासदस्तेभ्यः स्वाहा।

ये देवा सोमनेत्रा उपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा[4]**।**[5]

जब देवों ने साकमेध यज्ञ द्वारा उस विजय को पाया, जो उनको प्राप्त है, तो उन्होंने कहा कि दुष्ट राक्षस सब दिशाओं में (प्राणियों के जीवन को) पी रहे है। इन पर वज्र मारना चाहिए। घी वज्र है। इसी वज्र से उन्होंने सब दिशाओं में राक्षसों को मार दिया। और उस विजय को पा लिया जो उन को प्राप्त है। इसी प्रकार यह यजमान भी घी रूपी वज्र द्वारा सब दिशाओं में राक्षसों को मारता है, और विजय प्राप्त करता है, वह सोचता है कि सुरक्षित होकर दीक्षित होऊँ।[6]

---

1 यजु०, 9.35

2 यजु०, 9.35

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.5

4 यजु०, 9.36

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.6

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.7

ये पांच आहुतियाँ क्यों देता है? यह जो आग को फूंककर पांच भाग देता है, उसमें अग्नि क्षीण हो जाती है। ये पांच आहुतियाँ इस लिए देता है कि इन से अग्नि ठीक हो जाती है।[1]

इसकी दक्षिणा दो घोड़ों का रथ और घोड़ा है। तीन घोड़े, और दो सवार तथा रथवान से पांच प्राण हुए प्राण वहीं है जो वायु है। चूंकि उसकी ऐसी दक्षिणा है, इसलिए इसको पंचावातीय यज्ञ कहते हैं।[2]

इस यज्ञ से रोगों का इलाज भी होता है। यह जो वायु चलती है यही प्राण है। जो प्राण है वही आयु है। वायु तो एक ही है, पर जब वह मनुष्य के भीतर प्रविष्ट होती है, तो इस के दस रूप हो जाते हैं। वह दस आहुति देता है। इस प्रकार वह उसको दस प्राण और पूर्ण आयु देता है। यदि कोई ऐसा हो जिसके प्राण निकल गये हों तो वह इन को वापिस बुला लेता है।[3]

अब इन्द्र तुरीय यज्ञ है। अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश होता है। वरुण के लिए जौ का चरु, रुद्र के लिए गावेधुक चरु (एक अन्न का नाम गावेधुक है) और इन्द्र के लिए गाड़ी में जुतने वाली गाय के दही का भाग। इस प्रकार इन्द्र तुरीययज्ञ होता है। इन्द्र और अग्नि ने ही परामर्श किया था कि ये राक्षस सब दिशाओं में (प्राणियों की आयु को) पिये जाते हैं। इन के ऊपर वज्र चलाना चाहिए।[4]

अग्नि ने कहा, "तीन भाग मेरे और एक भाग तेरा।" (उसने कहा) "अच्छा"। इन दोनों ने इस हवि के द्वारा दिशाओं में दुष्ट राक्षसों को मारा और उस विजय को प्राप्त किया जो उनको प्राप्त है। इसी प्रकार यह यजमान भी इस हवि के द्वारा दिशाओं में दुष्ट राक्षसों

---

[1] मा० शतपथब्रा० – अ० 2, ब्रा० 4.8

[2] मा० शतपथब्रा० – अ० 2, ब्रा० 4.9

[3] मा० शतपथब्रा० – अ० 2, ब्रा० 4.10

[4] मा० शतपथब्रा० – अ० 2, ब्रा० 4.11

को मारता है और विजय को प्राप्त होता है। यह सोचकर कि सुरक्षित होकर ही मैं दीक्षित होऊँ।[1]

आठ कपालों पर जो अग्नि को पुरोडाश है, वह अग्नि का पहला भाग है और जो वरुण का जौ का चरु है, वह अग्नि का दूसरा भाग है; क्योंकि जो अग्नि है वही वरुण है। और जो रुद्र को गावेधुक चरु है, वह अग्नि का तीसरा भाग है; क्योंकि रुद्र ही अग्नि है। गावेधुक का चरु क्यों होता है? यह देव (रुद्र) बची खुची का खाने वाला है और गावेधुक घास बची खुची के तुल्य है, अतः गावेधुक घास को बनाते हैं। और जो गाड़ी में जुती हुई गाय का दही है, वह इन्द्र का चतुर्थ भाग है। क्योंकि तुरीय का अर्थ है चतुर्थ। इसलिये इस यज्ञ को इन्द्रतुरीय कहते हैं। वही गाड़ी में जुती हुई गाय उसकी दक्षिणा है। अपने कन्धे के हिसाब से वह अग्नि का भाग है; क्योंकि अग्नि से दग्ध हुई के समान है। स्त्रीजाति होने से वह वरुण का अंश है; क्योंकि गाड़ी को अनुचित रीति से खींचती है। चूंकि यह गाय है इसलिए रुद्र का रूप है और चूंकि उससे दहि निकलता है, इसलिए वह इन्द्र का रूप है। इस गाय से सब चीजों की प्राप्ति होती है, इसलिये जुतने वाली गाय ही इस की दक्षिणा है।[2]

अब वह अपामार्ग होम करता है। अपामार्ग से ही देवों ने सब दिशाओं में दुष्ट राक्षसों को मारा और वह विजय लाभ की, जो उनको प्राप्त है। इसी प्रकार इस होम के द्वारा यह (यजमान भी) दिशाओं में राक्षसों को मारता है और सोचता है कि सुरक्षित होकर मैं दीक्षित होऊँ।[3]

वह अपामार्ग-तण्डुलो को या तो पलाश में स्रुवा में लेता है, या वैकङ्कत के स्रुवा में, अन्वाहार्य पचन अग्नि में से वह जलती हुई लकड़ी को लेता है और उसको लेकर पूर्व या उत्तर को चलता है और वहाँ अग्नि को आधार करके आहुति देता है।[4]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.12

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.13

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.14

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.15

वह जलती लकड़ी को इस वेद मन्त्र से लेता है-

अग्ने सहस्व पृतना:[1,2]

"हे अग्नि, युद्धों का सामना कर"।

'पृतना' का अर्थ है युद्ध। अर्थात् युद्धों का सामना कर।

अभिमातीरपास्य।[3]

"बुरों को दूर कर।"

'अभिमाति' का अर्थ है शत्रु। तात्पर्य यह है कि शत्रुओं को मार।

दुष्टरस्तरन्नराती:।[4]

"दुर्जेय और शत्रुओं को जीतने वाला।"

वस्तुत: यह राक्षसों और शत्रुओं से दुर्जेय है। (वे इस को जीत नहीं सकते)। और बुरों को जीतने वाला है; क्योंकि वह सब पाप को जीतता है।

वर्चोधा यज्ञवाहसि।[5]

"अन्न को धारण करने वाला और यज्ञ का ले जाने वाला है।"

इसका अर्थ है कि यज्ञमान का कल्याण करता है।[6]

अब अग्नि का आधान करके आहुति देता है-

देवस्य त्वा सवितु: प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याँ पूष्णो हस्ताभ्यामुपांꣳशोर्वीर्येणा जुहोमि।[7]

---

1 यजु०, 9.37

2 ऋ०, 2.24.2

3 यजु०, 9.67

4 यजु०, 9.37

5 यजु०, 9.37

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.16

7 यजु०, 9.38

"सविता देव की प्रेरणा से अश्विन के बाहु और पूषा के हाथों से और उपांश के प्राक्रम से आहुति देता हूँ।"

हतꣳरक्षःस्वाहा।[1]

"राक्षस मारा गया।"

इससे राक्षसों को मारता है।[2]

अगर स्रुवा पालाश का हो तो पालाश ब्रह्म है। ब्रह्म से ही दुष्ट राक्षस को मारता है। वैकङ्कत लकड़ी का हो तो वैकङ्कत वज्र है। वज्र से ही दुष्ट राक्षसों को मारता है।

रक्षसां त्वा वधाय।[3]

"तुझको राक्षसों के वध के लिये।"

इससे दुष्ट राक्षसों को मारता है।[4]

यदि पूर्व की ओर चलकर आहुति देता है, तो स्रुवा को पूर्व की ओर फैंक देता है। यदि उत्तर की ओर चलकर आहुति देता है, तो उत्तर की ओर फैंकता है।

"अवधिष्म रक्षः।"[5]

"हमने राक्षस को मार डाला।"

इससे दुष्ट राक्षसों को मारता है।[6]

---

[1] यजु०, 9.38

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.17

[3] यजु०, 9.38

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.18

[5] यजु०, 9.38

[6] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 4.19

अब बिना पीछे की ओर देखे हुए लौटते हैं। इससे भी वह प्रतीकार करता है। उसकी जिस दिशा में शत्रु है, उसी ओर आहुति देता है। अपामार्ग का फल उल्टा होता है। जो कोई उसके साथ बुराई करता है, उसके साथ वह उल्टा ही करता है।

अग्नि और विष्णु के लिए ११ कपालों का पुरोडाश बनाता है। इन्द्र और विष्णु के लिये चरु, तीन कपालों का पुरोडाश या चरु विष्णु के लिए। इनसे 'विषंयुक्त' यज्ञ करता है। इसी से देवों ने मनुष्यों को पाया। इसी प्रकार यह (राजा) मनुष्यों को पाता है।[1]

अग्निविष्णु के लिए ११ कपालों का पुरोडाश क्यों? अग्निदाता है। पुरुष वैष्णव (विष्णु के) हैं। इस प्रकार दाता अग्नि उस (राजा) को पुरुष देता है।[2]

अब इन्द्र-विष्णु का चरु क्यों होता है? इन्द्र यजमान है। पुरुष वैष्णव (विष्णु के) हैं। अग्निदाता इस (राजा) के पुरुष देता है। वह पुरुषों के संसर्ग में आता है। और उनको अपना लेता है।[3]

अब विष्णु का तीन कपालों का पुरोडाश या चरु क्यों होता है? अग्नि इसको (राजा को) जो आदमी देता है उन्हीं के बीच में वह प्रतिष्ठित होता है और उनसे जो काम चाहे ले सकता है। वह पुरुषों को प्राप्त होता है यह सोचकर कि पुरुषों को प्राप्त होकर ही मैं दीक्षित होऊँ। बौना बैल इसकी दक्षिणा है, क्योंकि बौना विष्णु का है।[4]

अब दूसरी विषंयुक्त आहुति देता है। अब अग्नि और पूषा के लिए ११ कपालों का पुरोडाश, इन्द्र और पूषा को पाया। इसी प्रकार यह भी पशुओं को प्राप्त करता है।[5]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.1

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.2

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.3

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.4

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.5

अग्नि-पूषा के लिए ११ कपालों का पुरोडाश क्यों होता है? पशु पूषा के हैं। अग्निदाता उसको पशु देता है।[1]

इन्द्र और पूषा के लिए चरु क्यों होता है। यजमान इन्द्र है, पशु पूषा के हैं। अग्निदाता उसको पशु देता है। वह पशुओं के संसर्ग में आता है और उनको अपनाता है।[2]

पूषा का चरु क्यों होता है? दाता अग्नि इसको जो जो पशु देता है, उन्हीं में वह प्रतिष्ठित होता है और जो कोई काम उन पशुओं से ले सकता है, लेता है। वह पशुओं को प्राप्त होता है यह सोचकर कि "पशुओं को प्राप्त होकर दीक्षित होऊँ।" इसकी दक्षिणा श्यामवर्ण का बैल है। श्यामवर्ण पूषा का है। श्याम के दो रूप हैं। एक सफ़ेद लोम (बाल) और दूसरे कृष्णलोम। द्वन्द्व का अर्थ है उत्पत्ति करने वाला जोड़ा। पूष उत्पादक है। पशु ही पूषा है। जोड़े से ही उत्पत्ति होती है, इसलिये यज्ञ की दक्षिणा श्याम-बैल हैं।[3]

अब दूसरी 'त्रिषंयुक्त' आहुति देता है, वह अग्नि-सोम के लिए ११ कपाल इन्द्रसोम के लिए चरु, सोम के लिए चरु। इससे 'त्रिषंयुक्त' या करता है। देवों ने इसी के द्वारा वर्चस की प्राप्ति की। वह भी उससे वर्चस् की प्राप्ति करता है।[4]

अग्नि और सोम के लिए ११ कपालों का पुरोडाश क्यों देता है? अग्निदाता है। सोम वर्चस् है। अग्निदाता उसको वर्चस् देता है।[5]

इन्द्र और सोम का चरु क्यों होता है? इन्द्र यजमान है सोम वर्चस् है। अग्नि दाता उसको वर्चस् देता है। वह उसी के संसर्ग में आता है उसी को अपनाता है।[6]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.6

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.7

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.8

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.9

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.10

[6] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.11

सोम के लिये चरु क्यों होता है? इन्द्र यजमान है सोम वर्चस् देता है। अग्नि में वह प्रतिष्ठित है। जो वर्चस्वी कर्म चाहता है, करा लेता है। वह वर्चस को प्राप्त होता है, यह सोचकर कि वर्चस्वी कर्म चाहता है, करा लेता है। वह वर्चस को प्राप्त होता है, यह सोचकर कि वर्चस्वी होकर दीक्षित होऊँ। क्योंकि जो वर्चस्वी नहीं उसको सफलता भी नहीं। इसकी दक्षिणा भूरा बैल है। भूरा रंग सोम का है।[1]

अब अगले दिन वैश्वानर के लिए १२ कपालों का पुरोडाश बनाता है। वरुण के लिए जौ का चरु। इन दोनों आहुतियों को वह क्रमशः दो दिन में देता है या एक ही बर्हि के साथ अर्थात् एक ही दिन (जब बर्हि बदलने न पड़ेंगे क्योंकि यज्ञ के भिन्न-भिन्न दिनों में भिन्न बर्हि प्रयुक्त करने पड़ते हैं)।[2]

यह वैश्वानर का क्यों होता है? संवत्सर वैश्वानर है। संवत्सर प्रजापति है। प्रजापति ने बहुत प्रजा उत्पन्न की यह सोचकर कि मैं प्रजा को उत्पन्न करके दीक्षित होऊँ। इसी प्रकार यह भी बहुत प्रजा उत्पन्न करता है और सोचता है कि बहुत प्रजा को उत्पन्न करके दीक्षित होऊँ।[3]

१२ कपाल क्यों होते हैं? संवत्सर के १२ मास होते हैं। संवत्सर वैश्वानर है। इसलिए १२ कपाल होते हैं।[4]

वरुण का जौ का चरु क्यों होता है? इसके द्वारा वरुण के सब पाशों को या वरुण सम्बन्धी सब बातों से (all criminal tendencies) प्रजा को छुड़ा देता है। इससे रोगरहित और दोषरहित प्रजा उत्पन्न होती है। वह सोचता है कि रोगरहित ओर दोषरहित प्रजा को पाकर मैं दीक्षित होऊँ।[5]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.12

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.13

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.14

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.15

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.16

वैश्वानर यज्ञ की दक्षिणा सांड है। संवत्सर वैश्वानर है। संवत्सर प्रजापति है। सांड पशुओं का प्रजापति है। इसलिए वैश्वानर यज्ञ की दक्षिणा सांड है। वरुण के लिए काला कपड़ा है। जो कुछ वरुण का है (criminal) वह काला है। यदि काला कपड़ा न मिले तो जैसा मिले। गांठ के कारण कपड़ा वरुण का हो जाता है; क्योंकि गांठ का वरुण से सम्बन्ध है।[1]

अरणी और उत्तरागी लकड़ियों में (गार्हपत्य और आहवनीय) दोनों अग्नियों को लेकर सेनानी (मुख्य सेनापति) के गृह को जाता है और अनीकवत् अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश बनाता है। अग्नि देवताओं का 'अनीक' अर्थात् शिरोमणि है और सेनानी सेना का शिरोमणि है इसलिए "अनीकवत् अग्नि के लिए"। सेनानी राजा का एक रत्न है। उसी के लिए वह दीक्षित होता है, और उसको अपना अनुयायीबना लेता है। इसकी स्वर्ण है। यह यज्ञ अग्नि का है, सोना अग्नि का वीर्य है। इसलिये स्वर्ण ही दक्षिणा है।[2]

दूसरे दिन पुरोहित के घर पर जाकर बृहस्पति के चरु बनाता है। बृहस्पति देवों का पुरोहित है, और यह राजा का पुरोहित है। इसलिये वह बृहस्पति का होता है। यह जो पुरोहित है वह राजा का एक रत्न है। इसलिए इससे दीक्षित होता है और उसको अपने अनुकूल करता है। उसकी दक्षिणा सफ़ेद पीठ का सांड है। यह जो ऊपर का देश है वह बृहस्पति का है। ऊपर अर्यमा (अर्थात् सूर्य्य) का मार्ग है। इसलिए सफ़ेद पीठ वाला सांड, बृहस्पति के यज्ञ की दक्षिणा है।[3]

दूसरे दिन जिसका राजसूय संस्कार होना है अर्थात् राजा के घर में इन्द्र का ११ कपालों का पुरोडाश बनाता है, इन्द्र क्षत्रिय है, जिसका राजसूय होना है वह भी क्षत्रिय है। इसलिए इन्द्र के लिए पुरोडाश बनाया जाता है। सांड इन्द्र का है इसलिए सांड दक्षिणा है।[4]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 2, ब्रा० 5.17

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.1

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.2

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.3

दूसरे दिन रानी के घर में जाकर अदिति के लिए चरु बनाता है। यह पृथिवी अदिति है। यह देवों की पत्नी है, और रानी राजा की पत्नी है। इसलिए वह चरु अदिति के लिए बनाया जाता है। रानी राजा का एक रत्न है। इसीलिए राजसूय संस्कार किया जाता है, और इसी को वह अपना अनुयायी बनाता है। इसके लिए दक्षिणा गाय है। यह पृथ्वी गौ है; क्योंकि इससे मनुष्यों की सब कामनायें पूरी होती है। गाय माँ है और यह पृथ्वी भी माँ सी है। यह मनुष्यों का पालन पोषण करती है। इसलिए गाय दक्षिणा है।[1]

दूसरे दिन सूत के घर जाकर वरुण को जौ का चरु बनाता है। सूत सब है। वरुण देवों के सब है। इसलिए यह वरुण का चरु होता है। यह सूत जो है, वह राजा का एक रत्न है इसलिए इसके लिए राजसूय संस्कार कराता है और इसको अपना अनुयायी बनाता है। इसकी दक्षिणा घोड़ा है। घोड़ा वरुण का होता है।[2]

अगले दिन ग्रामणी (ग्राम के नेता) के घर जाकर मरुत के लिए ७ कपालों का पुरोडाश बनाता है। मरुत वैश्य है। ग्रामणी भी वैश्य है। इसलिए वह चरुमरुत का होता है। यह जो ग्रामणी है वह राजा का एक रत्न है। इसी के लिए राजसूय यज्ञ करता है। और इसी को अपना अनुयायी बनाता है। इसकी दक्षिणा चितकबरा बैल है। चितकबरे बैल के शरीर पर बहुत से रंग होते हैं, वैश्य बहुत होते हैं। इसलिए चितकबरा बैल इसकी दक्षिणा है।[3]

अगले दिन क्षत्ता के घर जाकर सविता के लिए १२ कपालों का या आठ कपालों का पुरोडाश बनाता है। सविता देवों का प्रेरक है क्षत्ता भी प्रेरक है। इसलिए यह पुरोडाश सविता के लिये होता है। यह जो क्षत्ता है वह राजा का एक रत्न है। इसी के लिए राजसूय संस्कार होता है और इसी को वह अपना अनुयायी बनाता है। श्येत (कुछ लाल कुछ श्वेत) बैल इसकी दक्षिण है। यह जो तपता है वही सविता अर्थात् सूर्य है। सूर्य चलता है बैल भी

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.4

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.5

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.6

जब जोता जाता है तो चलता है। यह बैल श्येत क्यों होता है? सूर्य भी श्येत है, जब वह निकलता है और डूबता है। इसलिए इसकी दक्षिणा श्येत बैल है।[1]

अगले दिन संग्रहीता के घर जाकर अश्विन के लिए दो कपालों का पुरोडाश बनाता है। अश्विन सयोनी अर्थात् एक ही योनि से उत्पन्न हुए है। और योद्धा और सारथी भी सयोनी हैं, क्योंकि एक ही रथ या योनि पर बैठते हैं। इसलिये यह पुरोडाश अश्विन का होता है। सारथी उसका एक रत्न है। उसी के लिए राजसूय संस्कार किया जाता है, और उसी को अपना अनुयायी बनाता है। यम बैल (जो एक साथ एक ही माँ के पेट से उत्पन्न हुए हों) इसकी दक्षिणा है। यम सयोनी होते हैं। यदि यम न मिलें तो एक ही गाय के एक के पीछे दूसरा उत्पन्न हुए बैल दे; क्योंकि वह भी एक सयोनी ही है।[2]

अब अगले दिन भागदुघ (Collector of Taxes) के घर जाकर पूषा के लिए चरु बनाता है। पूषा देवों का भागदुघ है और यह राजा का भागदुघ है। इसलिए पूषा के लिए चरु होता है। भागदुघ राजा का एक रत्न है, उसी के लिए राजसूय संस्कार करता है और उसी को अपना अनुयायी बनाता है। इसकी दक्षिणा श्यामावर्ग बैल है। इसका वही मूल्य है जो 'त्रिषंयुक्त' में।[3]

अगले दिन अक्षावाप और गोविकर्त के घरों से गवधुक बीजों को लाकर राजसूय करने वालों के घर में रुद्र के लिए चरु बनाता है। ये दोनों दो रत्न है; परन्तु समृद्धि के लिए इनको एक करता है। वह आहुति क्यों देता है? जिस को इस सभा में मारते हैं रुद्र उसकी तलाश मे रहता है। रुद्र अग्नि है और पांसा खेलने का तख्ता अग्नि है और पांच अंगारा हैं, इससे वह उसी को प्रसन्न करता है। जो राजसूय यज्ञ करता है और इस रहस्य को समझता है।

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.7

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.8

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.9

अक्षावाप और गोविकर्त इसका एक रत्न है। वह सोचता है कि इन्हीं के लिए राजसूय संस्कार करूं और इनको अपना अनुयायी बनाऊं। दो रंग का बैल इसकी दक्षिणा है। या तो आगे के पैर श्वेत हों या पूंछ श्वेत हो। पंजे की आकृति की छुरी, घोड़े के बालों के समान लकीरों वाला पांसे खेलने का तख्ता। यह इन दोनों का होता है।[1]

अगले दिन पालागल (हरकारा) के घरों पर जाकर चार चमसे घी लेकर मार्ग के लिए आहुतियाँ देता है। यह कहकर-

जुषाणोऽध्वाऽऽज्यस्य वेतु स्वाहा।
"मार्ग घी की आहुति ग्रहण करे॥"

हरकारे का काम चलने का है। जब हरकारे को भेजते हैं तो वह मार्ग पर चलता है। इसलिए मार्ग के लिए आहुति देता है। यह जो हरकारा है, वह उसका एक रत्न है। इसी लिए राजसूय यज्ञ करता है, इसी को अपना अनुयायी बनाता है। इसकी दक्षिणा है चमड़े से ढकी हुई कॉमन, चमड़े के तरकश और एक लाल पगड़ी। ये उसी की चीजे हैं।[2]

इन ११ रत्नों का सम्पादन करता है। त्रिष्टुप् ११ अक्षरों का होता है। त्रिष्टुप् पराक्रम है। पराक्रम के लिए वह ११ रत्नों का सम्पादन करता है। इनका राजा होता है। इन्हीं के लिए राजसूय यज्ञ करता है, इन्हीं के लिए राजसूय यज्ञ करता है, इन्हीं को अपना अनुयायी बनाता है।[3]

अगले दिन परिवृत्ती के घर जाकर निर्ऋति के लिए चरु बनाता है। परिवृत्ति वह पत्नी है जो पुत्ररहित हो। काले धानों को नखों से तोड़कर चावलों को पका कर निर्ऋति के लिए चरु बनाता है। वह यह कहकर आहुति देता है-

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.10

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.11

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.12

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहा।

"हे निर्ऋति यह तेरा भाग है, तू ग्रहण कर॥"

पुत्र-हीन पत्नी निर्ऋत-गृहीत (आपत्ति-ग्रसित) होती है। और उसमें जो निर्ऋति का गुण है उसका शमन करता है। इसलिए जब वह राजसूय यज्ञ करता है। तो निर्ऋति उसको नहीं सताती। इसकी दक्षिणा है काली बुड्ढी, और रोगी गाय। क्योंकि वह भी निर्ऋति-गृहीत है। वह उससे कहता है "मेरे देश में आज मत बस।" इस प्रकार वह अपने में से पाप को निकाल देता है।[1]

यज्ञ संबंधी सारांश

(१) सेनानी-सेनाध्यक्ष।

(२) पुरोहित।

(३) राजमहिषी।

(४) सूत

(५) ग्रामणी

(६) क्षत्ता

(७) संग्रहीता या सारथी।

(८) भागदुघ - कर लेने वाला।

(९) अक्षावाप और गोविकर्त

(१०) पालागल या हरकारा।

इनके घरों पर जाकर निम्न देवताओं के लिए आहुतियां देता है-

(१) अग्नि, (२) बृहस्पति, (३) अदिति, (४) वरुण, (५) मरुत, (६) सविता, (७) अश्विन, (८) पूषा, (९) रुद्र, (१०) मार्ग।

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.13

इन्द्र के लिए आहुति राजघर में ही दी जाती है।[1]

रत्नों के पश्चात् सोम और रुद्र के लिए आहुति देता है। यह चरु श्वेत बछड़े वाली श्वेत गाय के दूध से बनाया जाता है। रत्नों की पीछे सोम और रुद्र की आहुति क्यों दी जाती है?[2]

एक दिन स्वर्भानु नामक असुर ने सूर्य को अन्धकार में छिपा लिया, अन्धकार से बिंधा हुआ सूर्य न चमका। सोम और रुद्र ने इस अन्धकार को हटा दिया। और सूर्य को पाप से बचा लिया। इसी प्रकार जब राजा अयज्ञों को यज्ञ के साथ संसर्ग कराता है, तो उसमें अन्धकार घुस जाता है, या वह अन्धकार में घुस जाता है। सोम और रुद्र ही उसके अन्धकार को दूर करते हैं। और वह पाप से मुक्त होकर दीक्षित होता है। श्वेत बछड़े वाली श्वेत गाय का दूध क्यों लिया?

अन्धकार काला होता है। श्वेत रंग काले को दूर करता है, इसीलिए इसकी दक्षिणा भी यही सफेद बछड़े वाली सफ़ेद गौ है।[3]

इस आहुति को वह भी दे सकता है, जो अधिकारी तो हो, परन्तु अभी उसको यश प्राप्त न हुआ हो। जो अनूचान या वेदपाठी है, वह अधिकारी तो है, परन्तु उसको अभी यश का लाभ नहीं हुआ। वह अन्धकार से ढका होता है। सोम और रुद्र उसके अन्धकार को दूर कर देते हैं। वह पाप से मुक्त होकर श्री और यश से युक्त होकर ज्योति बन जाता है।[4]

अब वह मित्र और बृहस्पति के लिए चरु बनाता है। जो यज्ञ के साथ संसर्ग कराता है, वह वस्तुतः यज्ञ के मार्ग से च्युत होता है। यह वस्तुतः अयज्ञों का यज्ञ के साथ संसर्ग कराता है, इसलिए वह यज्ञ के मार्ग से च्युत हो जाता है। मित्र और बृहस्पति यज्ञ के मार्ग

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 1.14

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 2.1

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 2.2

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 2.3

हैं। मित्र ब्रह्म है यज्ञ ब्रह्म है। बृहस्पति ब्रह्म है यज्ञ ब्रह्म है। इस प्रकार वह फिर यज्ञ के मार्ग तक वापिस आता है। जब वह यज्ञ के मार्ग तक वापिस आता है, तो दीक्षित हो जाता है। इसलिए वह मित्र और बृहस्पति के लिए चरु बनाता है।[1]

वह इस प्रकार - अश्वत्थ वृक्ष की शाखा, जो स्वयं गिर पड़ी हो, चाहे वृक्ष के पूर्व की ओर या उत्तर की ओर, उसी की लकड़ी से मित्र के चरु के लिए पात्र बनाता है। जो कुल्हाड़ी से काटा जाय वह वरुण्य (दोषयुक्त) हो जाता है। जो स्वयं गिर पड़े वह मित्र का है। इसलिए स्वयं गिरी हुई शाखा से मित्र के चरु के लिए पात्र बनाता है।[2]

अब दही जमाकर और उसको विनाट अर्थात् चमड़े के थैले में रखकर रथ में घोड़े जोतकर और (गाड़ी में थैले को) को लगकार इसको कहता है कि 'उड़जा'। अब वह स्वयं उत्पन्न हुई नवनी हो जाती है। जो नवनी मथानी से मथ कर निकाली जाती है, वह वरुण की होती है जो अपने आप निकल आती है वह मित्र की। इसलिये व स्वयं निकली हुई नवनी होती है।[3]

अब यह चावलों के दो भाग कर डालते हैं। जो छोटे और टूटे-टूटे होते हैं वे बृहस्पति के और बड़े और वे टूटे हुए मित्र के क्योंकि न मित्र किसी को सताता है और न मित्र को कोई सताता है। उसको कुश या कांटा पीड़ा नहीं देता। क्योंकि मित्र सब का मित्र है।[4]

अब बृहस्पति के चरु को पकाता है। और ऊपर मित्र वाले पात्र को रखता है। उसमें घी उडेलता है और चाँवलों को डाल देता है और जो गर्मी से पकाता है, मित्र का इसलिये यह गर्मी से पकता है। इन दोनों (अर्थात् बृहस्पति और मित्र के चरुओं) में से भाग

---

1. मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 2.4
2. मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 2.5
3. मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 2.6
4. मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 2.7

काटकर वह कहता है "मित्र और बृहस्पति के लिए अनुवाक बोलो।" श्रौषट् कहकर वह कहता है "मित्र और बृहस्पति के लिए आहुतियाँ दो।" वषट् कहने पर वह आहुतियाँ देता है।[1]

वह दीक्षा लेते हैं। उपवास के दिन वह अग्नि-सोम के पशु को पकड़ता है। आहुति देकर अग्नि-सोम का ११ कपालों का पुरोड़ाश बनाता है। इसके उपरान्त देव-स्वां हवियाँ बनाई जाती हैं।[2]

सत्य-प्रसव सविता के लिए १२ या ८ कपालों का प्लाशुक चावलों का पुरोडाश बनाता है। सविता देवों का प्रेरक है। 'सविता के प्रेरणा से दीक्षित होऊँ। इसलिए सविता का पुरोडाश बनाता है। और प्लाशुक का इसलिये उनसे शीघ्र ही प्रेरणा मिले।[3]

अब गृहपति अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश प्लाशुक का बनाता है। गृहपति का तात्पर्य है श्री। राजा शासन करता है। गृहपति अग्नि ही उसको अपने घर का स्वामी बनाता है। प्लाशुक का इसलिये कि शीघ्र ही घर का स्वामी बन जाऊँ।[4]

अब वनस्पति सोम के लिए श्यामाक का चरु बनाता है। इस प्रकार वनस्पति-सोम उसका औषधियों के लिए प्रेरणा करता है। श्यामाक का क्यों? ओषधियों में श्यामाक तो प्रत्यक्ष रूप से सोम का ही है। इसलिये श्यामाक का बनाता है।[5]

अब बृहस्पति वाणी के लिए नीवार (जंगली चावलों) का चरु बनाता है कि बृहस्पति इसको वाणी से सुसज्जित कर दे। नीवार का क्यों? बृहस्पति ब्रह्म है और ये जो नीवार हैं उनको भी ब्रह्म ही पकाता है। इसलिये नीवार का होता है।[6]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 2.8

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.1

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.2

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.3

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.4

[6] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.5

जब ज्येष्ठ इन्द्र के लिए हायन का चरु बनाता है कि ज्येष्ठ इन्द्र इसको ज्येष्ठ अर्थात् बड़प्पन दे। हायन का क्यों? इसलिये कि ये जो हायन हैं वे ओषधियों में अतिष्ठ (मुख्य) है। और इन्द्र भी अतिष्ठ (मुख्य) है। इसलिए यह हायन का होता है।[1]

जब पशुपति रुद्र के लिए गावेधुक चावलों का चरु बनाता है। इसलिए कि पशु-पति रुद्र इस (यजमान) को पशुओं से युक्त करे। गवेधुक् को क्यों? इसलिए कि यह देव (रुद्र) कूड़े करकट का देवता है और गावेधुक कूड़ा करकट है। इसलिए गावेधुक का बनाता है।[2]

अब सत्य मित्र के लिए नाम्ब चावलों का चरु बनाता है कि इसको सत्य मित्र ब्रह्म से युक्त करे। नाम्ब का क्यों? जो अन्न जोतकर उगता है वह वरुण का है। यह जो नाम्ब है, वह मित्र का है। इसलिए नाम्ब का होता है।[3]

अब धर्मपति वरुण के लिए जौ का चरु बनाता है कि धर्मपति वरुण उसको धर्म का पति बना दे। यह जो धर्म का पति होना है यही परमता (बड़प्पन) है। जो कोई इस परमता को प्राप्त हो जाता है, उसके पास धर्म के लिए आते हैं। इसलिये धर्मपति वरुण के लिए।[4]

अब अग्नि-सोम के लिए पुरोडाश बनाता है, जब वह ये दूसरी हवियाँ देता है, तो उसकी स्विष्ट-कृत् आहुति शेष रह जाती है।[5]

सविता त्वा स्वानꣳसुवतामग्निर्गृहपतीनाꣳसोमो वनस्पतीनाम्। बृहस्पतिर्वाचऽइन्द्रो ज्यैष्ठयाय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणों धर्मपतीनाम्॥[6]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.6

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.7

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.8

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.9

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.10

[6] यजु०, 9.39

तुझको सविता प्रेरणा अर्थात् शासन की शक्ति दे, अग्नि गृहपति की, सोम वनस्पति की, बृहस्पति वाणी की; इन्द्र बड़प्पन की, रुद्र पशुओं की, मित्र सत्य की, वरुण धर्म-पति की।[1]

इमं देवाः असपत्नꣳसुवध्वम्।[2]

"हे देव! इसको शत्रु-रहित करो।"

यह इसलिए कहता है कि कोई इसका शत्रु न रहे।

"महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय।"

'बड़ी शक्ति और बड़े बड़प्पन के लिए'।

यह स्पष्ट है।

महते जानराज्याय।[3]

"बड़े जन-राज्य के लिए।"

अर्थात् मनुष्यों पर राज्य करने के लिए।

इन्द्रस्येन्द्रियाय[4]

"इन्द्र के पराक्रम के लिए।"

अर्थात् वीर्य के लिए।

इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रम्।[5]

"अमुक पुरुष का लड़का और अमुक स्त्री का लड़का।"

जिससे उसका जन्म हुआ है, उनका नाम लेता है।

अस्यै विशः।[6]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.11

2 यजु०, 9.40

3 यजु०, 9.40

4 यजु०, 9.40

5 यजु०, 9.40

6 यजु०, 9.40

"इन लोगों का।"

अर्थात् इस नामवाली प्रजा का यह राजा है।

'एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं' सोम राजा है।"[1]

ये देव शक्ति देने वाले हैं। इसलिये इनका नाम "देवस्व" है। ये देव ही हैं, जो आज उसको शक्ति देते हैं। और इसी से सम्पन्न होकर कल उसका राजसूय संस्कार होगा।[2]

इनके दो नाम होते हैं। दो का अर्थ है शक्ति। 'शक्ति वाले मुझे शक्ति दें' यह सोच उस उनके दो नाम होते हैं।[3]

अब कहता है कि अग्नि-स्विष्टकृत के लिए बोलो। यह क्रिया दो आहुतियों के बीच में क्यों की जाती है? यह प्रजापति ही है, जो यज्ञ किया जाता है। और जिसे यह सब प्रजा उत्पन्न हुई। और आज भी उसी प्रकार उत्पन्न होती है। इस प्रकार वह उसको प्रजापति के मध्य में रख देता है। और मध्य में ही शक्ति देता है। इसलिए यह क्रिया दो आहुतियों के बीच में की जाती है। श्रौषट् कहला कर कहता है - अग्निस्विष्टकृत् के लिए आहुति दे। और वषट् कहकर आहुति देता है।[4]

वह जलों को एकत्रित करता है। वह जलों को क्यों एकत्रित करता हैं? जल शक्ति है। यह रस शक्ति है। इसलिए जलों को एकत्रित करता है।[5]

अदुम्बर के पात्र में। उदुम्बर रस या अन्न है। अन्न आदि की प्राप्ति के लिए ही वह उदुम्बर के पात्र में (जलों को मिलाता है)।[6]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.12

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.13

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.14

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 3.15

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.1

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.2

पहले सरस्वती का जल लेता है-

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णान्।[1]

"देवों ने मीठा जल लिया।"

ऊर्जस्वती राजस्वश्चितानाः।[2]

"ऊर्जा वाला और राजस्व का प्रेरक।"

रसवती का अर्थ है शक्ति वाला और 'राजस्व का प्रेरक' अर्थ है राजा को प्रेरणा करता है।

याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्।[3]

"जिनसे इन्होंने मित्र और वरुण का अभिषेक किया।"

क्योंकि इन्हीं से मित्र और वरुण का अभिषेक किया था।

याभिरिन्द्रमनयन्नत्यारातीः।[4]

जिनसे उन्होंने इन्द्र को शत्रुओं के पास से होकर निकाला।

वह इनसे उसका अभिषेक करता है। सरस्वती वाक् देवता है, मानो वह वाणी से ही उसका अभिषेक करता है। यह एक प्रकार का जल हुआ। उसको वह लाता है।[5]

अब अध्वर्यु चार चमसों में घी लेकर जल में प्रवेश करता है और उन दो लहरों को लेता है, जो उस समय उत्पन्न हुआ करती है, जब जल में कोई मनुष्य या पशु प्रवेश करता है।[6]

जो लहर सामने उठती है, उसको इस मंत्र से लेता है-

---

[1] यजु०, 10.1

[2] यजु०, 10.1

[3] यजु०, 10.1

[4] यजु०, 10.1

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.3

[6] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.4

वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं में देहि स्वाहा।

वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि॥[1]

तू पुरुष-लहर (शक्ति सिंचन करने वाली) राज्य को देने वाली है। मुझे राज्य दे। तू पुरुष-लहर राज्य को देने वाली है। अमुक पुरुष को राज्य दे।[2]

वृषसेनाऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा।

वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि॥[3]

तू पुरुषों का सेनापति राष्ट्र को देने वाला है, मुझे राष्ट्र दे।

तू पुरुषों का सेनापति राष्ट्र को देने वाला है। अमुक पुरुषा को राज्य दे।

इन जलों से अभिषेक करता है। जब पशु या पुरुष जल में घुसता है तो जलों का जो ऊपर आता है वह वीर्य (पराक्रम) है। अर्थात् वह वीर्य या पराक्रम से अभिषेक करता है। यह एक प्रकार का जल है, जिसको यह लेता है।[4]

अब वह बहुत हुए जल को लेता है-

अर्थेत् स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं में दत्त स्वाहाऽर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त।[5]

तुम अर्थ या प्रयोजन के सिद्ध करने वाले राष्ट्र के देने वाले हो राष्ट्र दो। तुम अर्थ के सिद्ध करने वाले तथा राष्ट्र के देने वाले हो, अमुक को राष्ट्र दो।"

वह इन जलों से अभिषेक करता है। यह जल शक्ति से ही वह इन का अभिषेक करता है। यह एक प्रकार के जल हैं, जिनको लेता है।[6]

---

1 यजु०, 10.2

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.5

3 यजु०, 10.2

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.6

5 यजु०, 10.3

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.7

अब उन जलों को लेता है, जो बहते हुये जलों के उल्टे ओर बहते हैं इस मन्त्र से-

ओजस्वती स्थ राष्ट्र मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त।।[1]

"तुम ओजवाले और राष्ट्र देने वाले हो। मुझे राष्ट्र दो। तुम ओजवाले और राष्ट्र देने वाले हो। अमुक को राज्य दो।"

अब इन से अभिषेक करता है। जो जल बहते हुये जलों के विरुद्ध चलते हैं, वे वस्तुतः शक्ति से चलते हैं। इस प्रकार वह शक्ति-द्वारा अभिषेक करता है। ये एकप्रकार के जल हैं। इनको लेता है।[2]

अब उन जलों को लेता है, जो मुख्यधारा के इधर-उधर हो जाते हैं। इस मन्त्र से-

आपः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं में दत्त।
आपः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त।[3]

"तुम अति बहने वाले राष्ट्र के देने वाले हो। मुझ को राज्य दो। तुम अति बहने वाले राष्ट्र के देने वाले हो। अमुक पुरुष को राज्य दो।"

उन जलों से अभिषेक करता है। ये जल ऐसे हैं कि मुख्यधारा से हटकर भी फिर मुख्य धारा से आ मिलते हैं। इसी प्रकार यदि इसके राज्य में बाहर का कोई हो तो वह इस बाहरी पुरुष को भी अपने में शामिल कर लेता है। और इस प्रकार बहुतायत द्वारा अपना अभिषेक करता है। ये इतने प्रकार के जल हुये, जिनको लेता है।[4]

वह अब नदीपति (समुद्र के जल?) को लेता है-

---

[1] यजु०, 10.3

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.8

[3] यजु०, 10.3

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.9

अपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
अपां पतिरसि राष्ट्रदां राष्ट्रममुष्मै देहि॥[1]

"तू जलों का पति, राष्ट्र का दाता है, मुझे राष्ट्र दे। तू जलों का पति राष्ट्र का दाता है, अमुक पुरुष को राष्ट्र दे।"

अब इस से अभिषेक करता है यज जो नदी-पति हे, वह जलों का पति है। इस प्रकार इस (यजमान राजा) को भी प्रजा का पति बनाता है।

ये एक प्रकार के जल हैं। इन को लेता है।[2]

अब निवेष्य (अर्थात् भंवर के जल) को लेता है-

अपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
अपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि।[3]

"तू जलों का गर्भ है राष्ट्र का देने वाला, मुझे राष्ट्र दे। तू जलों का गर्भ है राष्ट्र का देने वाला है, अमुक पुरुष को राष्ट्र दे।" इससे अभिषेक करता है,गर्भको जल चारों ओर से घेरे रहता हैं। इस प्रकार (यजमान को) प्रजा का गर्भ बनाता है (अर्थात् जैसे जलों से सुरक्षित गर्भ होता है वैसे ही प्रजा से सुरक्षित राजा)। ये एक प्रकार से जल हैं, इनको लेता है।[4]

अब वह जल को लेता है जो धूप में एक स्थान पर इकठ्ठा है-

---

1 यजु०, 10.3

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.10

3 यजु०, 10.3

4 मा० शतपथब्रा० '- अ० 3, ब्रा० 4.11

सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा।

सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त॥[1]

तुम सूर्य-त्वचा वाले, राष्ट्र देने वाले हो, मुझे राष्ट्र दो।

तुम सूर्यत्वचा वाले, राष्ट्र देने वाले हो। अमुक पुरुष को राज दो।

उन से अभिषेक करता है। अर्थात् ज्योति से अभिषेक करता है। सूर्य्य की ज्योति से इस (यजमान) को युक्त करता है। ये जल वरुण के होते हैं, जो बहते हुये भी नहीं बहते। राजसूय भी वरुण का प्रेरित है। इसलिये वह इसका इससे अभिषेक करता है। ये एक प्रकार के जल हैं इनको वह लेता है।[2]

अब उन जलों को लेता है, जो धूप में बरसते हैं-

सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा।

सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त॥[3]

"तुम सूर्य के समान तेज वाले, राष्ट्र देने वाले हो, हम को राष्ट्र दो, तुम सूर्य के समान तेज वाले राष्ट्र के दोने वाले हो, अमुक पुरुष को राष्ट्र दो।"

इन से अभिषेक करता है, मानो तेज से अभिषेक करता है और (यजमान को) सूर्य के समान तेज-युक्त करता है। जो जल धूप चमकने के समय बरसता है, वह पवित्र होता है; क्योंकि जमीन पर नहीं आने पाता, बीच में ही ले लिया जाता है। इस प्रकार इस के द्वारा यह यजमान को पवित्र बनाता है। यह एक प्रकार का जल है। इसी को वह लाता है।[4]

अब तालाब का जल लेता है -

---

1 यजु०, 10.4

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.12

3 यजु०, 10.4

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.13

मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र में दत्त स्वाहा
मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रमुष्मै दत्त॥[1]

तुम प्रसन्न हो राष्ट्र के देने वाले। मुझे राष्ट्र दो।
तुम प्रसन्न हो राष्ट्र के देने वाले, अमुक पुरुष को राष्ट्र दो।

इन से अभिषेक करता है। इनसे प्रजा को दृढ़ और आज्ञाकारी बनाता है। ये इस प्रकार के जल हैं, इनको लाता है।[2]

अब वह कुवें के जल को लाता है-

व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र मे दत्त स्वाहा।
व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त।

"तुम बाड़े में बन्द हो, राष्ट्र के देने वाले हो, मुझे राष्ट्र दो,
"तुम बाड़े में बन्द हो, राष्ट्र के देने वाले हो। अमुक पुरुष को राज्य दो।"

वह इन से अभिषेक करता है। इस प्रकार उन जलों को लाता है, जो (पृथ्वी के) उस पार हैं। इनको वह जलों की पूर्णता (सर्वत्व) के लिये भी करता है। ये एक प्रकार के जल हैं। इन को वह लाता है।[3]

अब वह ओस को लेता है-

वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र में दत्त स्वाहा।
वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त॥[4]

---

1 यजु०, 10.4

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.14

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.15

4 यजु०, 10.4

"तुम वश में रहने वाले, राष्ट्र के देने वाले हो, मुझे राष्ट्र दो।

"तुम वश में रहने वाले, राष्ट्र के देने वाले हो, अमुक पुरुष को राज्य दो।"

इन से अभिषेक करता है। मानो वह इस का अन्न से अभिषेक करता है। उस में अन्न को धारण कराता है। जैसे अग्नि (लकड़ी को) जला देती है, इसी प्रकार सूर्य भी जब चमकता है, जो ओषधियों को जला देता है। जब यह (ओस का) जल पड़ता है, तो यह उस दाह को शान्त कर देता है। यदि यह न पड़ता तो अन्न न बचता! इस प्रकार मानो अन्न से ही इस का अभिषेक करता है। ये एक प्रकार के जल हैं। जिनको वह लाता है।[1]

अब मधु (शहद) को लेता है-

शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं में दत्त स्वाहा।

शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त॥[2]

'तुम बड़े प्रबल हो, राष्ट्र के देने वाले, मुझे राष्ट्र दो।

तुम बड़े प्रबल हो, राष्ट्र के देने वाले, अमुक पुरुष को राष्ट्र दो।'

इन से अभिषेक करता है। मानो वह जलो और ओषधियों के रस से अभिषेक करता है। ये एक प्रकार के जल हैं, उनको लाता है।[3]

जब वह जनती हुई गाय के निकलते हुए पानी को लेता है-

शक्वरी स्थ राष्ट्रदां में दत्त स्वाहा।

शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त॥[4]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.16

[2] यजु०, 10.4

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.17

[4] यजु०, 10.4

"तुम बलवान हो, राष्ट्र के देने वाले, मुझे राष्ट्र दो।
तुम बलवान हो, राष्ट्र के देने वाले, अमुक पुरुष को राष्य दो।"

इनसे अभिषेक करता है, मानो इसका पशुओं से अभिषेक करता है। ये एक प्रकार के जल हैं, जिनको ग्रहण करता है।[1]

अब वह दूध को लेता है-

जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं में दत्त स्वाहा।
जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त॥[2]

"तुम बलवान हो, राष्ट्र के देने वाले, मुझे राष्ट्र दो।
तुम बलवान हो, राष्ट्र के देने वाले, अमुक पुरुष को राज्य दो।"

इनसे अभिषेक करता है, मानो इसका पशुओं से अभिषेक करता है। ये एक प्रकार के जल हैं, जिनको ग्रहण करता है।[3]

अब घी को लाता है-

विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा।
विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त॥[4]

"संसार के पालक, राष्ट्र के देने वाले हो। मुझे राष्ट्र दो।
संसार के पालक, राष्ट्र के देने वाले, अमुक पुरुष को राष्ट्र दो।"

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.18

2 यजु०, 10.4

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.19

4 यजु०, 10.4

इन से इसका अभिषेक करता है। मानो यह पशुओं के रस से अभिषेक करता है। एक प्रकार के जल ये भी हैं, जिनकों लेता है।[1]

अब मरीची अर्थात् सूर्य की किरणों को अंजलि में लेकर जलों में मिलाता है-

आपः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त।[2]

"हे जलो, तुम स्वराज अर्थात् स्वयं चमकने वाले,
राष्ट्र देने वाले हो। राष्ट्र को अमुक पुरुष को दो।"

ये जो मरीची हैं, वे "स्वराज आपः" अर्थात् स्वंय चमकने वाले जल हैं; क्योंकि वे एक दूसरे के आश्रित न होते हुए बहते हैं, कभी ऊपर कभी नीचे। वह इस प्रकार इस (यजमान राजा) में स्वराज स्थापित करता है। एक प्रकार के जल ये भी हैं, जिनको लाता है।[3]

से सत्रह तरह के लिए हुये, जिनको लाता है। प्रजापति सत्रह के अंक वाला है। यज्ञ प्रजापति है। इसलिये सत्रह प्रकार के जलों का सम्पादन करता है।[4]

सोलह प्रकार के जलों का अर्पण करता है। सोलह आहुतियां देता है। ये बत्तीस हुये। दो की आहुति नहीं देता सरस्वती के जलों और मरीची के जलों की। ये चौंतीस हुई। ३३ देव हैं, प्रजापति ३४ वां है। इस प्रकार वह इस यजमान को प्रजाओं का पति बनाता है।[5]

प्रत्येक आहुति के पीछे जलों को क्यों लेता है? घी वज्र है इसी घी-रूपी वज्र से इनको जीतकर और अपना कर लेता है।[6]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.20

2 यजु०, 10.4

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.21

4 वही, अ० 3, ब्रा० 4.22

5 वही, अ० 3, ब्रा० 4.23

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.24

सरस्वती के जलों की आहुति क्यों नहीं देता? सरस्वती वाणी है। घी रूप वज्र है। ऐसा नहीं कि घी रूपी वज्र वाणी को हानि पहुँचे। इसलिए सरस्वती के जलों की आहुति नहीं देता।[1]

मारीचियों की आहुति क्यों नहीं देता? इसलिए कि शायद संदिग्ध स्थान में आहुति न हो जाय। इसलिये मरीचियों की आहुति नहीं देता।[2]

इन सबको उदुम्बर के पात्र में मिलाता है-

मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्।।[3]
"मधुवाली मधुवालियों से मिलें।"

अर्थात् रसवाली रसवालियों से मिलें।
महिक्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना।[4]
"क्षत्रिय के लिए बड़े क्षत्र को जीतने वाले"

यह इसलिए कहता है कि परीक्षा रीति से यजमान के लिए क्षत्रियत्व का आर्शीवाद देता है।[5]

वह मित्र-वरुण के कुण्ड के आगे इनको रखता है-

अनाघृष्टाः सीदत सहौजसः[6]
"बिना बिगाड़े हुये, शक्ति वाले बैठिये।"

तात्पर्य यह है कि राक्षस लोग तुमको बिगाड़ न सकें। और तुम पराक्रम-शील होओ।

---

1 मा० शतपथब्रा०, अ० 3, ब्रा० 4.25

2 वही, अ० 3, ब्रा० 4.26

3 यजु०, 1.14

4 यजु०, 1.14

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.27

6 यजु०, 1.14

महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः।[1]

"क्षत्रिय को अधिक शक्ति प्रदान करते हुये।"

ऐसा कहने से माने क्षत्रिय के लिए प्रत्यक्ष रूप से शक्ति के लिये आर्शीवाद देता है।[2]

उस का अभिषेक दोपहर के सवन में किया जाता है। यह जो यज्ञ यहां किया जाता है, वही प्रजापति है, जिस से ये प्रजायें उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार आजकल भी उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार वह उस (यजमान) को उस प्रजापति के मध्य में रखता है। और मध्य में ही उसको दीक्षित करता है।[3]

माहेन्द्र ग्रह इन्द्र का निज ग्रह है और निष्केवल्य स्तोत्र भी और निष्केवल्य शस्त्र भी। और यजमान इन्द्र है। इस प्रकार वह उस का उसीके घर में अभिषेक करता है। इसलिये माहेन्द्र ग्रह लेने से पूर्व।[4]

मित्र-वरुण के कुण्ड पर सिंह का चमड़ा बिछाता है-

सोमस्य त्विषिरसि।[5]

"तू सोम की दीप्ति (सौंदर्य) है।"

क्योंकि जब सोम इन्द्र में होकर बहा, तो उस से सिंह उत्पन्न हुआ। उसी से सोम की दीप्ति है। इस लियें कहा कि "तू सोम की दीप्ति है।" "मेरा सौन्दर्य तेरा हो जाये।"

---

1 यजु०, 1.14

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 4.28

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.1

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.2

5 यजु०, 1.14

इस प्रकार वह सिंह की दीप्ति को उस में धारण करता है। इसीलिये कहता है कि तेरी दीप्ति के समान मेरी दीप्ति हो जाये।[1]

अब पार्थ आहुतियों को देता है। पृथु वैन्य पहला मनुष्य था, जिसका अभिषेक हुआ। उस ने चाहा कि सब अन्न उसी का हो जाये। उन्होंने उस के लिए वे आहुतियां दीं। और उस ने इस पृथ्वी का सभी अन्न अपना लिया। उन्होंने जंगली पशुओं को भी एक-एक करके बुलाया, "हे पशु! (नाम लेकर) तू आ। राजा तुझ को पकायेगा।" इस प्रकार उसने पृथ्वी पर का सभी अन्न अपना कर लिया। इसी प्रकार जो इस रहस्य को समझ कर, जिस के लिये आहुति देते हैं, वह पुरुष यहां के सभी अन्न को अपना लेता है।[2]

यह (पार्थ आहुतियां) बारह होती हैं। संवत्सर के १२ मास होते हैं। इसलिये १२ आहुतियां होती हैं।[3]

छः आहुतियां अभिषेक के पहले दी जाती है और छः पीछे। इस प्रकार वह उसको प्रजापति के मध्य में रख देता है और मध्य में उसको दीक्षित करता है।[4]

जो आहुतियां अभिषेक के पहले दी जाती हैं, उनमें बृहस्पति की सब से पिछली होती है और जो अभिषेक के बाद दी जाती हैं, उन में इन्द्र की सबसे पहली होती है। बृहस्पति ब्रह्म है और इन्द्र वीर्य है। इस प्रकार वह उस यजमान को दोनों ओर से दो शक्तियों से युक्त कर देता है।[5]

अब वह आहुतियां देता है। जो आहुतियां अभिषेक से पहले दी जाती हैं उन को इन मन्त्रों से देता है-

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.3

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.4

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.5

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.6

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.7

'अग्नये स्वाहा'[1]

क्योंकि अग्नि तेज है। तेज का उसका अभिषेक करता है।

'सोमाय स्वाहा'[2]

सोम क्षत्र है। क्षत्र से उसका अभिषेक करता है।

'सवित्रे स्वाहा'[3]

सविता देवों का प्रेरक है। सविता की प्रेरणा से इसका अभिषेक करता है।

सरस्वत्यै स्वाहा।[4]

सरस्वती वाणी है। वाणी से उसका अभिषेक करता है।

पूष्णे स्वाहा।[5]

पशु पूषा हैं। पशुओं से उसका अभिषेक करता है।

ये आहुतियां अभिषेक से पहले दी जाती हैं। इन को अग्नि-नामक आहुतियों कहते हैं।[6]

अब अभिषेक के पीछे जो आहुतियां दी जाती हैं, वे इन मन्त्रों से-

इन्द्राय स्वाहा।[7]

पराक्रम (वीर्य) का नाम इन्द्र है। पराक्रम के द्वारा उसका अभिषेक करता है।

---

1 यजु०, 1.15

2 यजु०, 1.15

3 यजु०, 1.15

4 यजु०, 1.15

5 यजु०, 1.15

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.8

7 यजु०, 1.15

घोषाय स्वाहा।[1]

पराक्रम का नाम घोष है। पराक्रम के द्वारा उसका अभिषेक करता है।

अंशाय स्वाहा।[2]

वीर्य का नाम अंश है। वीर्य के द्वारा अभिषेक करता है।

भगाय स्वाहा।[3]

वीर्य का नाम अंश है। वीर्य के द्वारा अभिषेक करता है।

अर्यम्णे स्वाहा।[4]

इस प्रकार वह उसको सब का अर्यमा या मित्र बनाता है।

ये आहुतियां अभिषेक के पीछे दी जाती हैं और इनका नाम आदित्य है।[5]

मित्र-वरुण के कुण्ड के सामने अभिषेक के पात्र रखे जाते हैं और उन में अभिषेक का जल रखा रहता है।[6]

एक पात्र पलाश का होता है। उससे ब्राह्मण अभिषेक करता है। पलाश ब्रह्म है। ब्रह्म से ही उसका अभिषेक करता है।[7]

एक पात्र उदुम्बर का होता है। उस से उसी का वंशज अभिषेक करता है। उदुम्बर कहते हैं अन्न या ऊर्ज को। ऊर्ज ही पुरुष की अपनी चीज है। जहां तक पुरुष का

---

1 यजु०, 1.15

2 यजु०, 1.15

3 यजु०, 1.15

4 यजु०, 1.15

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.9

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.10

7 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.11

अपनापन रहता है, वह भूखा नहीं मरता। और उसकी स्थिति बनी रहती है। इसलिये उदुम्बर के पात्र से उसका वंशज अभिषेक करता है।[1]

एक पात्र न्यग्रोध के पद का होता है। इससे क्षत्रिय-मित्र अभिषेक करता है। न्यग्रोध वृक्ष अपने पैरों या जड़ों की सहायता से रहता है और राजा भी मित्र-क्षत्रियों की सहायता से स्थित रहता है। इसलिये न्यग्रोध की जड़ों के पात्र से क्षत्रिय-मित्र अभिषेक करता है।[2]

एक पात्र अश्वत्थ का होता है। इससे वैश्य अभिषेक करता है। पहले इन्द्र ने जब मरुतों को बुलाया, तो वे अश्वत्थ पर बैठे थे। इसलिये अश्वत्थ के पात्र से वैश्य अभिषेक करता है।

ये अभिषेक के पात्र होते हैं।[3]

अब वह दो पवित्र बनाता है-

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ।[4]

"तुम दो पवित्र करने वाले और स्वयं विष्णु से सम्बन्ध रखने वाले हो।"

इस का तात्पर्य वही है।

उन में (सोने के तार) बींधता है। इन से वह अभिषेक के जलों का शुद्ध करता है। सोने के तार क्यों पिरोता है?

सोना अमृत-जीवन है। इन जलों में वह अमृत-जीवन का प्रवेश करता है, इसलिये सोने के तार पिरोता है।[5]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.12

2 वही, अ० 3, ब्रा० 5.13

3 वही, अ० 3, ब्रा० 5.14

4 यजु०, 1.16

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.15

वह इस मन्त्र से पवित्र करता है-

सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।[1]

"सविता की प्रेरणा से दोष-रहित पवित्रे से सूर्य की रश्मियों द्वारा पवित्र करता है।"

इस का भी वही तात्पर्य है।

अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुस्तपोजाः।[2]

"तू भृष्ट नहीं है, वाणी और बन्धु और तप से उत्पन्न हुआ।"

इस का अर्थ है कि राक्षस को भृष्ट नहीं कर सके। इसलिये 'अनिभृष्ट कहा। जब तक प्राणों में जल रहते हैं, तब तक वाणी से बोलते हैं। इसलियें वाणी का बन्धु कहा।[3]

'तपोजा' इस लिये कहा कि अग्नि से भाप बनती है, भाप से बादल, बादल से वर्षा, ये सब अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये 'तपोजा' कहा।[4]

सोमस्य दात्रमसि[5]

"तू सोम का भाग है।"

क्योंकि जब वे जलों से उसका अभिषेक करते हैं, तब एक आहुति देते हैं।

"स्वाहा राजस्वः।"[6]

इस प्रकार 'स्वाहाकार' से उसको पवित्र करता है।[7]

---

1 यजु०, 1.16

2 यजु०, 1.16

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.16

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.17

5 यजु०, 1.16

6 यजु०, 1.16

7 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.18

उन जलों को इन पात्रों में बंटता है।

सधमादो द्युम्निनीराप एता:॥[1]

ये जल साथी और वीर युक्त हैं। सदमाद या साथी कहने से तात्पर्य यह है कि वह अति मानिन्य अर्थात् एक दूसरे पर अपने को बड़ाई प्राप्त कराने वाले नहीं है। द्युम्निनी का अर्थ है वीर्यवान्।

अनाधृष्टा अपस्यो वसाना:।[2]

अनाधृष्टा का अर्थ है न बिगड़े हुये। "अपस्य:" का अर्थ है काम करते हुये। "बसाना:" का अर्थ ढके हुये।।

तात्पर्य यह है कि राक्षस इन जलों को बिगाड़ नहीं पाया।

पस्त्यासु चक्रे वरुण: सधस्थम्॥[3]
"घरों में वरुण ने निवास किया।"

विश् अर्थात् जन समुदाय को 'पस्त्या' कहा है; तात्पर्य यह है कि वरुण लोगों की सहायता करता है।

अपाꣳशिशुर्मातृतमास्वन्त:।[4]
"जलों का शिशु सबसे अच्छी माताओं के भीतर"

जो राजसूय यज्ञ करता है "वह जलों का बेटा" ही है। इसीलिये ऐसा कहा।[5]

---

[1] यजु०, 1.17

[2] यजु०, 1.17

[3] यजु०, 1.17

[4] यजु०, 1.17

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.19

अब वह इस (राजा) को वस्त्र पहनवाता है। एक तो "तार्प्य" होता है। उसमें सब यज्ञ सम्बन्धी चित्र सिले रहते हैं। इस मन्त्र से पहनाता है-

क्षत्रस्योल्बमसि।[1]

"तू क्षत्र का 'उल्ब' है"

इस प्रकार उसको क्षत्रियत्व के उल्ब में से उत्पन्न कराता है।[2]

अब वह उसको बिना रंगी ऊन का कपड़ा पहनाता है।

क्षत्रस्य जराट्वसि।[3]

"क्षत्रियत्व का जरायु है तू।"

इस प्रकार वह जरायु में से उसे उत्पन्न कराता है।[4]

वह ऊपर के वस्त्र को पहनाता है।

"क्षत्रस्य योनिरसि"[5]

"क्षत्रिस्य की योनि है तू।"

इस प्रकार क्षत्रियत्व की योनि में से उसे उत्पन्न कराता है।[6]

अब उष्णीष अर्थात् सिर की पट्टी को लेकर आगे की ओर बांधता है।

क्षत्रस्य नाभि।[7]

---

1 यजु०, 1.17

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.20

3 यजु०, 1.17

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.21

5 यजु०, 10.8

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.22

7 यजु०, 1.18

"क्षत्रियत्व नाभिरसि है तू।"

इसी क्षत्रियत्व की नाभि में वह उस को रखता है।[1]

कुछ लोग उसको चारो ओर लपेटते हैं। वे कहते है कि यह नाभि है। और चारो ओर जाती है। परन्तु ऐसा न करना चाहिए। उस को केवल आगे टांक लेना चाहिए। नाभि भी तो आगे टंकी हुई है। वे उसको वस्त्र क्यों पहनवाता है? वह उसको जनवाता है। क्योंकि जब जाना जाएगा, तो उसका अभिषेक होगा। इसलिए कपड़े पहनवाता है।[2]

कुछ लोग इन वस्त्रों को उतरवाकर दीक्षा के वस्त्र को फिर पहनवाते हैं। परन्तु ऐसा न करे। ये जो कपड़े हैं वे उसके अंग है। उन अंगों से उसको वंचित करता है, अर्थात् उत्पन्न हुए शरीर से। दीक्षित वस्त्र वरुण्य (वरुण का) है। उन्हीं को वह पहने। इस प्रकार (पुरोहित) यजमान को अंगों और शरीर से सम्पन्न करता है। दीक्षित वस्त्र वरुण का है। इसप्रकार वह उसको वरुण के दीक्षित वस्त्र से छुड़ाता है।[3]

जब वह स्नानागार में पहुंचता है, तो वे उस वस्त्र को जल में फैंक देते हैं। यह क्रिया सुसंगत है। वह इन्हीं वस्त्रों में से एक को धारण करके बाहर निकलता है। वह इन को दे डाले या तो वपा की आहुति होने पर या इष्टि की पूर्ति पर।[4]

अब वह (अध्वर्यु) धनुष पर चिल्ला चढ़ाता है। इस मन्त्र को पढ़कर-

इन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि।[5]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.23

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.24

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.25

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.26

5 यजु०, 1.18

क्योंकि धनु वार्त्रघ्न अर्थात् वृत्र का घातक है। यजमान इन्द्र है। वह दो प्रकार से इन्द्र है, क्षत्रिय होने से, यजमान होने से और इसीलिये कहा कि इन्द्र का वार्त्रघ्न है।[1]

अब वह भुजाओं को मलता है इस मन्त्र से -

मित्रस्यासि वरुणास्यासि।[2]

अर्थात् तेरी सहायता से यह अपने शत्रु को मारे। ऐसा तात्पर्य है।[3]

अब वह उसको तीन तीर देता है। पहला तीर वह है जिससे भेदन करता है। वह पृथ्वी है। उसका नाम दृबा है। दूसरा यह है जिसके भेदन से लेट जाता है, जीता है, या मरता है। वह अन्तरिक्ष है। वह रुजा है। और तीसरा वह है जो चूक जाता है। वह द्यौ है। वह क्षुमा है। ये तीन प्रकार के तीर होते हैं, इसलिए उसको ये तीन तीर देता है।[4][5]

वह इनको इस मन्त्र से देता है-

"पातैनं प्राञ्चं पातैनं प्रत्यञ्चं पातैनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात।"[6]

उसकी आगे की ओर रक्षा करो, पीछे की ओर रक्षा करो, बगल की ओर रक्षा करो, सब ओर रक्षा करो।

इस प्रकार वह उसके लिए सब दिशाएं बाणों से रहित (अशरव्या) कर देता है।

उसको धनु क्यों देता है? यह जो धनु है वह क्षत्रिय का बल है। ऐसा करने में उसका विचार है कि "मै बलवान् का अभिषेक करूँ"। इसीलिए उसको वह अस्त्र देता है।[7]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.27

2 यजु०, 1.18

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.28

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.29

5 "दृबासि, रुजासि, क्षुमासि" यजु०, 1.18

6 यजु०, 1.18

7 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.30

अब उस से इस 'आविद' को बचवाता है-

"आविर्मर्याः"[1]

"हे मनुष्यों! सामने।"

यह स्पष्ट नहीं है। प्रजापति भी स्पष्ट नहीं। इस प्रकार वह उसका प्रजापति के लिए आवेदन करता है। इस प्रकार उसकी सवन के लिए अनुमति हो जाती है, और उसी अनुमति से उसकी दीक्षा होती है।[2]

आवित्तोऽअग्निर्गृहपतिः।[3]

"गृहपति अग्नि उपस्थित है।"

अग्नि ब्राह्मण है। इस प्रकार ब्राह्मण से उसका आवेदन करता है। उसी की अनुमति से सवन होता है। उसकी अनुमति से दीक्षित होता है।[4]

आवित्तऽइन्द्र वृद्ध श्रवा।[5]

"बहुत कीर्ति वाला इन्द्र उपस्थित है।"

इन्द्र क्षत्रिय है। इसप्रकार क्षत्रिय से उसका आवेदन करता है। उसी की अनुमति से सवन होता है। उसी की अनुमति से दीक्षित होता है।[6]

आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतौ।[7]

---

[1] यजु०, 1.19

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.31

[3] यजु०, 1.19

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.32

[5] यजु०, 1.19

[6] मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.33

[7] यजु०, 1.19

"व्रतों के धारण करने वाले मित्र और वरुण उपस्थित है।"

प्राण और उदान मित्र और वरुण है। इस प्रकार प्राण और उदान से उसका आवेदन कराता है। उन्हीं की अनुमति से उसका सवन होता है। उन्हीं की अनुमति से दीक्षित होता है।[1]

आवित्तः पूषा विश्वेदा।[2]

पशु ही पूषा हैं। इस प्रकार पशुओं के लिए उसका आवेदन कराता है। वे ही दीक्षा की अनुमति देते हैं। उन्हीं की अनुमति से दीक्षित होता है।[3]

आविते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवौ।[4]

"कल्याणकारी द्यौ और पृथिवी उपस्थित है।"

इस प्रकार वह द्यौ और पृथ्वी के लिये आवेदन कराता है। इन्हीं की अनुमति से यह सवन होता है। इन्हीं की अनुमति से दीक्षित होता है।[5]

आवित्ताऽदितिरुरुशर्मा।[6]

"कल्याणकारी द्यौ और पृथिवी उपस्थित हैं।"

इस प्रकार वह द्यौ और पृथ्वी के लिए आवेदन कराता है। इन्हीं की अनुमति से यह सवन होता है। इन्हीं की अनुमति से दीक्षित होता है।[7]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.34

2 यजु०, 1.19

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.35

4 यजु०, 1.19

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.36

6 यजु०, 1.19

7 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.37

आवित्ताऽदितिरुरुशर्मा।[1]

"यह बड़ी रक्षिका अदिति उपस्थित है।"

यह बड़ी रक्षिका अदिति है। इस प्रकार वह इस पृथिवी के लिए आवेदन करता है। उसी की अनुमति से सवन होता है, उसी की अनुमति से दीक्षित होता है। इस प्रकार जिन जिन देवताओं के प्रति वह आवेदन क़राता है, वे वे देवता अनुमति देते हैं। उन्हीं की अनुमति से वह दीक्षित होता है।[2]

केश वाले पुरुष के मुंह में तांबे का टुकड़ा रखकर कहता हैं-

अवेष्टा दन्दशूकाः।[3]

"मृत्यु करने वाले जन्तु अलग रहें"

जो राजसूय यज्ञ करता है, वह सब प्रकार की मृत्यु से बच जाता है और सब प्रकार के वध से। उसकी बुढ़ापे में ही मृत्यु होती है। इस प्रकार जो मौत हो, जो घात हो उससे यह (यजमान को) बचाता है, जैसे (सर्प आदि) घातकों से। (दन्दशूक सर्प आदि घातक जन्तुओं के नाम है)।[4]

केशव पुरुष क्यों लिया गया? इसलिए कि न यह स्त्री है न पुरुष। केशव पुरुष पुरुष होता है, इसलिए स्त्री नहीं, चूंकि केशव (नपुंसक) है, इसलिए पुरुष नहीं। यह जो तांबा है, वह न लोहा है न सोना। और जो दन्दशूक सर्पादि हैं, वे तो क्रिमि हैं, न अक्रिमि। तांबा इसलिए कि दन्दशूक भी लाल होते हैं। इसलिए केशव के (मुंह में तांबा डालता है)।[5]

अब वह उसको दिशाओं में चढ़ाता है-

---

1 यजु०, 1.19

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 3, ब्रा० 5.38

3 यजु०, 10.10

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.1

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.2

प्राचीमारोह गायत्री त्वाऽवतु रथन्तरꣳसाम।
त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम्॥[1]

'पूर्व की ओर चढ़। गायत्री तेरी रक्षा करे। रथन्तर साम, त्रिवृत् स्तोम, वसन्त ऋतु, ब्राह्मण रूपी धन (तेरी रक्षा करें)"[2]

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वाऽवतु बृहत्साम।
पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम्॥[3]

दक्षिण दिशा में चढ़। त्रिष्टुप् तेरी रक्षा करे। बृहत्साम, पन्द्रह स्तोम, ग्रीष्म ऋतु, क्षत्रियरूपी धन (तेरी रक्षा करे)"[4]

प्रतीचीमारोह जगती त्वाऽवतु वैरूपꣳसाम सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम्॥[5]

"पश्चिम की ओर चढ़। जगती तेरी रक्षा करे। वैरूप साम, १७ स्तोम, वर्षा ऋतु वैश्यरूपी धन तेरी रक्षा करें।"[6]

उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वाऽवतु वैराजꣳसामैकविꣳशस्तोमः शरद् ऋतुः फलं द्रविणम्॥[7]

---

1 यजु०, 10.10

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.3

3 यजु०, 10.11

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.4

5 यजु०, 10.12

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.5

7 यजु०, 1.13

"उत्तर की ओर चढ़। अनुष्टुप् तेरी रक्षा करे। वैराज साम, इक्कीस स्तोम, शरद् ऋतु, यज्ञ का फलरूपी द्रव्य (तेरी रक्षा करें)"[1]

ऊर्ध्वामारोह पङ्क्तिस्त्वाऽवतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणाम्॥[2]

"ऊपर की ओर चढ़ पङ्क्ति तेरी रक्षा करे। शाक्वर और रैवत दो साम, २७ और ३० स्तोम, हेमन्त और शिशिर दोनों ऋतुएं वर्चस्रूपी धन (तेरी रक्षा करें)"[3]

वह दिशाओं में उसको क्यों चढ़ाता है? यह वस्तुतः ऋतुओं का रूप है। वह इस प्रकार उसको ऋतुओं और सवंत्सर के ऊपर कर देता है। वह ऋतुओं और संवत्सर के ऊपर होकर सबके ऊपर हो जाता है। ये सब उसके नीचे होते हैं।[4]

सिंह-चर्म के पिछले भाग में सीसे का टुकड़ा रखा होता है। वह उसको पैर से ठोकर मारता है-

प्रत्यस्त चमुचिः शिरः।[5]

"नमुचि का सिर ठुकरा दिया गया।"

नमुचि एक असुर था। इन्द्र ने उसको मारा और पैर से उसका शिर ठुकरा दिया। वह जो कुचला हुआ सिर सूज गया यही उछ्वङ्क है। उसने अपने पैर से उसका सिर छेदा। उससे एक राक्षस उत्पन्न हुआ। वह चिल्लाकर कहने लगा। "कहाँ जाएगा? उनसे कहाँ बचेगा"[6]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.6

2 यजु०, 10.13

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.7

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.8

5 यजु०, 10.14

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.9

उसने उसको सीसे से मार भगाया। इसलिए सीसा कोमल होता है। क्योंकि उसने समस्त बल से (राक्षस को) मारा, इसलिए उसका जोर निकल गया। इसलिये यद्यपि सीसा सोने के रूप का होता है, परन्तु उसका कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि उसने समस्त बल लगाकर राक्षस को मारा। इन्द्र ने इस प्रकार सब राक्षसों को मारा। इसी प्रकार यह राजा भी राक्षसों को मार भगाता है।[1]

अब वह उसको सिंह-चर्म के ऊपर चढ़ाता है।

सोमस्य त्विषिरसि।[2]

"तू सोम का सौंदर्य है।"

क्योंकि जब सोम इन्द्र में होकर बहा तो इन्द्र शेर हो गया। इसलिए वह सोम का सौंदर्य है। इसीलिए वह कहता है कि तू इन्द्र का सौंदर्य है।

तवेव में त्विषिर्भूयात्।[3]

"तेरा सा मेरा भी सौंदर्य हो।"

इस प्रकार वह उसको सिंह का सौंदर्य देता है। इसलिये कहता है। कि "तेरा सा मेरा भी सौंदर्य हो"[4]

(राजा के पैर के) तले वह एक सोने का टुकडा डाल देता है-

"मृत्योः पाहि"[5]

"मृत्यु से बचा।"

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.10

2 यजु०, 10.15

3 यजु०, 10.15

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.11

5 यजु०, 10.15

सोना अमर-जीवन है। इस प्रकार वह अमर-जीवन के ऊपर प्रतिष्ठित होता है।[1]

अब एक सोने का टुकड़ा होता है, जिसमें सौ छिद्र होते हैं, या नौ छिद्र हुए।[2] इससे सोने के टुकड़े को यह मंत्र पढ़कर उसके सिर पर रखता है-

ओजोऽसि सहोऽसि अमृतमसि।[3]

"तू ओज है, तू शक्ति है, तू अमृत है"

सोना अमर जीवन है। इस प्रकार वह उसमें अमर जीवन का प्रवेश कराता है। दोनों ओर सोने के टुकड़े क्यों होते है? इसलिए कि सोना अमर जीवन है। इस प्रकार वह उसको दोनों ओर जीवन से घेर देता है। इसीलिये दोनों ओर सोने के टुकड़े होते हैं।[4]

अब वह अपनी भुजाएं उठाता है-

हिण्यरूपाऽउषसो विरोकऽउभाविन्द्राऽउदिथः सूर्यश्च।
आरोहतं वरुण मित्र गर्त ततश्चक्षाथामदितिं दितिं च॥

हे स्वर्ण रूप तुम दोनों इन्द्र (स्वामी) उषा के निकलने पर सूर्य्य के साथ-साथ निकलते हो "हे वरुण! और मित्र! तुम रथ पर चढ़ो। और वहाँ से अदिति तथा दिति को देखो।

भुजाएं मित्र और वरुण हैं, और पुरुष रथ है। इसलिए कहता है कि हे मित्र! और वरुण! रथ पर चढ़ो और अदिति और दिति को देखो।" इसका तात्पर्य है कि तुम अपने को देखो और अन्य को।[5]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.12

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.13

3 यजु०, 10.15

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.14

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.15

इसी को कहकर हाथ न उठाना चाहिए, किन्तु कहना चाहिए कि-

"मित्रोऽसि वरुणोऽसि।"[1]

"तू मित्र है। तू वरुण है।"

क्योंकि मित्र और वरुण दो भुजाएं हैं। इन्ही भुजाओं के कारण क्षत्रिए का नाम मैत्रावरुण है। इसलिए "तू मित्र है, तू वरुण है" ऐसा कहकर हाथ उठाना चाहिए।[2]

वह उसकी भुजाएं ऊपर उठाकर क्यों अभिषेक करता है? ये जो भुजाएं हैं, वह क्षत्रिय की शक्ति है, और वह जलों का रस भी शक्ति है, जिससे अभिषेक होगा। वह सोचता है कि कहीं ऐसा न हो कि जलों की शक्ति मेरी शक्ति को दबा दे। इसलिए वह हाथ उठवाकर उसका अभिषेक करता है।[3]

पूर्वाभिमुख खड़े हुये का अभिषेक किया जाता है। पहले ब्राह्मण अभिषेक करता है, अध्वर्यु या पुरोहित। पीछे से दूसरे।[4]

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चामि।[5]

"तेरा सोम की कान्ति से अभिषेक करता हूँ"

अर्थात् वीर्य (पराक्रम) से।

"अग्नेर्भ्राजसा"[6]

"अग्नि के तेज से"

अर्थात् वीर्य से।

---

[1] यजु०, 10.16

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.16

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 1.17

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 2.1

[5] यजु०, 10.17

[6] यजु०, 10.17

सूर्यस्य वर्चसा।[1]

अर्थात् वीर्य से।

इन्द्रस्येन्द्रियेण।[2]

अर्थात् वीर्य से।

क्षत्राणां क्षत्रपतिरेधि।[3]

"तू क्षत्रों का क्षत्रपति हो।"

अर्थात् राजाओं का अधिराज।

दिद्यून् पाहि।[4]

"बाणों से रक्षा करे।"

'दिद्यू' का अर्थ है बाण। इसप्रकार वह बाणों की चोट से उसको दूर कर देता है। इसलिए कहता है "बाणों से रक्षा कर"[5]

इम देवाः असपत्नꣳसुवध्म्।[6]

अर्थात् हे देवो, इसको शत्रुरहित करो।

महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठयाय।[7]

"बड़े क्षत्रियत्व और बडप्पन के लिए।"

यह स्पष्ट है।

---

1 यजु०, 10.17

2 यजु०, 10.17

3 यजु०, 10.17

4 यजु०, 10.17

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 2.2

6 यजु०, 10.18

7 यजु०, 10.18

"महते जानराज्याय"[1]

अर्थात् लोगों के बड़े राज्य के लिए।

"इन्द्रस्येन्द्रियाय"[2]

अर्थात् इन्द्र के पराक्रम के लिए।

इममुष्य पुत्रष्य पुत्रममुष्यै पुत्रम्।[3]

"इस अमुक पुरुष और अमुक स्त्री के पुत्र को"

इसका तात्पर्य यह है कि उसने कहां जन्म लिया है।

"अस्यै विशः"[4]

अर्थात् इन लोगों का वह अधिपति है।

"एष वोऽमी राजा सोमोऽस्मांक ब्राह्मणानाᳬराजा।"[5]

"हे लोगों! यह तुम्हारा राजा है। सोम हम ब्राह्मणों का राजा है।"

इस प्रकार वह ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सबको राजा का खाद्य बनाता है। इस लिए ब्राह्मण खाद्य नहीं है; क्योंकि उसका राजा सोम है।[6]

अब वह राजा काले हिरण के सींग से उस छिड़के हुए जल को अपने ऊपर मलता है। क्योंकि जलों के जिस रस से उसका अभिषेक हुआ है वह शक्ति-मय है। वह इस

---

1 यजु०, 10.18

2 यजु०, 10.18

3 यजु०, 10.18

4 यजु०, 10.18

5 यजु०, 10.18

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 2.3

सबको अपने शरीर पर इसलिए मलता है। कि वह समझता है। कि सब शक्ति मेरे में प्रविष्ट हो जाए।[1]

वह इस मंत्र से मलता है-

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठात्।[2]

"पर्वत, बैल की पीठ से"

जैसे पर्वत होता है या जैसे और पशुओं में बैल होता है। इसी प्रकार जो राजसूय यज्ञ करता है, सबसे ऊँचा होता है और सब उसके नीचे होते हैं। इसीलिए कहा-

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान् नावश्चरन्ति स्वसि च ऽइयानाः ता आववृत्रन्नधरा-गुदक्ता अहिं बुध्न्यमनुरीयमाणाः।[3]

वृषभ पर्वत (या वर्षायुक्त बादल) की पीठ से स्वयं सींची हुई जलधाराएं चलती। वे नीचे से ऊपर को लौटती हुई प्रधान यजमान तक पहुंचती है। (अहि का अर्थ है 'अहन्तारं' यजमान और बुध्न का अर्थ है मूल, इसलिए बुध्न्य' का अर्थ हुआ मौलिक, या प्रधान)।[4]

अब वह व्याघ्र चर्म के भीतर-भीतर विष्णु के तीन पग मरवाता है-

विष्णोर्विक्रमण मसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि।[5]

तू विष्णु का विक्रमणा, विक्रान्त और क्रान्त है।

(यह तीन पगों का नाम है)।

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 2.4

2 यजु०, 10.19

3 यजु०, 10.19

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 2.5

5 यजु०, 10.19

इन्हीं तीनों पगों को चलकर तीनों लोकों को पार करके वह सबके ऊपर हो जाता है। और सब उसके नीचे रहते हैं।[1]

अब जो कुछ शेष जल है वह ब्राह्मण के पात्र में छोड़ देता है। इसप्रकार अपने पीछे ब्राह्मण को यजमान करता है। इसलिए ब्राह्मण राजा का अनुयश है। (अर्थात् राजा के पीछे ब्राह्मण का यश है)।[2]

जो उसका (राजा का) प्रियतम पुत्र होता है उसको यह पात्र देकर कहता है। "मेरा यह पुत्र मेरे पराक्रम के सिलसिले को आगे बढ़ावे"[3]

अब उसको पीछे से पकड़े-पकड़े गार्हपत्य अग्नि तक आता है और इस मन्त्र से आहुति देता है-

"प्रजापते न त्वेदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिताबभूव। यत् कामास्ते जुहमस्तन्नो अस्त्व्यममुष्य पिता।"[4]

"हे प्रजापति, तुझे छोड़कर किसी और न इन सब रूपों को घेरा नहीं है। जिस जिस कामना के लिए हम आहुति दें, कामना हमारी पूरी हो। यह अमुक का पिता है"

जो पुत्र है, उसे पिता करता है और जो पिता है उसे पुत्र करता है। इस प्रकार इसके पराक्रम को एक दूसरे से जोड़ देता है। फिर उनको पहले की तरह ठीक-ठीक कर देता है-

वयं स्याम पतयो रयीणाꣳस्वाहा।[5]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 2.6

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 2.7

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 2.8

[4] यजु०, 10.19

[5] यजु०, 10.19

"हम धनों के स्वामी होवें।"

यह उस कर्म का आर्शीवाद है। इस प्रकार वह आर्शीवाद देता है।[1]

अब जो बच रहा है। उससे अग्नीध्रीय में आहुति देता है, जो कुछ बच रहा वह शेष ही तो है और अग्नीध्रीय भी शेष ही है। गार्हपत्य में हवियों को पकाते हैं। आहवनीय में आहुति देते हैं। इस प्रकार (अग्नीध्रीय) शेष है। इस शेष को शेष में डालता है। वह कुण्ड के उत्तर भाग में आहुति देता है; क्योंकि यह दिशा उस देव (रुद्र) की है। इसलिए उत्तर भाग में आहुति देता है-

रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन्हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा।[2]

"हे रुद्र, जो तेरा यह बड़ा क्रिया (हिंसा करने वाला या काम करने वाला या सबसे अच्छा। 'क्रिवि' शब्द तीन अर्थों में आता है) नाम है, उसी में तू आहुत है। तू घर में इष्ट है।"

जो उसका अपना सम्बन्धी होता है, उसकी सौ या सौ से अधिक गायों को वह आहवनीय के उत्तर में रखता है। इसका यह प्रयोजन है।[3]

जब वरुण का अभिषेक हुआ तो सब वीर्य और पराक्रम उस में से निकल गया। शायद यह जो जलों का रस था जिससे उसका अभिषेक हुआ था। उसी रस ने उसके वीर्य और पराक्रम को मार डाला। उसने उसे पशुओं में पाया। और चूंकि पूशओं में पाया इसलिए पशु यज्ञ हो गए। पशुओं में पाकर वीर्य और पराक्रम को उसने स्वयं अपने में धारण कर लिया। इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए। यहां उसमें से वीर्य और पराक्रम निकलता तो नहीं परन्तु वह यह समझ लेता है कि जैसा वरुण ने किया वैसा मैं भी करूं इसलिए ऐसा करता है।[4]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 2.9

2 यजु०, 10.20

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.1

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.2

अब वह रथ को (रथशाला से) लाता है। जो चीज राजा से भागती है राजा रथ में चढ़कर ही उसको पकड़ लेता है। इसीलिए वह रथ को लाता है।[1]

वह इस मन्त्र से लाता है-

इन्द्रस्य वज्रोसि।[2]

"तू इन्द्र का वज्र है।"

रथ वज्र है औ यजमान इन्द्र। वह दो अर्थ में इन्द्र है। एक तो क्षत्रिय है और दूसरे यजमान। इसलिए कहा "इन्द्र का वज्र है तू"[3]

उसको इस प्रकार घुमारकर कि वेदी के भीतर खड़ा हो सके, जोतता है इस मन्त्र से-

मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि।[4]

"मित्र और वरुण दो बाहें है, इन दो भुजाओं के बल पर ही क्षत्रिय मित्र और वरुण होता है। इसलिए कहा "मित्र और वरुण रूपी दोनों शासकों के शासन से तुझ को जोतता है"[5]

वह उसमें चार घोड़े जोतता है। वह सदस के पीछे शाला के आगे उस रास्ते से जाता है, जिससे दक्षिणा में दी हुई गायें जाती हैं। वह चात्वाल के पीछे और अग्नीध्र के सामने ठहरता है।[6]

उस पर नीचे के मन्त्र से चढ़ता है-

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.3

[2] यजु०, 10.21

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.4

[4] यजु०, 10.21

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.5

[6] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.6

अव्यथायै त्वा स्वाधायै त्वा।[1]

"तुझ में तन्दुरुस्ती के लिए और स्वधा के लिए।"

अव्यथा का अर्थ है विपत्तियों से अलग रहना। स्वधा का अर्थ है 'रस'।

अरिष्टो अर्जुनः।[2]

"सुरक्षित अर्जुन।"

अर्जुन इन्द्र का गुप्त नाम है। वह दो कारणों से इन्द्र है। एक तो क्षत्रिय है दूसरे यजमान। इसलिए कहा "सुरक्षित अर्जुन"[3]

अब दाहिने घोड़े को इस मन्त्र से हांकता है–

मरुतां प्रसवेन जय।[4]

"तू मरुतों की प्रेरणा से जीत।"

मरुत कहते हैं लोगों को क्षत्रिय जो कुछ जीतता है, वह लोगों की सहायता से ही जीतता है। इसलिए कहा "मरुतों की प्रेरणा से जीत"[5]

अब वह गायों के मध्य में (रथ को) ठहराता है।

आपाम मनसा।[6]

"हम मन से प्राप्त करें।"

---

1 यजु०, 10.21

2 यजु०, 10.21

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.7

4 यजु०, 10.21

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.8

6 यजु०, 10.21

"मन से ही सब चीज प्राप्त की गई। मन से ही सब कुछ प्राप्त होती है। इसलिए, कहा, "मन से प्राप्त करें"[1]

अब वह धनुष के अग्रभाग से गाय को छूता है-

समिन्द्रियेण।[2]

"पराक्रम से।"

इन्द्रिय वीर्य हैं और गायें वीर्य हैं। इसलिए वह वीर्य की प्राप्ति करता है। वह यह भी कहता है "इनको जीतें, इनको पकड़ें"[3]

अपने सम्बन्धियों की गाओं के मध्य में इसलिए खड़ा होता है कि जो कुछ पुरुष से निकलता है, चाहे वह यज्ञ हो या अन्य कुछ, वह सबसे पहले सम्बन्धियों में ही जाता है। वह सम्बन्धियों से ही पराक्रम को अपने में धारण करता है। इसलिए सम्बन्धियों की गायों के मध्य खड़ा होता है।[4]

इसके बदले में वह उस को उतनी ही अधिक गायें देता है। यह जो यजमान है, वह क्रूर कर्म के योग्य नहीं हैं; परन्तु जब वह कहते है कि 'मैं इनको जीतूं या पकडूं', तो वह अवश्य ही क्रूर कर्म है। और यह कर्म क्रूरता-शून्य हो जाता है, इसलिए व उस को उतनी या अधिक गायें देता है।[5]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.9

[2] यजु०, 10.21

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.10

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.11

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.12

अब वह घोड़ों को दाहिनी ओर खींचता है। वह यूप के आगे वेदी की दाहिनी ओर जाता है, जिस मार्ग से दक्षिणा की गायें जाती है। सदस के पीछे और शाला के आगे वह रथ को ठहराता है।[1]

वह रथ को इस मन्त्र से ठहराता है-

मा त ऽइन्द्र तं वयं तुराषाट्। अयुक्तासोऽअब्रह्मता विदसाम। तिष्ठारथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन् देव यमसे स्वश्वान्।[2]

"हे वज्रहस्त इन्द्र, तुम उस रथ पर बैठो, जिसको और जिस के घोड़ों को रस्सियों सहित तुम शासन में रखते हो। कहीं ऐसा न हो कि हम असावधान और नास्तिक हो जाएं। हे ऐश्वर्ययुक्त इन्द्र, कहीं ऐसा न हो कि तुम हमारे बीच में न रहो।"

'रश्मि' का अर्थ है 'लगाम'। इसलिए कहा कि हे! देव, तू अच्छे घोड़ों की रश्मियों सहित शासन में रखता है। अब वह रथ-विमोचन सम्बन्धी आहुतियां देता है। वह सोचता है। कि रथ जब खुल जाएगा तो खुश हो जाएगा। इसी लिए वह रथ-विमोचन सम्बन्धी आहुतियां देता है।[3]

वे आहिुतियां इन मन्त्रों से दी जाती है।

अग्नये गृहपतये स्वाहा।[4]

इससे वह रथ के अग्नि सम्बन्धी भाग को प्रसन्न करता है। रथ का कंधा ("वह") अग्नि का है। इसलिए रथ के कन्धे का खुश करता है। 'श्री' गृहयति की है, क्योंकि राजा

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.13

2 यजु०, 10.22

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.14

4 यजु०, 10.23

जो राज करता है, तो गृह की श्री के लिए ही करता है। इस आहुति से राजा की श्री स्वतंत्र हो जाती है। (अर्थात् किसी के बन्धन में नहीं रहती)।[1]

सोमाय वनस्पतये स्वाहा।[2]

वनस्पति वृक्षों से दो चीजें मिलती हैं, रथ के पहिये और गाड़ी। इन दोनों को वह सुरक्षित कर देता है। सोम वन का राजा है। इसलिए रथ का जो भाग वन का है उसको वह प्रसन्न कर देता है। रथ के जो भाग लकड़ी के बने हुए हैं, वे ही वन से सम्बन्ध रखते है। इसलिए रथ के लकड़ी के भागों को वह सन्तुष्ट कर देता है।

सोम क्षत्रिय है। इस लिये इस आहुति से राजा के क्षत्रिय भाग को मुक्त कर देता है।[3]

मरुतामोजसे स्वाहा।[4]

इस आहुति से वह रथ के उस भाग को प्रसन्न करता है जो मरुत का है चार घोड़े, पांचवां रथ, सवार, और रथवान ये सात हुये। सात ही मरुतगण है। इससे वह सम्पूर्ण रथ को प्रसन्न करता है। मरुत का अर्थ है किसान। इस आहुति से वह वैश्यों को मुक्त कर देता है।[5]

इन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा।[6]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.15

2 यजु०, 10.23

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.16

4 यजु०, 10.23

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.17

6 यजु०, 10.23

इस आहुति से वह रथ के उस भाग को प्रसन्न करता है जो इन्द्र का भाग है। सवार इन्द्र-सम्बन्धी है। इस आहुति से वह सवार को प्रसन्न करता है। इन्द्र की इन्द्रिय उसका पराक्रम है। इस अहुति से वह राजा के पराक्रम को (आपत्तियों से) मुक्त करता है।[1]

अब वह वराह (सूअर) के चमड़े के जूते पहनता है। एक बार देवों ने घी के घड़े को अग्नि में रखा। उस में वराह (सूअर) उत्पन्न हुआ। इसलिए सूअर मोटा होता है, क्योंकि वह घी में से उत्पन्न होता है। इसलिये गायें वराह को चाहती हैं (तस्माद् वराहे वाद: संजानते?) वह अपने ही रस को इस प्रकार चाहती हैं। इस प्रकार वह पशुओं के इस रस में अपने को प्रतिष्ठित करता है। इसलिए सूअर के चमड़े के जूते पहनता है।[2]

वह भूमि की ओर देखकर जपता है।

पृथिवि मातर्मा हिꣳसीर्मोऽअहं त्वाम्।[3]

हे पृथिवी माता तू मूझे दु:ख न दे और मैं तुझे दु:ख न दूं। जब वरुण का अभिषेक हो गया, तो पृथिवी उससे डर गई। उसने सोचा कि जिसका अभिषेक हो जाता है, वह बहुत बड़ा हो जाता है। ऐसा न हो वह मेरा अनादर करे। वरुण भी पृथिवी से डरा कि यह मुझे उखाड़ न दे। इसलिए इस नियम से वह पृथिवी के साथ मित्रता पैदा करता है, क्योंकि न माता पुत्र को दु:ख देती है न पुत्र माता को।[4]

यह जो राजसूय है, वह वरुण का 'सव' अर्थात् अभिषेक है। पृथिवी उससे डरती है यह सोचकर कि अभिषेक से वह वस्तुत: बहुत बड़ा बन गया है। ऐसा न हो कि वह मेरा अनादर करे। वह इससे डरता है यह सोचता है कि कहीं यह मुझे उखाड़ न दे। इसलिए इस

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.18

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.19

[3] यजु०, 10.23

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.20

से वह पृथिवी के साथ मित्रता की स्थापना करता है। क्योंकि माता पुत्र को दुःख नहीं देती और न पुत्र माता दुःख देता है।[1]

वह इस अति छन्दस मन्त्र को पढ़कर रथ से उतरता है।

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसत्,
होता वेदिषत् अतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जा,
गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।[2]

प्रकाश में रहने वाला हंस अन्तरिक्ष में रहने वाला वसु, वेदि में रहने वाला होता, दुरोण में रहने वाला अतिथि, मनुष्य में रहने वाला, श्रेष्ठों में रहने वाला, अन्तरिक्ष में रहने वाला, जलों से उत्पन्न होने वाला, गौ से उत्पन्न होने वाला सत्य से उत्पन्न होने वाला, अद्रि या मेघ से उत्पन्न होने वाला, ब्रह्म इनमें मैं उतरता हूँ।

अतिछन्द में सब छन्द आ जाते हैं। इस प्रकार उस को पाप नहीं सताता।[3]

रथवान उसके साथ न उतरे, जिससे उसी लोक में न उतर सके, जिसमें अभिषेक वाला राजा उतरता है। उसको रथ के साथ रथ वाहन (रथ खड़ा करने का अड्डा) में ले जाते हैं। वहां वह कूद पड़ता है, इस प्रकार वह उसी लोक में नहीं उतरता, जिसमें अभिषेक युक्त राजा उतरता है।[4]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.21

2 यजु०, 10.24

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.22

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.23

आहवनीय के उत्तर में पहली अग्नि रखी होती है। रथवाहन के पिछले दाहिने पहिये में दो शतमान (सोने के सिक्के) बांध देता है।[1]

अब उदुम्बर की शाखा को (मार्ग में) छिपा देता है। इन दोनों में से एक को छूता है इस मन्त्र से-

इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेहि।[2]

"तू इतना बड़ा है। तू आयु है मुझे आयु दे। तू जोड़ा है। तू वर्चस् है, मुझे वर्चस् दे।" इस प्रकार वह अपने में आयु और वर्चस को धारण करता है।[3]

अब वह उदुम्बुर की शाखा को नीचे के मन्त्र से छूता है-

ऊर्गस्यूर्जं मयि धेहि।[4]

"तू ऊर्ज है। मुझे ऊर्ज दे।"

इस प्रकार वह अपने में ऊर्ज को धारण करता है। इस कर्म की दक्षिणा वही दो गोल शतमान (सिक्का विशेष) हैं। वह उन को ब्रह्मा को देता है। ब्रह्मा यज्ञ की दक्षिणा की ओर से रक्षा करता है। इसलिए वह इन को ब्रह्मा को दे देता है।[5]

मित्र-वरुण के कुण्ड के पास मित्रा-वरुण के दही के पात्र रखे हुए होते हैं। वह यजमान के दोनों बाहुओं को उन तक खींचता है इस मन्त्र से-

इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहू अभ्युपावहरामि।[6]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.24

[2] यजु०, 10.25

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.25

[4] यजु०, 10.25

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.26

[6] यजु०, 10.25

"हे इन्द्र की बलवान् भुजाओं! मैं तुम को खींचता हूँ।"

दही पशुओं का रस है। इस प्रकार वह इन भुजाओं को पशुओं के रस तक ले जाता है। इनको मित्र-वरुण का क्योंकि कहते हैं? बाहु ही मित्र और वरुण हैं। इसलिए वे मित्र और वरुण के होते हैं।[1]

मित्र वरुण के दही का प्रयोग चलता है। इसकी स्विष्टकृद् आहुति अभी शेष रहती है। तभी उसके लिए चौकी (आसन्दी) लाते हैं। जो अन्तरिक्ष में स्थान पा लेता है, वह सबके ऊपर स्थान पा लेता है। उसकी प्रजा नीचे बैठती है और वह ऊपर बैठता है। इसीलिए उसके लिए चौकी लाते हैं। यह खादिर लकड़ी की और छिद्र-युक्त होती है। और तस्मों से बंधी होती है, जैसे भरतों की चौकी थी।[2]

वह इसको मित्रा-वरुण के कुण्ड के आगे रखता है। इस मन्त्र से-

स्योनाऽसि सुषदाऽसि।[3]

तू आनन्द युक्त और नरम है।

इससे वह इसको कल्याण युक्त बनाता है।[4]

अब वह उस पर कपड़ा उढ़ाता है, यह पढ़कर-

क्षत्रस्य योनिरसि।[5]

तू क्षत्र की योनि है।

इस प्रकार वह इसको क्षत्र की योनि बना देता है।[6]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 3.27

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.1

3 यजु०, 10.26

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.2

5 यजु०, 10.26

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.2

अब वह उसको उस पर बिठाता है यह पढ़कर-

स्योनामासीद सुषदामासीद।[1]

"आनन्द युक्त स्थान पर बैठ, नरम स्थान पर बैठ।"

अर्थात् तू कल्याणकारी आसन पर बैठ।

अब कहता है-

क्षत्रस्य योनिमासीद।[2]

"क्षत्र की योनि में बैठ।"

इस प्रकार वह उसको क्षत्रियत्व की योनि में बिठाता है।[3]

अब उसकी छाती का स्पर्श करके कहता है-

निषसाद धृतव्रतः।[4]

"व्रत की रक्षा करने वाला बैठ गया।"

राजा व्रतों का रक्षक है, क्योंकि राजा ऐसा व्यक्ति नहीं जो सब कुछ बोल सके, और सब कुछ कर सके। जो कुछ कहेगा, साधु कहेगा। जो कुछ करेगा, साधु करेगा। ये दो काम इन्हीं दोनों अर्थात् राजा (क्षत्रिय) और श्रोत्रिय (ब्राह्मण) के लिए हैं। मनुष्यों के बीच में ये दोनें धृतव्रत (अर्थात् व्रत को पालते हैं, इसीलिए कहा कि धृतव्रत बैठ गया।"

"वरुणः पस्त्यासु।"[5]

"पस्त्या में वरुण"। यहाँ पस्त्या नाम है प्रजा का।

---

1 यजु०, 10.26

2 यजु०, 10.26

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.3

4 यजु०, 10.26, ऋ०, 1.125.10

5 यजु०, 10.27

अर्थात् राजा प्रजा में बैठता है।

साम्राज्याय सुक्रतुः।[1]

"वह (राजा) साम्राज्य के लिए अच्छे काम करने वाला है।

अर्थात् राजा साम्राज्य के लिए है।[2]

अब वह पांच अक्षों को उसके हाथ में देता है।

अभिभूररस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्ताम्।[3]

"तू अधिपति है। तेरी ये पांच दिशायें कल्याणकारी हों।"

जैसे कलि (पासों में एक ओर को कलि और शेष को कृत, त्रेता, द्वापर कहते हैं) कलि ऊपर रहने में जुआ खेलने वाले की जीत होती है।) सबके ऊपर रहता है, इसी प्रकार राजा भी इसके ऊपर रहता है। इसलिए कहा कि ये पांच दिशाऐं कल्याणकारी हों। दिशाऐं पांच ही होती है, इसलिए पांच दिशाऐं कल्याणकारी हो ऐसा कहा।[4]

अब उसको (अध्वर्यु आदि) चुपके से पीठ में लकड़ी से मारते हैं। उसको डण्डे से मारकर दण्ड मुक्त कर देते हैं। चूंकि राजा दण्ड के विधान से मुक्त होता है, इसलिए वह अदण्ड्य होता है।[5]

अब वह वर मांगता है। अभिषेक करने वाला जो कुछ वर मांगता है, वह पूरा हो जाता है। इसलिए वह वर मांगता है।[6]

---

1 यजु०, 10.27

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.5

3 यजु०, 10.28

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.6

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.7

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.8

अब वह पहले को "हे ब्रह्मन्"! ऐसा कहकर बुलाता है। वह "हे ब्रह्मन्" कहकर पहले इसलिए पुकारता है कि मैं, पहले, "ब्रह्मा" को बोलूं और ब्रह्मा से प्रेरित वाणी का उच्चारण करूँ। इसलिए "ब्रह्मन्" ऐसा कहकर बोलता है। दूसरा उत्तर देता है, "तू ब्रह्मा है, सत्य का प्रेरक सविता है।[1] इस प्रकार वह उसमें वीर्य धारण कराता है और सविता को सत्यप्रसव अर्थात्- सत्य का प्रेरक बनाता हैं।[2]

अब वह "हे ब्रह्मन्" दूसरे को कहता है। तब दूसरा उत्तर देता है - "तू ब्रह्मा है" "तू सत्य ओजवाला वरुण है।"[3] इस प्रकार उसमें वीर्य को धारण कराता है और वरुण को सत्य ओजवाला बनाता है।[4]

अब वह तीसरे को कहता है "हे ब्रह्मनृ"। वह उत्तर देता है, "तू ब्रह्मा है, दयालु रुद्र है",[5] इस प्रकार वह राजा में पुराने पराक्रम को धरण कराता है। और रुद्र को शमन करता है। इसीलिए रुद्र सब पर दया करता है कि याज्ञिक ने उसका शमन कर दिया।

अब वह पांचवें को बोलता है, "हे ब्रह्मन्", वह अनिरुक्त, अर्थात् अनिश्चित रीति से उत्तर देता है, तू ब्रह्मा है।" निरुक्त का अर्थ है परिमित, अनिरुक्त का अपरिमित। अब तब उसने उसमें परिमित पराक्रम धारण कराया। अब वह उसमें अपरिमित पराक्रम धारण कराता है। इसीलिए अनिरुक्त या अपरिमित उत्तर देता है।[6]

---

1 यजु०, 10.28

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.9

3 यजु०, 10.28

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.10

5 यजु०, 10.28

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.11

अब वह उसको मंगल नामों से पुकारता है। अर्थात् 'बहुकार' (बहुत काम करने वाला), श्रेयस्कर (अधिक काम करने वाला) भूयस्कर (अत्यन्त काम करने वाला![1]) जो कोई ऐसे नाम वाला होता है, वह मनुष्य की वाणी से भी कल्याण ही बोलता है।[2]

अब वह ब्राह्मण, अध्वर्यु या राजा का पुरोहित, उसको स्फ्या देता है। "तू इन्द्र का वज्र है। मेरा लाभ कर"[3] स्फ्या वज्र है। ब्राह्मण इस वज्र के द्वारा राजा को अपने आपसे निर्बल बना देता है। जो राजा ब्राह्मण से निर्बल है, वह शत्रुओं से बलवान है। इस प्रकार वह राजा को शत्रुओं से अधिक बलवान् बनाता है।[4]

राजा उस स्फ्या को राजभ्राता को देता है, यह कहकर कि 'तू इन्द्र का वज्र है, मेरा काम कर"[5]

राजभ्राता उसको सूत या स्थपति को देता है, यह कहकर कि तू इन्द्र का वज्र है मेरा काम कर[6] इस प्रकार वह सूत या स्थपति को अपने से दुर्बल बनाता है।[7]

सूत या स्थपति उसको गांव के मुखिया को देता है, यह कहकर कि तू इन्द्र का वज्र है मेरा काम कर। इस प्रकार यह सूत या स्थपति है गांव के मुखिया को अपने से दुर्बल करता है।[8]

---

[1] यजु०, 10.28

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.14

[3] यजु०, 10.28

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.15

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.16

[6] यजु०, 10.28

[7] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.17

[8] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.18

तब गांव का मुखिया उसे सजात (साझी) को दे देता है यह कहकर कि 'तू इन्द्र का वज्र है मेरा काम कर' इस प्रकार वह सूत या स्थपति गांव के मुखिया को अपने साक्षी को अपने से दुर्बल करता है। वे स्फ्या को एक दूसरे को इसलिए देते हैं कि इस से समाज की व्यवस्था ठीक रहे । और समाज ठीक रहे।[1]

अब समाज ओर प्रति प्रस्थाता उस स्फ्या से अग्नि के सामने शुक्र पुरोरुच मंत्र पढ़ कर[2] 'अधिदेवन' को बनाता है। शुक्र का अर्थ है अत्ता वह इस प्रकार उसको अत्ता बनाता है।[3]

अब मन्थि के पुरोरुच मंत्र से[4] विमित (छप्पर की शाला) बनाते है। मन्थी का अर्थ है आद्य (जो कुछ खाया जाए)। मन्थि के पुरोरुच मंत्र से विमित बनाने का प्रयोजन यह है कि पहले उसे अत्ता बनाते हैं फिर आद्य।[5]

अब अध्वर्यु चार प्यालों में घी लेकर अधिदेवन में सुवर्ण रखकर इस मंत्र से आहुति देता है-

अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणोऽग्निः पृथुधर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा।[6]

फैलने वाला अग्नि जो धर्म का पति है प्रसन्न हो। फैलने वाला अग्नि जो धर्म का पति है इस आज्य को स्वीकार करें।[7]

अब अध्वर्यु नीचे के मंत्र से पांसे फैंकता है-

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.19

2 यजु०, 7.10

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.20

4 यजु०, 7.11

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.21

6 यजु०, 10.21

7 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.22

स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वं सजातानां मध्यमेष्ठ्याय[1]

"स्वाहा से युक्त तुम सूर्य की किरणों की सहायता से सजातों के मध्य में उत्तम स्थान प्राप्त करने के लिए यत्न करो।" द्यूतस्थान ही फैलने वाली अग्नि है। पांसे उस के अंगारे हैं। इस प्रकार इसी अग्नि को वह प्रसन्न करता है। जो राजसूय यज्ञ करता है, या जो इस रहस्य को समझता है, पांसों के लिए वह कहता है, "गाय के लिए खेलो।" (अर्थात् गाय को दाँव पर लगाकर खेलो)। इस की दक्षिणा अग्नि को ले जाने वाले दो बैल हैं।[2]

अब वह कहता है, "स्विष्टकृत अग्नि के लिए अनुवचन कहो।" यह कर्म दो आहुतियों के बीच में क्यों किया जाता है? जो यज्ञ यहां किया जाता है वह प्रजापति है। इसी से यह प्रजा उत्पन्न हुई। और अब भी इसी से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार वह यजमान को प्रजापति के मध्य में प्रतिष्ठित कर देता है और मध्य में ही उसको दीक्षित करता है। इसी लिए दो आहुतियों के बीच में यह कर्म किया जाता है। श्रौषट् कहकर कहता है कि अग्नि स्विष्टकृत के लिए यज्ञ करो। और वषट्कृत् आहुति देता है।[3]

वह इडा को आग पर रखता है, इडा का मंत्र पढ़ कर तथा इडा को छूकर वह महेन्द्र-ग्रह को लेता है। महेन्द्र-ग्रह को लेकर वह स्तोत्र पढ़ता है। अब वह यजमान को स्तोत्र के लिए प्रेरित करता है। अब वह नीचे उतरता है। स्तोत्र और शस्त्र के निकट रहता है।[4]

जब वरुण का अभिषेक हुआ था तो उसका भर्ग चला गया था। भर्ग का अर्थ है वीर्य विष्णु या यज्ञ ही चला गया था। शायद जिन जलों के रस से उसका अभिषेक हुआ था, उन्होंने इसके भर्ग (तेज) को नष्ट कर डाला।[5]

---

1. यजु०, 10.21
2. मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.23
3. मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.24
4. मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 4.25
5. मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.1

यजमान ने उस भर्ग को इन देवताओं के साथ पीछा किया-

प्रेरक सविता के साथ, वाणी सरस्वती के साथ, रूप वाले त्वष्टा के साथ, पूषा अर्थात् पशुओं के साथ, ब्रह्म बृहस्पति के साथ, ओज वाले वरुण के साथ, तेज युक्त अग्नि के साथ, राजा सोम के साथ विष्णु के साथ। परन्तु केवल देवता विष्णु की सहायता से उस के उस भर्ग को प्राप्त किया।[1]

चूंकि यह इन देवताओं के साथ उसके पीछे चला (समसर्पत्) इसलिए इस यज्ञ को संसृप नाम हुआ (सम् उपसर्ग, + सृप् धातु) और चूंकि दशवें दिन उसका अभिषेक हुआ, इसलिए ये उसे दशपेय कहते हैं। और चूंकि एक एक चमसे के पीछे दस दस आदमी चलते, हैं, इसलिए भी यह दशपेय कहलाता है।[2]

कुछ लोगों का कहना है कि इस सोम-पीने वाले पितामहों का नाम लेकर पीछे चले। इसी से स्वयं भी सोम पीने के योग्य हो सकेगा। परन्तु यह बहुत ज्यादा है; क्योंकि दो-तीन सोम पीने वाले पितामह ही मिल सकते हैं। इसलिए इन दस देवताओं का नाम लेकर ही पीछे चल।[3]

इन्हीं (दस) देवताओं का नाम लेकर ही वरुण ने सोमपान किया था। इसी प्रकार यह भी सोमपान करता है। इसलिए इन्हीं देवताओं का नाम लेकर वह पीछा करे। जब इस अभिषेक की अन्तिम इष्टि समाप्त होने पर आवे तो।[4]

इन हवियों को तैयार करता है। सविता के लिए बारह कपालों का या आठ कापालों का पुरोडाश। सविता देवताओं का प्रेरक है। सविता की प्रेरणा से ही वरुण उस समय आगे

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.2

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.3

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.4

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.5

चला था, और इसी प्रकार सविता की प्रेरणा से यह भी आगे चलता है। यहाँ पर एक कमल-पुष्प अर्पण करता है।[1]

अब सरस्वती के लिए चरु तैयार करता है। वाणी सरस्वती है। इसी वाणी के साथ वरुण ने उस समय उसका पीछा किया, और इसी प्रकार यह भी वाणी के साथ ही उसका पीछा करते हैं। वहाँ पर एक कमल-पुष्प अर्पण करता है।[2]

अब त्वष्टा के लिए दश कपालों का पुरोडाश बनाता है। त्वष्टा ही रूपों का अधिपति है। त्वष्टा के रूपों से ही वरुण उस समय उसके पीछे चला था और उसी प्रकार त्वष्टा के रूपों के साथ यह भी पीछे चलता है। वहाँ एक कमल-पुष्प अपर्ण करता है।[3]

अब पूषा के लिए चरु बनाता है। पशु ही पूषा है। पशुओं के साथ ही वरुण ने उसका पीछा किया था, और पशुओं के साथ ही यह भी पीछा करता है। वहाँ एक कमल-पुष्प अर्पण करता है।[4]

अब इन्द्र का ग्यारह कपालों का पुरोडाश बनाता है। वीर्य इन्द्र का है। इन्द्र के ही वीर्य से वरुण ने उस समय उसका पीछा किया था। इन्द्र के वीर्य के ही सहारे यह भी उसका पीछा करता है। वहाँ एक कमल-पुष्प अर्पण करता है।[5]

अब बृहस्पति का चरु बनाता है। ब्रह्म ही बृहस्पति है। ब्रह्म के साथ ही वरुण ने उसका पीछा किया था। इसी प्रकार यह भी ब्रह्म के साथ ही पीछा करता है। वहाँ एक कमल-पुष्प अर्पण करता है।[6]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.6

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.7

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.8

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.9

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.10

[6] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.11

अब वरुण का जौ का चरु बनाता है। जिस ओज से वरुण ने इन प्रजाओं को पकड़ा, उसी ओज से वह उसके पीछे चला। उसी ओज से यह भी उसका पीछा करता है। वहाँ एक कमल-पुष्प अर्पण करता है।[1]

उपसद के देवता दशमें हैं। वह पांच कमल-पुष्प अर्पण करता है। १२ कमल पुष्पों की माला वह स्वयं पहनता है। यही दीक्षा है। इसी दीक्षा से दीक्षित होता है।[2]

ये फूल बारह क्यों होते हैं? संवत्सर में १२ मास होते हैं। संवत्सर का नाम है 'सब', इस प्रकार 'सब' के द्वारा ही वह इसको दीक्षित करता है। कमल के फूल तो द्यौ लोक का रूप हैं। वे नक्षत्रों का रूप हैं। जो वधक अर्थात् डंठल हैं, वे अन्तरिक्ष का रूप हैं। जो अंकुये हैं, वे पृथ्वी का रूप हैं। इस प्रकार तीनों लोकों में वह उसको दीक्षित करता है।[3]

अब सोम राजा को खरीद कर और उसको दो भागों में बांधकर चारों और फिराते हैं। आधे को चौकी पर बिठाकर अगला कृत्य करता है। जो आधा भाग ब्राह्मण के घर में रखा होता है, उसको चौकी पर बिठाकर आतिथ्य करता है। जब आतिथ्य बनाता है, तभी उपसद भी बनाता है। जब उपसद बनाता है तभी।[4]

इन हवियों को भी बनाता है, अर्थात् अग्नि के लिए आठ कपालों का पुरोडाश, सोम के लिए चरु, विष्णु के लिए तीन कपालों का पुरोडाश या चरु। इस प्रकार यथेष्ट यज्ञ करता है।[5]

---

1 मा० शतपथब्रा० – अ० 4, ब्रा० 5.12

2 मा० शतपथब्रा० – अ० 4, ब्रा० 5.13

3 मा० शतपथब्रा० – अ० 4, ब्रा० 5.14

4 मा० शतपथब्रा० – अ० 4, ब्रा० 5.15

5 मा० शतपथब्रा० – अ० 4, ब्रा० 5.16

परन्तु ऐसा न करे। जो यज्ञ पथ से चूकता है वह गिरता है। और जो उपसद के मार्ग से चूकता है, वह यज्ञ के पथ से चूकता है। इसलिए उपसद पथ से न चूकना चाहिए।[1]

अग्नि में आहुति देने का अर्थ यह है कि अग्नि देवता की सहायता से तेज के साथ उसका पीछा करता है। सोम के लिए आहुति देने का अर्थ यह है कि सोम राजा की सहायता से पीछा करता है। विष्णु के लिए आहुति देने का अर्थ यह है कि विष्णु तो स्वयं यज्ञ है। ऐसा करने से प्रत्यक्ष रूप से यज्ञ को प्राप्त कर लेता है। उसको प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करके वह उसको अपना बना लेता है।[2]

यही दशपेय सप्तदश भागों वाला अग्निष्टोम हो जाता है। प्रजापति सत्रह भागों वाला है। प्रजापति यज्ञ है। इस प्रकार वह प्रत्यक्ष रूप से उसको प्राप्त करता है। और प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करके उसको अपना बना लेता है।[3]

इसकी दक्षिणा है १२ गौवें, जिनके पहलौठी गर्भ हो। संवत्सर में १२ मास होते हैं। प्रजापति यज्ञ है। इस प्रकार वह यज्ञ को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करता है, और प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करके उसको अपना बना लेता है।[4]

इन गौओं के बारह गर्भ हुए। इस प्रकार चौबीस हो गए। संवत्सर में चौबीस पक्ष होते हैं। संवत्सर प्रजापति है। प्रजापति यज्ञ है। इस प्रकार वह प्रत्यक्ष रूप से यज्ञ को प्राप्त करता है, और प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करके उसको अपना बना देता है।[5]

वह इनको ब्रह्मा को देता है। क्योंकि ब्रह्मा यज्ञ की दक्षिणा से रक्षा करता है। इस लिए वह इनको ब्रह्मा को देता है। सोने की माला उद्गाता को। होता को सोने की प्याली।

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.17

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.18

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.19

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.20

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.21

दोनों अध्वर्युओं को दो सोने के दर्पण, प्रस्तोता को घोड़ा मित्र-वरुण को एक बांझ गौ, ब्राह्मणच्छसिन् को एक बैल, नेष्टा और पोता को दो कपड़े, अच्छावाक को जौ-भरी गाड़ी, जिसमें एक बोर बैल जुता हो, अग्नीध्र को एक बैल।[1]

ये दक्षिणा बारह होती हैं या तेरह। संवत्सर में या बारह मास होते हैं या तेरह। संवत्सर प्रजापति है। प्रजापति यज्ञ है। इस प्रकार वह प्रत्यक्ष रूप से यज्ञ को प्राप्त करता है। और प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करके उसको अपना बनाता है।[2]

आठ कपालों पर अग्नि का पुरोडाश होता है। उसको वह वेदी के पूर्वार्ध में रखता है। इन्द्र का ग्यारह कपालों का पुरोडाश होता है या सोम का चरु। उसको दक्षिणार्ध की ओर रखता है। विश्वेदेवों का चरु होता है उसे पश्चिमार्ध में रखता है। मित्र और वरुण की पयस्या (दही) होती है। उसे उत्तरार्द्ध में रखता है बृहस्पति का चरु होता है उसे बीच में रखता है। यह पांच बिलों वाला चरु होता है। जो पांच हवियां होती हैं, उनके पांच बिल (छिद्र) होते हैं। इसलिए चरु को 'पंचबिल कहते हैं।[3]

राजसूय करने वाला इस को क्यों करता है? इस यज्ञ से यजमान को दिशाओं, ॠतुओं, स्तोमों, छन्दों के ऊपर चढ़ा देता है। इस कृत्य से उसका उपचार हो जाता है। यदि राजसूय यज्ञ करने वाला इसको न करे तो अभिमानी हो जाए, तथा पतित हो जाए। अत एवं राजसूय यज्ञ करने वाला इसको करता है।[4]

वह अग्नि का आठ कपालों का पुरोडाश क्यों बनाता है? इससे पूर्व की दिशा को चढ़ता है, ॠतुओं को, तथा स्तोमों को और छन्दों को। इस कृत्य से उसका उपचार हो जाता है। इस का अवविशिष्ट बृहस्पति के चरु में डाल देता है।[5]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.22

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 4, ब्रा० 5.23

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 1.1

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 1.2

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 1.3

ग्यारह कपालों का इन्द्र का पुरोडाश क्यों होता है और सोम का चरु क्यों? इसलिए कि वह दक्षिण दिशा को चढ़ता है, ऋतुओं को, स्तोमों को, छन्दों को। इस कृत्य से उसका उपचार हो जाता है। अवशिष्ट को वह बृहस्पति के चरु में डाल देता है।[1]

मित्र-वरुण की पयस्या क्यों दी जाती है? इससे वह उत्तर की दिशा को चढ़ता है, ऋतुओं को, स्तोमों को और छन्दों को। इसी से इसका उपचार हो जाता है। अवशिष्ट को बृहस्पति के चरु में डाल देता है। बृहस्पति के चरु में अवशिष्ट को डाल देने से वह इस (यजमान) को अन्न प्राप्त कराता है। इसीलिए सब दिशाओं से राजा के लिए अन्न आता है।[2]

बृहस्पति का चरु क्यों होता है? क्योंकि इससे वह ऊपर की दिशा में चढ़ता है, ऋतुओं को, स्तोमों को, छन्दों को। इससे उसका उपचार हो जाता है।[3]

अग्नि के लिए आठ कपालों को जो पुरोडाश होता है उसके लिए ऋत्विज की दक्षिणा स्वर्ण है। क्योंकि यह यज्ञ अग्नि-सम्बन्धों है। स्वर्ण अग्नि का रेत है, इसलिए उसकी दक्षिणा स्वर्ण है। यह दक्षिणा अग्नीध्र को दी जाती है। अग्नीध्र अन्त को अग्नि ही तो है, इसलिए वह इस को अग्नीध्र को देता है।[4]

यह जो इन्द्र का ग्याहर कपालों का पुरोडाश होता है, उसकी दक्षिण बैल है। वह जो बैल है वह इन्द्र सम्बन्धी है। यह जो सोम का चरु है उसकी दक्षिण भूरी गाय है। भूरी गाय सोम-सम्बन्धिनी है। उसको ब्रह्मा को देता है। ब्रह्मा यज्ञ की दक्षिणा की ओर से रक्षा करता है। इसलिए वह उसको ब्रह्मा के अर्पण करता है।[5]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 1.4

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 1.5

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 1.7

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 1.8

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 1.9

यह जो विश्वेदेवों का चरु है। उसकी दक्षिणा है चितकबरी गाय। यह जो चितकबरी गौ है वह बहुतायत है। विश्वे देवा प्रजा हैं। प्रजा बहुतायत है। इसलिए इसकी दक्षिण चितकबरी गौ है। उसको होता को देता है। होता बहुतायत है। इसलिए वह उसे होता को देता है।[1]

जो मित्र-वरुण की पयस्या, उसकी दक्षिण बांझ गाय है। यह बांझ गाय मित्र वरुण की होती है। यदि बांझ गौ न हो, तो गर्भिणी नहीं। जो गर्भिणी नहीं है वह बांझ ही तो है। उसको अध्वर्यु को देता है। प्राण और उदान दो अध्वर्यु हैं। प्राण और उदान मित्रावरुण हैं। इसलिए उसको दो अध्वर्युओं को देता है।[2]

यह जो बृहस्पति का चरु है, उसकी दक्षिणा है श्वेत पीठ की गौ। यह जो ऊपर को दिशा है वह बृहस्पति की है। इससे ऊपर का मार्ग अर्यमा का है। इस बृहस्पति के यज्ञ की दक्षिणा श्वेत पृष्ठ की गौ है। इस को ब्रह्मा को देता है। बृहस्पति ही देवताओं का ब्रह्मा है। और यह ब्रह्मा यजमान का है। इसलिए वह इसको ब्रह्मा को देता है। जो विष्ठाब्राजी (?) अन्न को चाहे वह यह यज्ञ करे। इस प्रकार वह चारों और से उसके लिए अन्न लाता है और वह अन्नाद हो जाता है।[3]

अब वह प्रयुज हवियों को देता है। प्रयुज हवियों को क्यों देता है? इसलिए कि जिसका अभिषेक हुआ है वह इनसे ऋतुओं को जोड़ता है। इस प्रकार जुड़े हुए ऋतु उसको ले चलते हैं (जैसे जुड़े हुए घोड़े सवारी को)। वह जुड़े ऋतुओं के पीछे-पीछे चलता है। इसलिए वह प्रयुज आहुतियों को देता है।[4]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 1.10

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 1.11

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 1.14

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 2.1

ये बारह होते हैं। वर्ष में बारह मास होते हैं, इसलिए ये भी बारह होते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि मास में यज्ञ करे। मनुष्य के जीवन की कौन जाने? इसलिए मास मास में न करे। पूर्व की ओर चलकर छः आहुतियां एक दूसरे से शमी की दूरी पर दे, और फिर लौटकर छः आहुतियां उसी प्रकार एक दूसरे से शमी की दूरी पर दे।[1]

परन्तु ऐसा न करे। इन पहली छः हवियों को यह एक बर्हि से उन उन देवताओं के रूप में देता है। जैसे जोढ़े में धोड़े जोतकर वर्सात तक चलें। इस प्रकार छः ऋतुओं को जोतता है, और जुते हुए उसको आगे ले जाते हैं, और वह जुते हुए ऋतुओं को वर्षा-ऋतु तक अनुसरण करता है। इसकी दक्षिणा होते हैं, वे दोनों बैल जो पूर्व अग्नि को ले जाते हैं।[2]

पिछली छः हवियों को एक ही बर्हियों के साथ उन-उन देवताओं के रूप में देता है, जैसे वे फिर वर्षा तक लौटेंगे, इस प्रकार वह छः ऋतुओं को जोतता है और इस प्रकार जुते हुए ये ऋतु उसको आगे ले चलते हैं ओर वह उन जुते हुए ऋतुओं का वर्षा तक अनुसरण करता है। इसकी दक्षिण होते हैं दो बैल जो पूर्व अग्नि को ले जाते हैं। ये पूर्व अग्नि को ले जाने वाले बैल क्यों दक्षिणा है? इसलिए कि अभिषेक वाला ऋतुओं को जोतता है। और बैल ही खींचा करते हैं। इसलिए पूर्व अग्नि के ले जाने वाले दो बैल ही उसकी दक्षिणा है।[3]

पहले इस विषय में कुरुपंचालों का कहना था, "यह ऋतुएं ही हैं जो जुतकर हमको ले जाती है और हम इन्हीं जुती हुई ऋतुओं का अनुसरण करते है- उनके राजा राजसूय यज्ञ करने वाले होते थे, इसलिए वे ऐसा कहते थे।[4]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 2.2

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 2.3

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 2.4

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 2.5

अग्नि का आठ कपालों का पुरोडाश होता है, सोम का चरु, सविता का बारह कपालों का या आठ कपोलों का पुरोडाश, बृहस्पति का चरु, त्वष्टा का दस कपालों का पुरोडाश? वैश्वानर का बाहर कपालों का पुरोडाश, ये पहली छः हवियाँ हुई।[1]

पिछले छः चरु होते हैं। सरस्वती का चरु, पूषा का चरु, मित्र का चरु, क्षेत्रपति का चरु, वरुण का चरु, अदिति का चरु। ये छः अन्न की हवियां हुई।[2]

अब आदित्य के लिए श्येनी विचित्रगर्भ (वह गाय जो लाल हो और जिसके गर्भ हो) को लेते हैं। इसके साथ वैसा ही कृत्य होता है, जैसा अष्ट-पदी वश्या (वांझ गौ) के साथ। यह पृथ्वी अदिति है। इस राजा को इस पृथ्वी को गर्भ बनाता है। इसलिए श्येनी विचित्र गर्भा इसकी दक्षिणा है।[3]

अब मरुतों के लिए पृषती विचित्रगर्भा को लेते हैं। इसके साथ भी वैसा ही कृत्य होता है। मरुत का अर्थ है विश या प्रजा। इस प्रकार वह इसको मरुतों (प्रजा) का गर्भ बनाता है। इसकी दक्षिणा है पृषती विचित्रगर्भा।[4]

ये दोनों पशु बन्ध एक से ही हैं परन्तु (कुछ लोग) इनके साथ भिन्न-भिन्न कृत्य करते हैं। जो अदिति के लिए है उसे आदित्य के लिए लेते हैं। आदित्य 'सब' हैं। इस प्रकार उसको सबका गर्भ बनाता है। जो मरुत के लिए हैं उसको विश्वेदेवों के लिए लेते हैं। विश्वेदेवों का अर्थ है सब। इसलिए इसको सबका गर्भ बनाता है।[5]

अभिषेचनीय इष्टि के बाद वह बाल नहीं बनवाता। क्यों बाल नहीं बनवाता? जिन बालों से उसका अभिषेक हुआ है उनका संयुक्त रस वीर्य है। जब अभिषेक होता है, तो

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 2.6

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 2.7

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 2.8

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 2.9

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 2.10

वह पहले केशों को बढ़ाता हैं। यदि केशों को मुंडवाये तो उसकी श्री झड़ जाए, इसलिए केशों को नहीं मुंडवाता।[1]

वह साल भर केश नहीं मुंडवाता। व्रतचर्या वर्ष से नापी जाती है। इसलिए साल भर नहीं मुंडवाता। व्रत विसर्जन के दिन स्तोत होता है जिसे "केशवपनीय" कहते हैं।[2]

इसका प्रातः सवन इक्कीस भागों का होता है। माध्यन्दिनसवन सत्रह का, तृतीयसवन पन्द्रह का। उक्थ, षोडशी तथा रात्रि-सवन को मिलाकर।[3]

संधि त्रिवृत् और रथान्तर के साथ होती है। यह जो तप्ता है अर्थात् सूर्य, वह २१ भागों वाला होता है। इस २१ भागों वाले से यह अलग होता है, और सत्रह वाले तक आता है। १७ वाले से १५ वाले तक और 15 वाले से वह इस त्रिवृत् में स्थापित होता है।[4]

रथन्तर इस इष्टि का पृष्ठ है। इसी रथन्तर में वह प्रतिष्ठा पाता है। अतिरात्र होता है। अतिरात्र प्रतिष्ठा है। इसलिए वह अतिरात्र है।[5]

वह केशों को कतराता है। मुंडवाता नहीं। जिन जलों से उसका अभिषेक हुआ, उसके संघात का रस वीर्य है। जब अभिषेक होता है तो जल सबसे पहले केशों को छूते हैं। यदि केशों को मुंडवा दे, तो समस्त श्री झड़ जाए। परन्तु जब वह कतरवाता है, तो श्री अपने में ही रह जाती है। इसलिए वह केवल बाल कतरवाता है। मुंडवाता नहीं। उसके लिए वह व्रत-चर्या है। जीवन भर वह इसमें नहीं ठहरता।[6]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 3.1

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 3.2

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 3.3

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 3.4

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 3.5

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 3.6

चौकी से उतरकर जूते में पैर रखता है। चाहे उसकी सवारी रथ हो या अन्य कुछ, पैर जूते में ही होता है। जो राजसूय यज्ञ करता है वह सबसे ऊपर होता है, और सब उसके नीचे होते हैं। इसलिए यह उसकी व्रत-चर्या है। जीवन भर वह जमीन पर पैर नहीं रखता।[1]

अश्विनों के लिए श्येत (बकरी) चाहिए। क्योंकि अश्विन श्येत होते हैं। सरस्वती के लिए मल्हा अवि (वह नर भेड़ा जिसक स्तन होते हैं)। सुत्राम्णी इन्द्र के लिए वह बैल। ऐसे गुणों वाले पशु कठिनाई से मिलते हैं यदि ऐसे पशु न मिलें, बकरों को ही ले लें; क्योंकि बकरे सुगम होते हैं। यदि बकरों को ही ले तो अश्विन के लिए लाल होना चाहिए। यह यज्ञ क्यों किया जाता है?[2]

त्वष्टा के एक पुत्र था, जिसके तीन सिर थे, और छः आंखें। उसके तीन मुंह थे। चूंकि वह ऐसा था, इसलिए उसका नाम था, "विश्वरूप"[3]

उसका एक मुंह सोम पीने के लिए था, एक सुरा पीने के लिए, और एक अन्य खानों के लिए। इन्द्र ने उससे द्वेष किया और तीनों सिर काट लिए।[4]

जिससे सोम पान होता था, उसके कपिंजल (मुर्गा) उत्पन्न हुआ। इसलिए मुर्गा भूरा होता है। सोम भी भूरा ही होता है।[5]

सुरापान वाले से कलविंक उत्पन्न हुआ। इसी से कलविंक मतवाला सा बोलता है। जो सुरा पीता है, वह मतवाला हो जाता है।[6]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 3.7

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.1

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.2

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.3

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.4

6 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.5

जिससे भोजन पाता था, उस मुंह के तीतर उत्पन्न हुआ। इसलिए तीतर विश्वरूप होता है। उसके परों पर कहीं-कहीं घी के दाग होते हैं और कहीं-कहीं शहद के से। वह ऐसा ही भोजन किया करता था।[1]

त्वष्टा को क्रोध आया। इसने मेरा पुत्र मार डाला। उसने इन्द्र से सोम रस हटा लिया, और जैसा सोम रस बना वह इन्द्र से अलग रहा।[2]

इन्द्र ने सोचा, "यह मुझे सोम से अलग रखते हैं।" इसलिए जैसे बलवान निर्बलों का खाना खा जाते हैं, इसी प्रकार बिना बुलाए भी इन्द्र ने द्रोणा कलश में जो शुक्र था उसे भक्षण कर लिया। परन्तु इस काम ने (शुक्र को) हानि पहुंचाई। वह प्राणों में होकर चारों ओर बहने लगा। केवल मुख के द्वारा न बहा। इसलिए प्रायश्चित किया गया यदि मुंह की ओर बहता, तो कुछ प्रायश्चित न होता।[3]

चार वर्ण होते हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। इनमें से कोई ऐसा नहीं है, जो साम का वमन करे। यदि इनमें से कोई एक हो तो प्रायश्चित किया जाए।[4]

जो नाक से बहा, उससे सिंह उत्पन्न हुआ। जो कान से बहा उससे भेड़िया। जो निचले प्राण से बहा, उसके हिंसक जीव हुए, जिनमें शर्दूल शेर सबसे बड़ा। जो ऊपर के प्राण से बहा, वह 'परिस्रुत' हुआ। उसने तीन बार थूका। उसके कुवल, कर्कन्धु और बदर (बेर) उत्पन्न हुए। अब उस इन्द्र में से सब कुछ चला गया; क्योंकि सोम ही सब कुछ है।[5]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.6

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.7

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.8

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.9

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.10

अब सोम से खाली होकर वह पंगु के समान चलने लगा। अश्विनों ने उसको चंगा किया, और "सब" से सम्पन्न किया क्योंकि सोम "सब कुछ" है। इस इष्टि से वह अच्छा हो गया।[1]

देवों ने कहा। दोनों ने इसे बचा लिया 'सुत्रातम्' भला बचाया, इसलिए इसका नाम सौत्रामणि हुआ।[2]

जो सोम से खाली हो गया हो, उसको इसी इष्टि से चंगा करे। जिसमें सोम नहीं रहता, उसमं कुछ नहीं रहता। क्योंकि सोम ही सब कुछ है। अब वह उसको सब कुछ देता है, क्योंकि सोम सब कुछ है। इस इष्टि से वह चंगा हो जाता है। इसलिए जिसमें सोम न रहे, उसको इसी से चंगा करना चाहिए।[3]

राजसूय यज्ञ वाला इस इष्टि को क्यों करे? जो राजसूय यज्ञ करता है, वह सब यज्ञ-ऋतुओं सब इष्टियों और दर्वि-होम का अधिकारी हो जाता है। यह जो सौत्रामणि इष्टि, है वह देवसृष्ट (देवों से बनाई हुई) है। अतः वहसोचता है कि "मैं यह इष्टि भी करूँ। इससे दीक्षित हो जाऊँ।" इसलिए राजसूय यज्ञवाला यह भी करता है।[4]

इसमें अश्विनों को बलि क्यों दी जाती है? अश्विनों ने ही उसको (इन्द्र को) चंगा किया था। अश्विनों द्वारा ही वह उसको (यजमान को) चंगा करता है। इसलिए अश्विनो के लिए बलि दी जाती है।[5]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.11

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.12

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.13

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.14

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.15

सरस्वती के लिए बलि क्यों दी जाती है? वाणी सरस्वती है। वाणी द्वारा ही अश्विनों ने उसको चंगा किया था। इसी प्रकार वह वाणी द्वारा ही इसको चंगा करता है। इसलिए सरस्वती के लिए बलि दी जाती है।[1]

इन्द्र के लिए बलि क्यों दी जाती है? इन्द्र यज्ञ का देवता है। इसी यज्ञ से उसको चंगा करता है। इसलिए इन्द्र के लिए बलि दी जाती है।[2]

इन पशुओं पर सिंहलोम, वृकलोम और शार्दूललोम लगा देता है। क्योंकि जब उसमें से बहा, तो यही उत्पन्न हुए थे। इन से उसको युक्त कर देता है। और उसको भर थूर कर देता है। इसलिए वह इन लोगों कोउस पर लगाता है।[3]

परन्तु ऐसा न कहना चाहिए। पशुओं पर इन लोगों को लगाने के अर्थ ये हैं कि नखवाली उल्का से पशुओं को हांका जाए! इसलिए परिस्रुत में ही उनको डाल दे। इस प्रकार वह नखवाली उल्का से उनको नहीं हांकता। इस प्रकार वह उसको युक्त कर देता है। भरपूर कर देता है। इसलिए उसको परिस्रुत में ही डालना चाहिए।[4]

पहले दिन वह परिस्रुत को बनाता है यह कहकर-

> **अश्वभ्यां पचच्यस्व सरस्तत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व।**
> "दोनों अश्विनों के लिए, सरस्वती के लिए, रक्षक इन्द्र के लिए पक"
> जब पककर षरिस्रुत तैयार हो जाता है, तो इष्टि आरम्भ होती है"[5]

दो अग्नियों को लेते हैं। उत्तराग्निप को उत्तर वेदी में और दक्षिणाग्नि को उठे हुए टीले पर। कहीं ऐसा न हो कि सोम आहुति और सुरा-आहुति साथ पड़ जाए। इसलिए दो

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.16

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.17

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.18

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.19

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.20

अग्नियों को लेते हैं। उत्तराग्नि और उठे हुए टीले पर दक्षिणाग्नि। जब वपा की आहुति होती है, तभी परिस्रुत की।[1]

दर्भों से पवित्र करता है – यह सोचकर कि पवित्र हो जाए। यह मंत्र पढ़कर–

वायुःपूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमोऽअतिस्रुतः।

इन्द्रस्य युज्यःसखा।

"पवित्रों से पवित्र किया गया, सोम पीछे बहा। यह इन्द्र का योग्य रखा है।"

अब उसमें कुवल, कर्कन्धु और बेर का सत्तू मिलाता है। क्योंकि जब इन्द्र ने तीन बार थूका, तो यही पैदा हुए थे, अब वह इनसे उसको युक्त करता है। भरपूर करता है। इसलिए वह सत्तू को मिलाता है।[2]

अब वह ग्रहों को लेता है, एक को या तीन को। एक ही लेना चाहिए। एक ही पुरोरुच होता है, एक ही आनुवाक्य और एक ही याज्या। इसलिए एक ही ग्रह लेना चाहिए।[3]

वह इस मंत्र से लेता है–

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद् यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय। इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति। उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे।[4]

"जिस प्रकार जौ के खेत वाले क्रम से रखकर फिर जौ को काटते हैं। उसी प्रकार उन लोगों के लिए यहाँ भोजन प्राप्त करा, जो बर्हियों द्वारा यज्ञ करते हैं। तेरा आश्रय लिया गया है। तुझको अश्विनों के लिए, सरस्वती के लिए और सुरक्षित इन्द्र के लिए ग्रहण करता हूँ।"

---

1 मा० शतपथब्रा० – अ० 5, ब्रा० 4.21

2 मा० शतपथब्रा० – अ० 5, ब्रा० 4.22

3 मा० शतपथब्रा० – अ० 5, ब्रा० 4.23

4 यजु०, 10.32

यदि तीन ग्रहों को लेवे, तब भी इस मंत्र से लेवे। परन्तु उपयामगृहीतो...........आदि भाग को बार बार कहे।

अब वह कहता है कि अश्विनों, सरस्वती, और सुत्रामन् इन्द्र के लिए अनुवाक् कहो।[1] अब वह यह अनुवाक पढ़ता है-

युवꣳसुरा ममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्र कर्म स्वावतम्॥[2]

"हे अच्छे पालने वाले, दोनों अश्विनों, तुम दोनों ने सुरा को नमुचि असुर के साथ पीकर इन्द्र की उसके कर्मों में रक्षा की है।"

अब श्रौषट् कहकर 'अश्विनों, सरस्वती और सुत्राम्ण इन्द्र के लिए आहुति दो' ऐसा आदेश देता है।[3]

अब आहुति देता है इस मन्त्र से-

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैदेꣳसनाभिः। यत् सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्॥[4]

"जिस प्रकार माता-पिता पुत्र को सहारा देता हैं, उसी प्रकार, हे इन्द्र, अश्विनों ने चातुर्य और श्रेष्ठ पराक्रम द्वारा तुझको सहारा दिया है। जब तूने सुरा का पान किया तो हे मघवन् सरस्वती ने अपनी सेवाओं द्वारा तुझकों चंगा किया।"

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.24

2 यजु०, 10.33, ऋ, 10.131.4

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.26

4 यजु०, 10.34, ऋ, 10.131.5

होता दो बार वषट्कार कहता है, अध्वर्यु दो बार आहुति देता है, और भक्ष्य को लाता है यदि तीन ग्रह लेवें तो एक होम के पश्चात् दो और करें अब वह घड़ें को लेता है, सौ छेद वाले को या नौ छेद वाले को। यदि सौ छेदों वाले को, तो मनुष्य सौ वर्ष जीता है, सौ तेज और वीर्य वाला होता है। इसलिए सौ छेदों वाला हो। यदि नौ छेद वाला, तो पुरुष में नौ प्राण होते हैं। इसलिए नौ छेदवाला होना चाहिए।[1]

इसको शिक्या या छींके से बांधकर आवहनीय के ऊपर-ऊपर रखते है। जो परिस्रुत बच रहा हो, उसे इसमें डालता है। जब उसमें से टपकता है, तो खड़ा-खड़ा 'सोमवान् पितरों के लिए तीन ऋचायें, "वर्हिषद् पितरों" के लिए तीन ऋचायें, "अग्निश्वात्ता पितरों" के लिए तीन ऋचायें बोलता है। खड़े होकर ऋचायें पढ़ने का प्रयोजन यह है कि जब सोम इन्द्र में होकर बहा तो वह भाग पितरों को पहुंचा। पितर तीन प्रकार के हैं। खड़े होकर ऋचायें पढ़ने से वह उसको भरपूर कर देता है।[2]

अब इन हवियों को तैयार करता है-

सविता के लिए १२ या ८ कपालों का पुरोडाश, वरुण का जौ का चरु, इन्द्र का ११ कपालों का पुरोडाश।[3]

सविता के लिए क्यों? सविता देवताओं का प्रेरक है। सविता की प्रेरणा से ही, वह उसको चंगा करता है। इसलिए सविता के लिए।[4]

वरुण के लिए क्यों? वरुण हानि पहुंचाने वाला है। जो हानि पहुंचाने वाला है उसके द्वारा भी वह उसको चंगा करता है। इसलिए वरुण के लिए।[5]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.27

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.28

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.29

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.30

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.31

इन्द्र के लिए क्यों? - इन्द्र यज्ञ का देवता है। यह यज्ञ का देवता ही है, जिससे उसको चंगा करता है। इसलिए इन्द्र के लिए (पुरोडाश)।[1]

यदि वह (सोत्रामणि यज्ञ से) सोम से रिक्त व्यक्ति को चंगा करना चाहता है तो अनुयाज होने तथा स्रुतो के अलग अलग रखने के पश्चात् इन (तीन) हवियो से कृत्य करता है। पीछे हो कर ही सोम बहा था और इस मेध के द्वारा पीछे ही वह उसको बंद करता है। अश्विनों के लिए दो कपालों का पुरोडाश बनाना चाहिए। और जब वपा से कृत्य किया जाए, इन दो कपालों के पुरोडाश से भी।[2]

परन्तु ऐसा न करे। क्योंकि जो यज्ञ के मार्ग से बहकता है, वह पतित होता है, वह जो ऐसा करता है वह अवश्य यज्ञ के मार्ग से बहकता है। इसलिए वह वपा का कृत्य हो इन तीन हवियों का भी। अश्विनों के लिए दो कपालों के पुरोडाश की जरूरत नहीं।[3]

इसकी दक्षिणा है एक नपुंसक बैल, जो नपुंसक बैल है वह न स्त्री है न पुरुष, जो पुमान है तो स्त्री नही। जो स्त्री है तो पुमान् नहीं, इसलिए इसकी दक्षिणा है नपुंसक बैल। या रथ हांकने वाली घोड़ी। वह न स्त्री है न पुमान्। रथ हांकती है इसलिए स्त्री नहीं और स्त्री है, इसलिए पुमान् नहीं। इसलिए रथ खींचने वाली घोड़ी इस की दक्षिणा है।[4]

इन्द्र और विष्णु के लिए बारह कपालों का पुरोडाश बनाता है। यह इष्टि क्यों की जाती है? पहले जो कुछ ऋक्, यजु या साम था, वह सब वृत्र में ही था। इन्द्र ने उसको वज्र मारना चाहा।[5]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.32

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.33

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.35

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 4.36

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.1

उस ने विष्णु से कहा, "मैं वृत्र के वज्र मारूंगा। मेरी मदद कर।" विष्णु ने कहा, "अच्छा मार। मैं तेरी मदद करूंगा।" इन्द्र ने वज्र उठाया। उठे वज्र से वृत्र डर गयां।[1]

उसने कहा, 'यह वीर्य है। इसे मैं तुझ को देता हूँ। मुझे मत मार।' उसने उसको यजु दे दिए। उसने दुबारा वज्र उठाया।[2]

उसने कहा, "यह वीर्य है। इसे मैं तुझ को देता हूँ। मुझे मत मार।" उसने उसको ऋक् दे दिए। उसने तीसी बार वज्र उठाया। उसने कहा, यह वीर्य है। इसे मैं तुझको देता हूँ। मुझे मत मार।" उसने उसको साम दे दिये।[3] इसलिए अब तक इन तीन वेदों से यज्ञ करते हैं। पहले यजु से, फिर ऋक् से, और फिर साम से। क्योंकि इसी क्रम से उसने इनको दिया था।

और जो उस (वृत्र) की योनि अर्थात् स्थान था, उसको चीर कर फाड़ डाला। वही यह इष्टि बन गया। चूंकि इस आशय में तीन धातु वाली विद्या थी, इसलिए इस इष्टि का नाम है "त्रैधातवी"।[4] इन्द्र-विष्णु के लिए हवि क्यों? - इसलिए कि इन्द्र ने वज्र मारा और विष्णु ने मदद की।[5]

बारह कपाल क्यों? -- इसलिए कि वर्ष के बारह मास होते हैं। यह वर्ष भर की इष्टि होती है। इसलिए बारह कपाल।[6]

यह चावल और जौ दोनों की बनाई जाती है। पहले चावल का पिण्ड पकाते है। यह यजुओं का रूप है। फिर जौ का यह ऋक् का रूप है। फिर चावल का। यह साम का रूप

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.2

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.3

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.4

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.6

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.7

[6] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.8

है। इसलिए यह त्रयी-विद्या का रूप हो जाती है। राजसूय करने वाले के लिए उदवसानीय-इष्टि हो जाती है।[1]

जो राजसूय यज्ञ करता है वह वस्तुतः सब यज्ञ क्रतुओं का, सब इष्टिओं का, सब दर्वि होमों का अधिकारी हो जाता है। उसके लिए यज्ञ समाप्त हो जाता है। वह यज्ञ से लौट सा पड़ता है। सब यज्ञ इतना ही है जितने तीन वेद। यह इसी वेद का रूप होता है, जो इसकी योनि या आशय है। इस प्रकार तीन वेदों से वह फिर यज्ञ आरंभ करता है। इस प्रकार इसका यह समाप्त नहीं होता। और वह यज्ञ से लौटता नहीं।[2]

और जो राजसूय यज्ञ करता है, वह सब यज्ञ क्रतुओं को, सब इष्टिओं और सब दर्वि-होमों को कर लेता है। यह जो त्रैधावती इष्टि है वह देवों से सजी गई है। वह सोचता है कि "मैं इस इष्टि को भी कर लूं। इससे भी दीक्षित हो जाऊँ। "इसलिए राजसूय यज्ञ करने वाले के लिए यह "उदवसानीय-इष्टि", पूर्ण कराने वाली इष्टि है।[3]

जो हज़ार गायें दे या अधिक, उसके लिए भी यह पूर्ण करने वाली इष्टि हुई। जो एक हजार या अधिक गायें देता हैं, वह खाली सा हो जाता है। ये जो तीन वेद हैं, यह वाणी की संतान है। इसलिए वह हजार या अधिक से वह फिर उसकी पूर्ति करता है। इसलिए उसके लिए भी यह पूर्ण कराने वाली इष्टि है।[4]

जो कोई बड़ा सत्र करे साल भर का या अधिक का, उनके लिए भी पूर्ण करने वाली इष्टि है। जो लम्बा साल भार या अधिक का सत्र करते हैं, उनको सब कुछ प्राप्त हो जाता है, वे सब पर विजय पा लेते हैं। इसलिए उनके लिए भी यह पूर्ण कराने वाली इष्टि है।[5]

---

1 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.9

2 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.10

3 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.11

4 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.12

5 मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.13

इसी का प्रयोग करे। आरुणि ने भद्रसेन अजात शत्रव पर इसी का प्रयोग किया था। याज्ञवल्क्य कहा करता था, "(बर्हि को) जल्दी बिछाओं।" और इसी से इन्द्र ने वृत्र के लौटने के मार्ग को रोक दिया। जो कोई इस का प्रयोग करता है वह अपने शत्रु के लौटने के मार्ग को रोक देता है। इसलिए इस का प्रयोग करे।[1]

और इसी से चंगा भी करे। क्योंकि जो कोई किसी को एक ऋक्, एक यजु या एक साम से चंगा करे, वह उसको अवश्य ही रोग-शून्य कर दे। जो तीनों वेदों से चंगा करे, उसका कहना ही क्या इसलिए इस इष्टि से चंगा करे।[2]

इसकी दक्षिणा है सोने के तीन शतमान। उसको ब्रह्मा को देता है। क्योंकि ब्रह्मा न तो अध्वर्यु का काम करता है न (होता के समान) स्तुति करता है, फिर भी उसका यश होता है। सोने से भी वे कुछ नहीं करते, परन्तु उसका भी यश होता है। इसलिए तीन शतमान सोना वह ब्रह्मा को देता है।[3]

होता को तीन दूध की गायें (धेनु) देता है। तीन धेनुओं का अर्थ है बाहुल्य, होता का अर्थ है बाहुल्य। इसलिए होता को तीन गायें देता है।[4]

अध्वर्यु को तीन कपड़े देता है। अध्वर्यु यज्ञ को तानता है। वस्त्र भी ताने जाते हैं। इसलिए अध्वर्यु को तीन वस्त्र देता है। अग्नीध्र को एक बैल।[5]

ये बारह या तेरह दक्षिणायें हुई। वर्ष के महिने भी बारह या तेरह होते हैं। यह इष्टि वर्ष से ही मापी जाती है। इसलिए बारह या तेरह दक्षिणाएं होती हैं।[6]

---

[1] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.14

[2] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.15

[3] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.16

[4] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.17

[5] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.18

[6] मा० शतपथब्रा० - अ० 5, ब्रा० 5.19

माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह राजसूय महायज्ञ का पूर्ण वर्णन है। अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इसका वर्णन उपलब्ध होता है। जिनमें से प्रमुखों का संक्षिप्त वर्णन पूर्ण में कर दिया गया है।

(ख) तैतिरीय ब्राह्मण में राजसूय

1. स्वाहा राजसूयायेत्याह। राजसूयाय ह्येना उत्पुनाति। सधमादो द्युम्नि नीरुज एता इति वारुण्यर्चा गृह्णाति वरुणसवमेवावरुन्धे। एकया गृह्णाति। एकधैव यजमाने वीर्यम् दधाति। क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य योनिरसीति तार्प्यं चोष्णीषं च प्रयच्छति सयोनित्वायो एकशतेन दर्भपुञ्जीलैः पवयति। शतायुर्वैपुरुषः शतवीर्यः। आत्मैकशतः।[1]
2. अप्रतिष्ठितो वा एष इत्याहुः। यो राजयूयेन यजत इति। यदा वा एष एतेन द्विरात्रेण यजते। अथ प्रतिष्ठा। अथ संवत्सरमाप्नोति। यावन्ति संवत्सरस्याहोत्राणि। तावतीरेतस्य स्त्रोत्रीयाः। अहोरात्रेष्वेव प्रतितिष्ठति। अग्निष्टोमः पूर्वमहर्भवति। अतिरात्र उत्तरम्।[2]
3. न वै सोमेन सोम्य सवोऽस्ति...यत्किञ्च राजसूयमृते सोमम्। तत्सर्वं भवति। अषाढं युत्सु पृतनासु प्रद्रिम्। सुवर्षामप्स्वां वृजनस्य गोपाम्। भरेपुजां सुक्षितिं सुश्रवसम्। जयन्त त्वामनु मदेम सोम।।[3]
4. य एतेन यजते। च उ चैनमेव वेद। नाराशंस्यर्चाभिषिञ्चति। मनुष्या वै नराशंसः। निह्नुत्य वावैतत्। अथाभिषिञ्चति। यत्किं च राजसूयमनुत्तरवेदीकम्। तत्सर्वं भवति। ये मे पाञ्चाशत ददुः। अश्वानां सधस्तुतिः। द्युमदग्ने महि श्रवः। बृहत्कृधि मघोनाम्। नृवदमृत नृणाम्।[4]

---

1 तैतिरीय ब्रा० 36

2 तैतिरीय ब्रा० 35

3 तैतिरीय ब्रा० 10

4 तैतिरीय ब्रा० 12

5. एष गोसवः। षदत्रिंश उक्थ्यो बृहत्सामा। पवमाने कण्वरथंरम् भवति। यो वै वाजपेयः। स सम्राट्त्सवः। यो राजसूयः। स वरुणसवः। प्रजापतिः स्वराज्यं परमेष्ठी। स्वाराज्यं गौरेव। गौरिव भवति।[1]

6. तस्य मृत्यौ चरति राजसूयम्। स राजा राज्यम् अनुमन्यतामिदम्। ये भिश्शिपैः पप्रथानामदृंहत्। ...वर्चसा समङ्ग्धि।।[2]

(ग) ऐतरेय ब्राह्मण में राजसूय

1. वरुण उवाच तस्मा एतं राजसूयं
   यज्ञ क्रतुम्प्रोवाच तमेतमभिषेचनीये
   पुरुषम्पशुमालेभे।।[3]

* * *

---

[1] तैतिरीय ब्रा० 13

[2] तैतिरीय ब्रा० 50

[3] ऐ०ब्रा० अध्याय-33, खण्ड, 1-6

चतुर्थ अध्याय
श्रौत सूत्रों में राजसूय यज्ञ

प्राचीन यज्ञ प्रधान भारतीय समाज में प्राय: दो प्रकार के यज्ञ प्रचलित थे प्रथम श्रौत यज्ञ जिनका विधान ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया था, द्वितीय - स्मार्त (पाक यज्ञ) जिनका विधान स्मृतियों - गृह्य-धर्म सूत्रों में किया गया था। इनमें से श्रौतयागों का विवरण ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत-सूत्रों में प्रमुख रूप से मिलता है कालान्तर में इन ग्रन्थों पर लिखी गई व्याख्याओं और पद्धतियों में श्रौतयागों का अधिक विस्तार से विवेचन किया गया। समय के प्रवाह में अपनी जटील अनुष्ठेयता और व्ययशीलता के कारण समाज में उनका अनुष्ठान कम होता चला गया। भक्ति योग के समाज में बढ़ते अंगीकार के कारण भी इन यज्ञों में जन-सामान्य की रुचि निरन्तर घटती चली गई और श्रौत यज्ञों में निहित भावों का स्थान स्थूल रूढ़ियों ने लिया। वस्तुत: इन यज्ञों की योजना प्रकृति के साथ मानव जीवन के सामञ्जस्य को बनाये रखना भी इनके उद्देश्यों में से एक था। किन्तु जटिलता ने यज्ञों को जनसामान्य के जीवन से बाहर कर दिया। इसी जटिलता का दर्शन आप इसी अध्याय में आगे करेंगे जहाँ श्रौत सूत्रों के अनुसार राजसूय महायज्ञ का वर्णन होगा।

1. श्रौतसूत्र परिचय

वेद के छ: अंगों के अन्तर्गत कल्पसूत्र का ग्रहण होता है। कल्प सूत्र के तीन अवयव हैं - श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। प्राचीन आचार्यों ने कल्पसूत्रों का इसी क्रम से प्रवचन किया था। ऋषि दयानन्द ने इन का प्रवचन अन्य प्रकार से किया है। धर्मसूत्र का प्रवचन सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ और दशम समुल्लास में किया है। गृह्यसूत्रोक्त गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त संस्कारों का तथा शालाकर्म, नवसस्येष्टि तथा पञ्च महायज्ञों का विधान संस्कार विधि में किया है। परन्तु जहां श्रौत सूत्रोक्त परिभाषा प्रकरण श्रौत और गृह्य कर्मों के लिए सामान्य है, वहां संस्कार विधिस्थ सामान्यप्रकरण गृह्य और श्रौतकर्म का सामान्य प्रकरण है इसका प्रमुख ज्ञापक है सामान्य प्रकरण में उल्लिखित यज्ञपात्रों के लक्षण का प्रकरण, तथा अग्न्याधान से लेकर पूर्णाहुति

पर्यन्त का प्रकरण। संस्कार विधि में उल्लिखित पात्र श्रौत दर्शपूर्णमास के पात्र है। इनमें से दो चार को छोड़कर अन्यों का गर्भाधानादि संस्कारों में कहीं उपयोग नहीं होता है इसी प्रकार पात्र लक्षण के अन्त में अग्न्याधान की जो दक्षिणा लिखी है, वह भी श्रौत-अग्न्याधान की है। इस प्रकार महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने यह लिखा है कि 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञ वे श्रौत यज्ञ हैं।[1]

श्रौत यज्ञ द्रव्य यज्ञों अन्तर्गत आते हैं क्योंकि इन यज्ञों में देवता को उद्देश्य करके घृतादि पदार्थों का अग्नि आदि में त्याग किया जाता है।[2] द्रव्य श्रौत और स्मार्त भेद से अनेक प्रकार के हैं जिन यज्ञों का श्रुति अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों में साक्षात् उल्लेख मिलता है, वे श्रौत यज्ञ कहलाते हैं।

श्रौत कर्म अग्निहोत्र जैसे स्वल्पकाल-साध्य कर्म से लेकर सहस्रसंवत्सर साध्य राजसूयादि बहुविध कर्मों का शाखाओं ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में उल्लेख मिलता है। गोपथ ब्राह्मण में अग्निर्यज्ञ त्रिवृतं सप्ततन्तुम्।[3] मन्त्र के निर्देशपूर्वक 21 प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है वे 21 प्रकार के यज्ञ है। 7 पाक यज्ञ, 7 हविर्यज्ञ और 7 सोमयज्ञ। गोपथ ब्राह्मण[4] में इनके नामों का भी उल्लेख है इनमें 7 पाकयज्ञ स्मार्त है, शेष 7 हर्वियज्ञ तथा 7 सोमयाग श्रौत है।[5]

श्रौतसूत्रों में किन यज्ञों का प्राय: वर्णन मिलता है, इसके परिज्ञानार्थ कात्यायन श्रौतसूत्र में उल्लिखित यज्ञों वा कर्मों पर दृष्टिपात करना उचित रहेगा। कात्यायन श्रौतसूत्र में

---

1 महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने आर्य्योश्यरत्नमाला, सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि तथा वेदभाष्यों में जहां-कहीं यज्ञ का प्रसंग आया है, वहां प्राय: सर्वत्र उन्होंने 'अग्निहोत्र से लेकर अवश्मेध-पर्यन्त' शब्दावली का प्रयोग किया है।

2 द्रव्यं देवता त्यागश्च।। कात्यायन श्रौ०सू० 1.2.2.

3 गो०ब्रा० 1.1.12

4 पैप्पलाद शाखा 5.28.1

5 गो०ब्रा० 1.5.25

राजसूय महायज्ञ का क्रम पन्द्रहवें स्थान पर हैं। यथा - (1) अग्न्याधान[1], (2) अग्निहोत्र[2], (3) दर्शपौर्णमास (अध्याय-2-3-4), (4) दाक्षायण यज्ञ (अध्याय-4), (5) आग्रयणेष्टि (अध्याय-4), (6) दर्विहोम, क्रेडिनीयेष्टि, आदित्येष्टि, मित्रविन्देष्टि (अध्याय-5), (7) चातुर्मास्य (अध्याय-5), (8) निरुढ़पशुबन्ध (अध्याय-6), (9) सोमयाग (अध्याय-7-11), (10) एकाह (अध्याय-12, 22), (11) द्वादशाह (अध्याय-12), (12) द्वादशाह सत्ररूप (अध्याय-12), (13) गवामयन (अध्याय-13), (14) वाजपेय (अध्याय-14), (15) राजसूय (अध्याय-15) इसके आगे इस श्रौत्रसूत्र में अग्निचयन, सौत्रामणि, अश्वमेघ, पुरुषमेघ आदि यज्ञों का वर्णन है।

हम आगे मुख्यत: कात्यायन श्रौत सूत्र[3] के आधार पर राजसूय का वर्णन कर रहे हैं। राजसूय में अनुमति आदि सैकड़ों इष्टियों तथा दर्विहोमों, मल्ह आदि पशुबन्धों और पवित्र आदि सोमयागों का अनुष्ठान किया जाता है। इन इष्टियों, पशु एवं सोम यागों के समुदाय का नाम राजसूय है, अत: इन पर परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं है - सब का समप्रधान भाव है लगभव ढाई वर्ष के सुदीर्घकाल में यह क्रतु सम्पन्न होता है।

II. पवित्र सोमयाग

राजसूय का आरम्भ (प्रायणीय) पवित्र नामक सोमयाग से होता है, जो अग्निषेटमसंस्थाक होता है। इसमें चार दीक्षा, तीन उपसद् तथा एक सुत्या दिवस होता है (आपस्तम्ब आदि में तीन दीक्षा दिवस कहे गये हैं)। फाल्गुन शुक्ल प्रतिपद् को प्रथम दीक्षा आरम्भ करके फाल्गुन शुक्ल अष्टमी को पवित्र (अग्निष्टोम) की समाप्ति होती है। इसकी दक्षिणा एक हजार गायें हैं। राजसूय में यजमान क्षत्रिय होता है, किन्तु सोमपान का अधिकारी केवल ब्राह्मण है, अत: सोमक्रय के समय न्यग्रोधस्तिभि (वट वृक्ष के फलसहित अङ्कुर अथवा जटाओं के अग्र भाग) का क्रय करके तथा उनका रस निकाल कर, उसमें

---

[1] का०श्रौ० - अ० 4

[2] का०श्रौ० - अ० 5

[3] अ० 15, कात्यायन श्रौ०सू०

दही मिलाकर चमसोन्नयन के समय रस को चम्मच में भर कर चमसाध्वर्यु इसी फलचमस का होम करता है और यजमान शेष भक्षण करता है। फलचमस भक्षण केवल यजमान ही करता है, अन्य ऋत्विज् सोमपान करते हैं। अवभृथ के पश्चात् तीन अनूबन्ध्याओं का अनुष्ठान किया जाता है। पवित्र के अन्त में पूर्णहूति यजमान के घर में फाल्गुनशुक्ल नवमी को होती है।

III. पांच इष्टियां

फाल्गुन शुक्ल दशमी को अनुमति-इष्टि का अनुष्ठान होता है। इसकी देवता अनुमति तथा द्रव्य अष्टाकपाल पुरोडाश है। इस इष्टि में विशेष कर्त्तव्य यह है - तण्डुलपेषण के समय हवि का जो भाग शम्या के पश्चिम में कृष्णाजिन पर गिरता है, उसे खैर के स्रुवे में रखते हैं। ब्रह्मा-यजमान-अध्वर्यु उस हवियुक्त स्रुवे और दक्षिणाग्नि से अङ्गार को लेकर दक्षिण की ओर स्वयं फटी हुई अथवा ऊसर भूमि के अङ्गार रखकर उस पर निर्ऋति देवता के लिए स्रुवे की हवि का होम किया जाता है। बिना पीछे देखे तीनों व्यक्ति लौट आते हैं और इष्टि के अगले कर्म सम्पन्न करते हैं। इस इष्टि की दक्षिणा वस्त्र है। एकादशी को अग्नि-विष्णु देवताओं के लिए एकादशकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है; इस इष्टि की दक्षिणा सोना है। द्वादशी को अग्नि-सोम के लिए एकादश कपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है; इस इष्टि की दक्षिणा पुनरुत्सृष्ट (भारवहन में असमर्थ होने के कारण परित्यक्त) बैल है। त्रयोदशी को इन्द्राग्नि देवताओं में लिए द्वादशकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है, इसकी दक्षिणा सांड है। चतुर्दशी को आग्रयणेष्टि की जाती है। इसकी विधि नित्य आग्रयण (नवसस्येष्टि) के समान है। इस इष्टि के ऐन्द्राग्न पुरोडाश, दूध में पका हुआ वैश्ववेद चरु तथा द्यावापृथिवीय एककपाल पुरोडाश होते हैं और बछड़ा दक्षिणा होती है। बौधायन आदि ने आठ इष्टियां बताई हैं।

IV. चातुर्मास्य पर्व

फाल्गुन पूर्णमासी को वैश्वदेव चातुर्मास्य पर्व का अनुष्ठान किया जाता है। राजसूयिक चातुर्मास्य नित्यचातुर्मास्य से भिन्न है, यद्यपि अनुष्ठान विधि समान ही है। अत:

नित्य चातुर्मास्य करने वाला यजमान पहले राजसूयिक चातुर्मास्य करता है, उसके पश्चात् नित्य चातुर्मास्य भी करता है। एक वर्ष तक चातुर्मास्य का अनुष्ठान किया जाता है, अर्थात् फाल्गुन पूर्णिमा को वैश्वदेव, अषाढ़ पूर्णिमा को वरुणप्रघास और कार्त्तिक पूर्णिमा को साकमेध, उसके पश्चात् फाल्गुन शुक्ल प्रतिपद् को शुनासीरीय।

V. दर्शपूर्णमास इष्टियां

ऊपर कहे गये वर्ष भर चलने वाले चातुर्मास्यों के शेष दिनों मे पूर्णमास-दर्श इष्टियां चलती रहती हैं, जिनका स्वरूप नित्य दर्शपूर्णमास के समान ही है। इनका क्रम इस प्रकार है - फाल्गुन पूर्णमासी को वैश्वदेव पर्व का अनुष्ठान कर के अगले दिन प्रतिपद् से अमा तक कृष्ण पक्ष में प्रतिदिन पूर्णमास इष्टि की जाती है और शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन दर्श इष्टि की जाती है। इन में पिण्डपितृ यज्ञ को छोड़ दिया जाता है। प्रतिपद् को पहले राजसूयिक, पश्चात् नित्य दर्शपूर्णमास इष्टि की जाती है। अगले वर्ष में फाल्गुन शुल्क प्रतिपद् को पवित्र दीक्षा के स्थान में राजसूयिक शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान होता है।

VI. पञ्चवातीय होम

आहवनीय अग्नि को खर में ही पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तरमध्य भागों में विभक्त करके स्रुव से 'अग्निनेत्रेभ्य:'[1] मन्त्रों से पृथक्-पृथक् पांच घृत आहुति दी जाती है। फिर पांचों भागों में एकत्र करके 'ये देवा'[2] मन्त्रों से पांच आहुति दी जाती हैं। यह पञ्चवातीय होम हैं, इस की दक्षिणा तीन घोड़ों से युक्त रथ है।

VII. इन्द्रतुरीय कर्म

पञ्चवातीय के पश्चात् इन्द्रतुरीय (इसमें इन्द्र सम्बन्धी कर्म चौथा है) कर्म किया जाता है। इस कर्म में इन्द्र को अष्टकपाल पुरोडाश, वरुण को जौ का चरु, रुद्र को

---

[1] मा०स०, 9.35

[2] मा०स०, 9.36

गवेधुक-चरु और इन्द्र को वहिनी (गाड़ी में जुड़ने वाली गौ) के दही की आहुति दी जाती है। और इस कर्म की दक्षिणा वहिनी है।

VIII. अपामार्ग होम

तदनन्तर अपामार्ग होम किया जाता है। अध्वर्यु-यजमान-ब्रह्मा ढाक की लकड़ी के स्रुवे में अपामार्ग के दानों को लेकर, दक्षिणाग्नि से अङ्गार लेकर, त्र्यम्बक (साममेध के अन्तर्गत) इष्टि के समान दक्षिण या पूर्व दिशा की ओर जाकर, अङ्गार पर अपामार्ग के दानों की आहुति देकर, स्रुवे को आहुति की दिशा (दक्षिण या पूर्व) में फेंक कर लौट आते हैं।

IX. त्रिषंयुक्त-द्विहविष्क इष्टियां

इसके पश्चात् त्रिषंयुक्त (तीन-तीन हवियों से युक्त) कर्म होता है। पहले दिन आग्नावैष्णव-इन्द्रवैष्णव हवि तथा वामन गौ दक्षिणा होती है, दूसरे दिन आग्नापौष्ण-इन्द्रपौष्ण-पौष्ण हवि तथा श्यामा गौ दक्षिणा होती है और तीसरे दिन अग्निषोमीय-ऐन्द्रसोम-सौम्य हवि तथा धूसर गौ दक्षिणा होती है। इनमें प्रथम एकादशकपाल पुरोडाश और अन्य चरु होते हैं। उसके पश्चात् वैश्वानर द्वादशकपाल तथा वारुण चरु, एक साथ या पृथक्-पृथक् अनुष्ठान किये जाते हैं। इसे द्विहविष्क इष्टि कहते हैं।

X. रत्न हवियां

फाल्गुन शुक्ल तृतीया अथवा चतुर्थी से प्रतिदिन एक गृह में एक रत्नहवि नामक बारह इष्टियां आरम्भ होती हैं। सेनानी, पुरोहित, यजमान, महारानी, अश्वसारथि, ग्रामनायक, मन्त्री या दूत, रथ जोतने वाले, भागदोग्धा, यजमान, दूतपति, पुत्ररहित स्त्री के घर में क्रमशः अनीकवान् अग्नि को द्वादशकपाल पुरोडाश, बृहस्पति को चरु, इन्द्र को एकादशकपाल पुरोडाश, अदिति को चरु, वरुण को जौ का चरु, मरुतों को सप्त अश्वियों को द्विकपाल पुरोडाश, पुषा को चरु, रुद्र को गवेधुक चरु, आज्य निर्ऋति को चरु की आहुति स्वाहा या वषट् कर के दी जाती है। इन इष्टियों की दक्षिणा भी पृथक्-पृथक् बताई गई हैं।

XI. मैत्राबार्हस्पत्य इष्टियां

बारह रत्नहवियों के पश्चात् सोम-रुद्र के लिए सफेद बछड़े वाली गौ के दूध में चरु पकाकर आहुति दी जाती है और इस इष्टि की दक्षिणा वही गौ होती है। इस के पश्चात् मित्र-बृहस्पति देवताओं को चरु की आहुति दी जाती है। चरु निर्माण की विधि यह है - बार्हस्पत्य चरु को पकाने के लिए जल अग्नि पर रख कर स्वयं टूटी हुई वट की शाखा से निर्मित पात्र से ढक दिया जाता है। चमड़े की मशक में दही भर कर, उसे रख कर रथ को वेग में दौड़ाने पर दही से मक्खन पृथक् होने पर मक्खन को ऊपर कहे वट के पात्र में निकाल कर, उसमें मित्र के लिए बड़े-बड़े तण्डुल डाल कर ऊष्मा में मैत्र-चरु पकाया जाता है। छोटे-छोटे तण्डुलों को बृहस्पति के लिए पूर्वोक्त पात्र में पकाया जाता है। परन्तु दोनों को मिला एक साथ आहुति दी जाती है। इस इष्टि की दक्षिणा गौ है।

XII. अभिषेचनीय सोम याग

फाल्गुन कृष्ण पक्ष में कोई अनुष्ठान नहीं होता। चैत्र शुक्ल प्रतिपद् को अभिषेचनीय तथा दशपेय नामक सोमयागों का आरम्भ होता है। इन के लिए दो देवायतनों का निर्माण किया जाता है, उत्तरी देवयजन में दशपेय और दक्षिणी देवयजन में अभिषेचनीय का अनुष्ठान होता है। ये दोनों सोम याग पांच दिन में सम्पन्न होते हैं - यह दीक्षा, तीन उपसद् तथा एक सुत्या होती है। दोनों के लिए (तथा न्यग्रोधस्तिभि) का क्रय एक साथ किया जाता है, उसमें से आधा भाग दशपेय के लिए ब्रह्मा के घर में रखा जाता है। अभिषेचनीय याग उक्थ्य-संस्थाक है और इसकी दक्षिणा एक लाख गौएं है। इसकी विशेष विधियां आगे लिखी जाती हैं -

(क) देवसू हवियां

अग्निषोमीय पशु पुरोडाश के पश्चात् आठ देवसू हवियों का अनुष्ठान किया जाता है। वे हवियां हैं - सत्यप्रसव सविता के लिए काटने पर पुनः प्ररूढ़ व्रीहि का अष्टाकपाल पुरोडाश, गृहपति अग्नि के लिए आशु (तीन सप्ताह में पकने वाले) व्रीहि का अष्टाकपाल पुरोडाश, सोम

वनस्पति के लिए श्यामाक का चरु, ज्येष्ठ इन्द्र के लिए लाल शालि का चरु, पशुपति रुद्र के लिए गवेधुक-चरु, सत्य मित्र के लिए बिना जुती भूमि में उत्पन्न व्रीहि का चरु, धर्मपति वरुण के लिए जौ का चरु। देवसू हवियों का अनुष्ठान भागपरिहरण तक किया जाता है।

(ख) अभिषेक

देवसूहवियों के पश्चात् सत्रह प्रकार के जलों को पृथक्-पृथक् उदुम्बर के पात्रों में लाया जाता है। सत्रह प्रकार के जल हैं - सरस्वती नदी का जल, अनुलोम बहता हुआ जल, प्रतिलोम बहता हुआ जल, मार्ग बदल कर पुनः उसी नदी में मिलने वाली धारा का जल, समुद्र की लहरों का जल, लकड़ी के आघात से ऊपर उठा समुद्र-जल, नदी के भंवर का जल, स्थावर जल, वर्षा जल, तालाब, कुएं, ओस का जल, मधु, गौ के उल्ब का जल, दूध, घी, दही। इन सब जलों को मिला कर एक पात्र में मैत्रावरुणधिष्ण्य के पूर्व में रखा जाता है। सुत्यादिवस को मरुत्वतीयग्रह ग्रहण के बाद अभिषेक-जल से पूर्व की ओर व्याघ्रचर्म बिछा कर, उस पर पश्चिम भाग में सीसा रख कर, पार्थहोम[1] की छह आहुति देकर, यजमान को तार्प्य (रेशमी वस्त्र) पहिना कर, धनुष-बाण देकर अध्वर्यु यजमान का हाथ पकड़ कर, सीसे पर पैर रखवा कर तथा सीसे को पैर से पीछे फिंकवा कर व्याघ्रचर्म पर चढ़ाता है और उसके पैरों के नीचे तथा सिर पर सोना रखता है। इस के पश्चात् पुरोहित या अध्वर्यु उक्त जल से यजमान का अभिषेक चारों दिशाओं से करता है और पार्थहोम[2] की शेष छह आहुति देता है।

(ग) शुनःशेप कथा

अभिषेक के पश्चात् होता तथा अध्वर्यु सुवर्ण-आसन पर बैठते हैं। होता शुनःशेप की कथा[3] का शंसन करता है और अध्वर्यु ऋचा का 'ओ३म्' से तथा गाथा का 'तथा' के

---

[1] मा०सं० 10.5

[2] मा०सं० 10.5

[3] ऐ०ब्रा० 7.23

प्रतिगर करता है। इस की दक्षिणा दोनों को सौ-सौ गौएं तथा सुवर्णमय आसन हैं। शुनःशेप कथा द्यूत-क्रीड़ा के पश्चात् भी हो सकती हैं।

(घ) रथा रोहण

इस के पश्चात् यजमान वाजपेय के समान रथ में बैठ कर, आहवनीय के उत्तर में स्थित गौओं के बीच रथ खड़ा करके, गो-जय का नाटक कर के रथ विमोचनीय होम के पश्चात् रथ से उत्तर जाता है।

(ङ) द्यूत क्रीड़ा

मित्रावरुण-धिष्ण्य से पूर्व में वस्त्राच्छादित आसन्दी रखी जाती है, उस पर यजमान को बैठाया जाता है। यजमान के हाथ में अक्ष रख कर अध्वर्यु आदि उसे डण्डों से धीरे-धीरे पीटते हैं। द्यूत-मण्डप का निर्माण किया जाता है। राजा (यजमान), राजा का भाई, सूत, ग्रामणी तथा ग्रामणी का भाई द्यूत-क्रीड़ा में भाग लेते हैं। द्यूत-क्रीडा के पश्चात् प्रकृत कर्म चल पड़ता है। पयस्या से स्विष्टकृत् याग इडा तक किया जाता है। उस के पश्चात् महेन्द्रग्रहग्रहणादि कर्म होते हैं।

(च) अनुबन्ध्या-त्रैधातवी इष्टि

अन्य क्रम प्रकृतिवत् ही होते हैं। तीन अनुबन्ध्या इष्टि के पश्चात् उदवसानीय के स्थान में त्रैधातवी इष्टि की जाती है। इस इष्टि के देवता इन्द्र-विष्णु और द्रव्य द्वादशकपाल पुरोडाश है। पुरोडाश व्रीहि-यव से तैयार किया जाता है, जिस में जौ तृतीय भाग होता है और उसे मध्य में रखा जाता है। उस का प्रकार यह है - निर्वाप के समय पहली मुट्ठी में व्रीहि दूसरी मुट्ठी में एक भाग व्रीहि तथा दो भाग यव, तृतीय मुट्ठी में दो भाग यव तथा एक भाग व्रीहि चतुर्थ मुट्ठी में व्रीहि लिए जाते हैं। अधिश्रयण में भी यव मध्य में होते हैं - व्रीहिपिष्ट के दो पिण्ड बना कर, एक को पृथु करके, यवमय पिण्ड को मध्य में रख कर, पिण्ड बना कर, फिर व्रीहिपिष्ट के दूसरे पिण्ड को उस के ऊपर रखकर पृथु किया जाता है। अवदान तीनों धातुओं (प्रक्षेपों) से किया जाता है। ब्रह्मा को तीन शतमान (1 शतमान =

100 रत्ती) सोना, होता को तीन दूध देने वाली गोएं, अध्वर्यु को तीन वस्त्र और अग्नीत् को तीन गायें दक्षिणा दी जाती हैं।

XIII. संसृपा हवियां

अभिषेचनीय के पश्चात् दस संसृपा हवियों का अनुष्ठान होता है। किन्ही के मत से इन हवियों का अनुष्ठान एक दिन (चैत्र शुक्ल षष्ठी को) में ही होता है, किन्तु अन्यों के अनुसार सात दिन (चैत्र शुक्ल षष्ठी से प्रतिदिन एक एक, द्वादशी को चार) में यह विधि सम्पन्न होती है। इन के देवता तथा द्रव्य हैं - सविता द्वादशकपाल पुरोडाश, सरस्वती चरु, त्वष्टा दशकपाल पुरोडाश, पूषा चरु, इन्द्र एकादश कपाल पुरोडाश, बृहस्पति चरु, वरुण यवमय चरु, अग्नि अष्टाकपाल पुरोडाश, सोम चरु, विष्णु त्रिकपाल पुरोडाश या चरु। इन हवियों के अनुष्ठान का प्रकार यह है - अभिषेचनीयशाला के उत्तर में समीप ही अग्नि स्थापित कर के प्रथम हवि की आहुति दी जाती है। पुनः उस स्थान से थोड़ा उत्तर की ओर अग्नि स्थापित कर के दूसरी हवि की आहुति दी जाती है। इसी प्रकार उत्तर की ओर सरकते हुए दसवीं हवि दशपेयशाला के अन्दर दी जाती है। संसृपा हवियों की दक्षिणा कमल-पुष्प (जल में उत्पन्न अथवा स्वर्णमय) हैं।

XIV. दशपेय सोमयाग

कमलपुष्पों की माला यजमान के गले में पहनाई जाती है, यही दीक्षा समझी जाती है। सप्तमी (दूसरे मत से द्वादशी) को ब्रह्मा के घर से सोम को लाकर सोमासन्दी का स्थापन आदि प्रकृत कार्य किये जाते हैं। सुत्या में विशेषता यह है कि प्राकृत दस चमसों के अतिरिक्त दस चमसों का सादन-पूरण किया जाता है और होम के बाद एक एक चमस का पान दस दस ब्राह्मण करते हैं। इसलिए दस पीढ़ियों तक अविच्छिसोमपा कुलों के सौ ब्राह्मण भी सदोमण्डप में उपस्थित रहते हैं। दस-दस ब्राह्मणों द्वारा प्रत्येक चमस का पान किय जाने के कारण इस क्रतु का नाम दशपेय है। दशपेय याग के ऋत्विजों की दक्षिणाएं पृथक्-पृथक् बताई गई हैं। इस याग के पश्चात् एक वर्ष तक यजमान केशवपन नहीं कराता और भूमि पर नंगे पैर नहीं बैठता।

XV. पञ्चविल इष्टि

चैत्र शुक्ल एकादशी या पूर्णमासी के पश्चात् चैत्र की अमावस्या तक कोई कर्म नहीं है। वैशाख के शुक्ल पक्ष या पूर्णमासी को पञ्चविल या अवेष्टि नामक इष्टि की जाती है। इस में पांच देवताओं को हवियां दी जाती है - अग्नि को अष्टाकपाल पुरोडाश, इन्द्र को एकादशपाल पुरोडाश (या सोम को चरु), विश्वेदेवाः को चरु, मित्रावरुण को पयस्या और बृहस्पति को चरु। इन हवियों को पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर-मध्य क्रम से रखा जाता है और क्रम से प्रत्येक की आहुति दे कर संस्राव का आसेचन मध्य में रखे बार्हस्पत्य चरु में किया जाता है। दक्षिणा में अग्नीत् को सोना, ब्रह्मा को ऋषभ, होता को चितकोबरा बैल तथा अध्वर्यु को बन्ध्या या अप्रसुता गौ दी जाती है।

XVI. प्रयुग् हवियां

पञ्चविल के समाप्त होने पर प्रयुग् नामक बारह हवियों का अनुष्ठान किया जाता है। इस के तीन प्रकार है - (1) पूर्णमासी को पञ्चविल के पश्चात् प्रथम प्रयुग् हवि, ज्येष्ठ की पूर्णमासी को, दूसरी अषाढ़ को पूर्णमासी की तीसरी - इसी प्रकार मासान्तर पर बारह हवियों की आहुति दी जाती हैं। (2) आहवनीय के समीप खड़ा हो कर अध्वर्यु पूर्व की ओर शम्या फैंकता है। शम्या जिस स्थान पर गिरती है, वहां गार्हपत्य और उससे पूर्व आहवनीय की अग्निस्थानों का निर्माण कर के पहली प्रयुग् हवि की आहुति दी जाती है। पुनः इस आहवनीय के समीप से अध्वर्यु शम्या फैंकता है, शम्या जहां गिरती है, उस स्थान पर गार्हपत्य तथा उस से पूर्व आहवनीय स्थापित कर के दूसरी प्रयुग् हवि की आहुति देता है। इस प्रकार छह-आग्नेय-सौम्य-सावित्र-बार्हपत्य-त्वाष्ट्र-वैश्वानर पुरोडाश की आहुति दी जाती है। शम्याप्रास के अनुसार छह आहुति के सम्पन्न होने के पश्चात् पुनः प्रत्यावृत्ति की जाती है। गार्हपत्य के समीप खड़ा हो कर अध्वर्यु शम्या को पश्चिम की ओर फैंकता है। वह जहां गिरती है, वहीं आहवनीय स्थान है और यथोक्त गार्हपत्य बनाया जाता है। इस आहवनीय में सातवी प्रयुग की आहुति दी जाती है। इसी प्रकार शेष पांच हवियों की आहुति देते हुए पुनः शाला में आ जाते हैं। प्रत्यावृत की छह प्रयुग हवियां - सारस्वत-पोष्ण-

मैत्र-क्षेत्रपत्य-वारुण-आदित्य चरु होते हैं। (3) उपर्युक्त छह छह के दो वर्ग बना कर प्रातः सायं आहुतियां दी जाती हैं (मासान्तर या शम्या प्रास के अनुसार नहीं)। छह-छह प्रयुग् हवियों की दक्षिणा पृथक्-पृथक् दो दो बैल या अन्वहार्य होती हैं।

XVII. पशुबन्ध

वैशाखी अमास्या को पृथक्-पृथक् दो पशुयाग किये जाते हैं जिन की दक्षिणा भी वैसे ही पशु होते हैं। प्रथम पशुबन्ध में अदिति या आदित्य देवता के लिये लाल गार्भिणी गौ का और दूसरे में विश्वदेव या मरुतों के लिये चितकबरी गर्भिणी गौ का आलम्भन किया जाता है।

XVIII. केशवपनीय सोमयाग

वैशाखी अमावस्या को आरम्भ कर के बारह दीक्षा तथा तीन उपसदों के पश्चात् ज्येष्ठ की पूर्णमासी को केशवपनीय याग की सुत्या का अनुष्ठान किया जाता है, यह अतिरात्रसंस्थाक याग है। वर्ष भर रखे हुए केशों का वपन (मुण्डन) हो जाता है। इन याग में स्तोम अवरोहण क्रम (एकविंश से त्रिवृत् तक) गाये जाते हैं। अगले चार सोम याग मास-मास के अन्तर पर होते हैं।

XIX. व्युष्टि द्विरात्र

यह अहीन है, अतः द्वादशाह के समान विधियां होती हैं। इस का आरम्भ ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया को होता हैं। सोलह दीक्षा और बारह उपसदों के बाद आषाढ़ पूर्णिमा को पहली सुत्या तथा प्रतिपद् को दूसरी सुत्या होती है। अहीनों के समान अंशु-अदाभ्य, तीन अनुबन्ध्या, त्रैधातवी तथा सहस्त्र दक्षिणा आदि धर्म होते हैं। इसकी संस्थाएं अग्निष्टोम तथा अतिरात्र हैं।

XX. क्षत्रधृति

श्रावण पूर्णमासी को क्षत्रधृति नामक सोमयाग का अनुष्ठान किया जाता है। जिस की संस्था अग्निष्टोम है। यह एक मास में सम्पन्न होता है।

XXI. त्रिष्टोम-ज्योतिष्टोम

क्षत्रधुति के आदि तथा अन्त में क्रमशः त्रिष्टोम तथा ज्योतिष्टोम नामक सोमयाग (अग्निष्टोम) किये जाते हैं, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है। इन दोनों यागों के समावेश पक्ष में श्रावण की पूर्णमासी को त्रिष्टोम, भादों की पूर्णमासी को क्षत्रधृति और असौज की पूर्णिमा को ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान किया जाता है। ये सभी याग एक एक मास में सम्पन्न होते हैं, पूर्णमासी सुत्या दिवस बताये गये हैं।

XXII. चरक सौत्रामणी

सब सोमयोगों के पश्चात् कार्त्तिक की पूर्णमासी को चरक सौत्रामणी नामक त्रिपशुक इष्टि का अनुष्ठान किया जाता है। राजसूय के अन्त में त्रैधातवी इष्टि की जाती है।

विभिन्न सूत्रकारों तथा व्याख्याकारों के अनुसार राजसूय में किये जाने वाले कर्मों में कुछ अन्तर है। इष्टियों और यागों के कालों में भी एकरूपता नहीं है, ऊपर साधारण कालों का निर्देश किया गया है।

* * *

पञ्चम अध्याय
वैदिकेत्तर साहित्य में राजसूय यज्ञ

यज्ञीय संस्कृति का आरम्भ वैदिक काल में हुआ, जो कि कालक्रम से कुछ क्षीण होता हुआ अब तक चला आ रहा है वैदिक वाङ्मय में यज्ञ को बहुत महत्त्व दिया गया है भारतवर्ष में यज्ञ का विकास सांस्कृतिक संकल्पना के रूप में हुआ है। यज्ञों को अधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपों में विभाजित किया गया है और देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थों में लिया गया। समय के साथ-साथ यज्ञ शब्द व्यापक होता चला गया। नाना कार्यों की सिद्धि हेतु अग्न्यादि पदार्थों का संयोजन तथा विद्वानों या परमात्मा से संयोग एवम् प्राणिमात्र के कल्याण के लिए स्वार्थ रहित समर्पण, यज्ञ के व्यापक अर्थ है। फलस्वरूप यज्ञ को शुभ कर्म माना जाने लगा और प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ यज्ञ से शुरू होने लगा। और इन कार्यों की विभिन्नता के आधार पर यज्ञों के नामकरण भी होते चले गए। यज्ञ को शुभ कर्म माना जाने के कारण राजा लोग भी अपने राजतिलक के समय यज्ञ करते थे। इसी यज्ञ का नामकरण राजसूय यज्ञ हुआ। वैदिक साहित्य में यह यज्ञ अत्यन्त जटिल, दीर्घकाल में सम्पन्न होने वाला वर्णित है। परिणाम स्वरूप वैदिकेतर साहित्य में यह लुप्तप्राय: हो गया। वैसे वैदिक युग के बाद भी राजा लोग यज्ञ करते थे किन्तु ये यज्ञ ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में वर्णित राजसूय यज्ञ के समान जटिल, दीर्घकालिक नहीं होते थे इसलिए इन यज्ञों को राजसूय नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। और वैदिकेत्तर साहित्य में वर्णित यज्ञ प्राय: वैदिक वाङ्मय के श्रौतसूत्रों या ब्राह्मणग्रन्थों से ही परम्परा से है। वैदिक युगीन विधि-विधानों का अनुसरण इस युग में भी हुआ है वैदिकेत्तर साहित्य में इस प्रकार के किसी शास्त्र या ग्रन्थ का प्रणयन नहीं हुआ जिसमें कि यज्ञीय विधि-विधान हों। वैसे महर्षि दयानन्द ने संस्कार विधि नाम से एक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। किन्तु उनका यह प्रयास केवल लुप्तप्राय: यज्ञीय परम्परा को पुनर्जीवीत करना तथा सरल करना रहा है। इस ग्रन्थ में केवल पञ्चमहायज्ञ ही वर्णित हैं। विधि-विधान को छोड़कर, वैदिकेतर साहित्य में राजसूय महायज्ञ इतिहास रूप में वर्णित उपलब्ध होता है। राजसूय यज्ञ की

जटिलता व दीर्घावधि पर्यन्त चलने के कारण यह महायज्ञ व्याख्यारूप में तथा क्रियारूप में प्रचलन में नहीं रह पाया। लौकिक साहित्य में राजसूय प्रसिद्धता से महाभारत में युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ है तथा रामायण में भी राजसूय यज्ञ वर्णित है तथा पुराणों में भी राजसूय विषयक वर्णन उपलब्ध होते हैं। और आधुनिक संस्कृत के लौकिक साहित्य में भी राजसूय यज्ञ विषयक वर्णन मिलते हैं आगे इनका क्रमशः वर्णन है -

I. महाभारत में राजसूय -

महाभारत में युधिष्ठिर के द्वारा संपादित[1] राजसूय की प्रेरणा उनको नारद से मिलती है[2] तथा महाभारत में अन्य राजाओं के द्वारा भी राजसूय सम्पन्न करने का वर्णन मिलता है जिनमें प्रमुख रुप से महाराजा हरिश्चन्द्र और भरत का नाम उल्लेखनीय है।[3] महाभारत के अनुसार

---

[1] राजसूयाश्वमेधौ च सर्वमेधं च भारत।
नरमेधं च नृपते त्वमाहर युधिष्ठिर।। महा०भा०, आश्वमेधादिक पर्व, 3.8

समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते वशे स्थिताः।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत।। महा०भा०, सभापर्व, 11.66

गते तू नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कौरव।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास भारत।। महा०भा०, सभापर्व अध्याय, 11.73

स राजसूयं राजेन्द्र कुरुणामृषभः क्रतुम्।
आहर्तुं प्रवणं चक्रे मनः संचिन्त्य सोऽसकृत्।। महा०भा०, सभापर्व अध्याय, 12.5

[2] नारदेन च भद्रं ते पूर्वमेव न संशयः।
युधिष्ठिरस्य सम्मितौ राजसूये निवेदितम्।। महा०भा०, स्त्री पर्व, 8.32
एष चार्थो महाबोहो पूर्वमेव मया श्रुतः।
कथितो धर्मराजस्य राजसूये क्रतूत्तमे।। महा०भा०, स्त्री पर्व, 8.36

[3] अश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च।
इष्ट्वान् स महातेजा दौःषन्तिर्भरतःपुरा।। महा०भा०, शान्तिपर्व, 29.42
स विजित्य महीं सर्वां सशैलवन काननाम्।
आजहार महाराज राजसूय महाक्रतुम्।। महा०भा०, अनुशासनपर्व, 60.15
हरिश्चन्द्रं च राजर्षिं रोचमानं विशेषतः।
यज्वानं यज्ञमाहर्तुं राजसूयमियेष सः।। महा०भा०, सभापर्व अध्याय, 12.3

उस समय इस महायज्ञ का अश्वमेध के समकक्ष स्थान था[1] और इसका राजनैतिक महत्त्व बहुत अधिक था। राजसूय यज्ञकर्त्ता राजा इन्द्र से मैत्री करने का पात्र हो जाता था और उसके साथ सुखभोग करता था[2] यह महायज्ञ अन्य राजाओं पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष्य में किया जाता था[3] धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते हुए क्षत्रिय के लिए राजसूय यज्ञ करना श्रेयस्कर माना जाता था[4] इस महायज्ञ की समाप्ति पर स्वर्ण आदि अनेक पदार्थों की दक्षिणाएं दी जाती थी[5] वैसे यह विशिष्ट महायज्ञ होते हुए भी महाभारत के एक स्थल पर वर्णन मिलता है कि सदा बारह महीने तक जातवेदस् अग्नि में हवन करने वाला हजार राजसूय यज्ञों के समतुल्य पुण्य फल को प्राप्त करता है जातवेदस् अग्नि में आहुति देना राजसूय से श्रेष्ठ माना गया है।[6]

---

[1] न राजसूयैर्बहुभिरिष्ट्वा विपुल दक्षिणैः।
न चाश्वमेधै र्बहुभिःफलं सममिदं तव।। महा०भा०, आश्वमेधादिक पर्व, 93.78
राजसूयजिताँल्लोकानश्वमेधाभिवर्धितान्।
प्राप्नुहि त्वं महाबाहो तपसश्च फलं महत्।। महा०भा०, स्वर्गारोहण पर्व, 3.23

[2] ये चान्येऽपि महीपाला राजसूयं महाक्रतुम्।
यजन्ते ते महेन्द्रेण मोदन्ते सह भारत।। महा०भा०, सभापर्व, 11.62

[3] विजित्य नृपतीन्सर्वान्मखैरिष्ट्वा पितामह।
अष्टभ्यो राजसूयेभ्यो न च तेनाहमागतः।। महा०भा०, अनुशासन.प०, 106.23

[4] पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्मेण वदतां वर।
राजसूयाश्वमेधादीन्मखानन्यांस्तथैव च।। महा०भा०, शान्तिपर्व, 63.17
उपच्छनं प्रकाशं वा वृत्या तान्प्रतिपादय।
राजसूयाश्वमेधाभ्यां श्रेयस्तत्क्षत्रियान्प्रति।। महा०भा०, अनुशासनपर्व, 60.15

[5] अश्वमेधशतेनेष्ट्वा राजसूयशतेन च।
अददाद्रोहितान्मत्स्यान्ब्राह्मणेभ्यो महीपतिः।। महा०भा०, शान्तिपर्व, 29.84
यत्स्यादिष्ट्वा राजसूये फलं तु यत्स्यादिष्ट्वा बहुना काञ्चनेन
एत्तुल्यं फलमस्याहुरग्र्यं सर्वेसन्तस्त्वृषयो यो च सिद्धाः।। महा०भा०, अनुशासन.प०,72.28

[6] सदा द्वादश मासांस्तु जुह्वानो जातवेदसम्।
राजसूय सहस्रस्य फलं प्राप्नोत्यनुत्तमम्।। महा०भा०, अनुशासन.प०, 110.64

II. रामायण में राजसूय

राजसूय महायज्ञ का वर्णन रामायण के अयोध्या काण्ड, किष्किन्धा काण्ड और उत्तरकाण्ड में वर्णित है अयोध्या काण्ड में एक स्थान पर सत्यवादी धार्मिक महाराजा दशरथ को राजसूय महायज्ञ सम्पन्न कर्त्ता के रुप में उल्लेखित किया गया है[1] रामायण के अनुसार राजसूय यज्ञ करना शाश्वत धर्म है[2] इस महायज्ञ को करने वाला वरुणत्व को प्राप्त करते हुए सभी लोकों में कीर्ति और शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है[3] महाराजा दशरथ ने राजसूय यज्ञ के पश्चात सैंकड़ों- हजारों गायें तथा स्वर्ण आदि धन-धान्य दक्षिणा में दिये थे।[4]

पुराणों में राजसूय

पुराणों में ऐतिहासिक दृष्टिकोंण से राजसूय महायज्ञ उल्लेख मिलता है किस राजा ने किस समय राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया आदि का वर्णन मिलता है कूर्म पुराण[5], मत्स्य पुराण[6],

---

[1] कश्चिद्दशरथो राजा कुशली सत्यसंगरः।
राजसूयाश्वमेधानामहर्ता धर्मनिश्चियः।। रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग, 94.4

[2] युवाभ्यामात्मभूताभ्यां राजसूयमनुत्तमम्।
सहितो यष्टुमिच्छामि तत्र धर्मो हि शाश्वतः।। रामायाण, उत्तरकाण्ड, सर्ग, 74.4

[3] इष्ट्वा तु राजसूयेन मित्रः शत्रुनिबर्हणः।
सुहुतेन सुयज्ञेन वरुणत्वमुपागमत्। रामायाण, उत्तरकाण्ड, सर्ग, 74.5
सोमश्च राजसूयेन इष्ट्वा धर्मेण धर्मवित्।
प्राप्तश्च सर्वलोकानां कीर्तिं स्थानं च शाश्वतम्।। रामायाण, उत्तरकाण्ड, सर्ग, 74.6

[4] राजसूयाश्वमेधैश्च वह्निर्येनाभितर्पितः।
दक्षिणाश्च तथोत्सृष्टा गावः शतसहस्रशः।। रामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग, 4.5
अग्निष्टोमोऽश्वमेधश्च यज्ञो बहुसुवर्णकः।
राजसूयस्तथा यज्ञो गोमेधो वैष्णवस्तथा।। रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग, 25.8

[5] तत्राभिषेकं यः कुर्यात्संगमे शंसितव्रतः।
तुल्यं फलमवाप्नोति राजसूयाश्वमेधयोः।। कूर्मपुराण, अध्याय 36.12

[6] राजसूये सुरगणा ब्रह्माद्याः सन्तु मे द्विजाः।
रक्षःपालः शिवोऽस्माकमास्तां शूलधरो हरः।। मत्स्यपुराण, अध्याय, 23.19,20,21

विष्णु पुराण[1], ब्रह्माण्ड पुराण[2], ब्रह्म पुराण[3], अग्नि पुराण[4] और श्रीमद्भागवद् पुराण[5] में राजसूय यज्ञ का प्रमुखता से उल्लेख है। पुराणों में राजसूय कर्त्ता राजा को बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता था और उसे सम्राट् की उपाधि मिलती थी।

आहर्ता राजसूयस्य सम्राडिति परिश्रुतः।[6]

तथा इस यज्ञ में ब्रह्मा आदि सुरगण भी भाग लेते थे और इसी के प्रभाव से मदग्रस्त होकर राजा सोम ने बृहस्पति की पत्नी तारा का हरण कर लिया था।

नाभि सरोज समुद्भवाब्जयोनेर्ब्रह्मणः पुत्रोऽत्रिः। अत्रेस्सोमः। तं च भगवानब्जयोनिः अशेष अशेषौषधीद्विज नक्षत्राणामाधिपत्येऽभ्यषेचयत्। स च राजसूयम् अकरोत्। तत्प्रभावात् अति

---

1 नाभि सरोज समुद्भवाब्जयोनेर्ब्रह्मणः पुत्रोऽत्रिः।
अत्रेस्सोमः। ...... तारां नाम पत्नीं जहार।। वि०पु०, चतुर्थांशे षष्ठोध्यायः। 6.5-10

2 राजसूयाभिषिक्तानामाद्यस्स वसुधाधिपः।
तस्य सत्वार्थमुत्पन्नौ निपुणौ सूतमागधौ।। ब्र०पु०, पूर्व भाग, द्वितीयानुषंगापाद, अध्याय-36, 113, 7-113, 8-25, 33-31, 63-116, 65-112

3 पृथुर्वैण्यस्तथा चेमां ररक्ष क्षत्रपूर्वजः।
राजसूयाभिषिक्तानामाद्यः स वसुधापतिः।। ब्र०पु०, सृष्टिकथननामक अध्याय-2, 24, 4-16, 8-25, 9-13, 28-59, 57-18, 67-52, 176-58, 220-47

4 जिता दिशः पाण्डवैश्च राज्यञ्चक्रे युधिष्ठिरः।
बहुस्वर्णं राजसूयं च सेहे तं सुयोधनः।। अग्निपुराण, अध्याय, 12.18
राजसूयाभिषिक्तानामाद्यः सपृथिवीपतिः।
तस्माच्चैव समुत्पन्नौ निपुणौ सूतमागधौ।। अ०पु०, अध्याय, 18.15, 273-2, 382-28

5 मुनिगणनृपवर्य सङ्कुलेऽन्तः सदसि युधिष्ठिर राजसूय एषाम्।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष अविरात्मा।। भा०पु०, प्रथमस्कन्ध अध्याय, 9.41
यद्धर्मसूनोर्बत राजसूये निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः।
कार्त्स्न्येन चाद्येह गत्र विधातुरर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यतः।। भा०पु०, तृतीयस्कन्ध अध्याय, 2.13, 2-19, 17-9, 1-13, 12-3, 74-15, 74-16, 74-51, 75-1, 3, 27, 40, 77-6

6 ब्र०पु०, मध्य भाग, तृतीयोपोद्घात, अध्याय-63, 116

उत्कृष्टाधिपत्याधिष्ठातृत्वाच्चैनं मद आविवेश मदावलेपाच्च सकलदेव गुरोर्बृहस्पते: तारां नाम पत्नीं जहार।।[1]

वैसे पुराणों में राजा सोम, पृथु और युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का प्रमुखता से उल्लेख है

IV. श्रीशिवराज्योदय महाकाव्य में राजसूय महायज्ञ का वर्णन

संस्कृत साहित्य में गृह्य और श्रौत आदि सूत्र ग्रन्थों के काल के बाद कर्मकाण्डीय विधि विधान वाले ग्रन्थों का प्रणयन नहीं हुआ है और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद में और उस समय तो अधिकतर देशभक्ति पूर्ण काव्य ग्रन्थों की रचना हुई है। उन्हीं काव्य ग्रन्थों में कहीं-कहीं कर्मकाण्डीय क्रियाकलापों का भी वर्णन मिलता है ऐसे ही एक श्रीशिवराज्योदय नामक आधुनिक महाकाव्य में राज्याभिषेक रुप राजसूय का विकृत रुप में वर्णन मिलता है

कृत्वादौ स्वस्तिवाचनम्। मातृकापूजनान्ते च वसोर्द्धाराभिपूजनम्।।2।।[2]

जिसके प्रारंभ में स्वस्तिवाचन करके षोडश उपचारों के पश्चात आज्याहुति अर्पित की जाती थी

ततश्च नान्दीश्राद्धान्ते श्रीनारायणपूजनम्। षोडशैरुपचारैश्च कृत्वाऽऽज्याहुतिरर्पिता।।3।।[3]

तत्पश्चात् राजा उस रात्रि को व्रत लेकर परमेश्वर का ध्यान करते हुए भूमि पर शयन करता है।

भूमावास्तीर्णदर्भायां व्रतस्थ: शिवभूपति:। सुष्वाप रात्रौ प्रासादे निध्यायन् परमेश्वरम्।।4।।[4]

---

1 वि०पु०, चतुर्थांशे षष्ठोध्याय:। 6.5-10

2 श्रीशिव० महा० सर्ग 67 श्लोक 2

3 श्रीशिव० महा० सर्ग 67 श्लोक 3

4 श्रीशिव० महा० सर्ग 67 श्लोक 4

फिर अगले दिन राजा पत्नी सहित तूर्य आदि वाद्ययन्त्रों की मधुर ध्वनि से प्रहृष्ट होता हुआ सुशोभित नौ कुण्डीय यज्ञ मण्डप में प्रवेश करता है

ततोऽन्येद्युस्त्रयोदश्यां प्रभाते शनिवासरे। सर्वमाङ्गलमङ्गल्ये साधुवृन्दप्रतीक्षिते।।5।।

सांवत्सरिकवर्येण ऋत्विग्भिश्च पुरोधसा। सार्धं मण्डपमायातः सपत्नीकः शिवप्रभुः।।6।।

तदोच्चकैरवाद्यन्त प्रहृष्टैस्तूर्यवादकैः। तथा मङ्गलतूर्याणि दिगनताः प्रतिदध्वनुः।।7।।

सम्पूज्य मण्डपं भव्य नवकुण्डी-सुशोभितम्। उच्छ्रितोऽभ्यर्चितो भक्त्या काषायो भगवद्ध्वजः।।8।।[1]

इसके पश्चात उस महावेदी के चारों दिशाओं में सोने, चॉदी, ताम्बे और मिट्टी के घड़े रखे जाते हैं वेदी के पूर्व में घृत से पूर्ण, उत्तर में शहद से भरा हुआ, दक्षिण में दुग्धपूरित तथा पश्चिम में दही से भरा हुआ घड़ा रखा जाता है।

ततोऽभितो महावेदीं चतुर्दिक्षु चतुश्चतुः। सौवर्णा राजतास्ताम्रा मार्दा निदधिरे घटाः।।9।।

पूर्वतो घृत-पूर्णश्चोत्तरतो मधुपूरितः। दक्षिणतो दुग्धपूर्णः प्रत्यग् दधिभृतो घटः।।11।।[2]

उन जल वाले घड़ों में सैंकड़ों प्रकार की औषधियॉ, पॉच प्रकार के रत्न, सात प्रकार की मिट्टीयॉ, वृषशृंग, हस्तिदंत, गोरोचन, मुरारेणु, देवदारु, कुमकुम और बड़ी सरसों मिलाकर उस अभिषेक शाला के सब ओर ये घड़े रखे जाते हैं इन घड़ों में गंगा, यमुना, कुएं और अन्य पवित्र नदियों का जल भरा होता है

क्षिप्ताः सजलकुम्भेषु शतधौषधयः शुभाः। पञ्चधा रत्नधान्यानि सप्तधा मृत्तिकास्तथा।।12।।

वृषशृङ्गं हस्तिदन्तस्तथा गोरोचनोपलम्। मुरारेणुर्देवदारुं कुंकुमं राजसर्षपः।।13।।

आसन्द्यौदुम्बरी विद्यां प्रशाखा चमसस्तथा। घृतं-मधु-दधि-स्वर्णं स्थापितं पावनोदकम्।।14।।

पुण्याभिषेकशालायामुदग् भद्रासनं ततः। संस्थाप्य दिक्षु चाष्टासु निहिताः शोभना घटाः।।

---

[1] श्रीशिव० महा० सर्ग 67 श्लोक 5-8

[2] श्रीशिव० महा० सर्ग 67 श्लोक 9-11

येष्वासीद् यमुनागङ्गासरः कूपाब्धिजीवनम्।।15।।[1]

उसके बाद पञ्च पल्लव से सुशोभित सोने का एक कलश उन पात्रों के पास रखा जाता है। ऋत्विक भूमि संस्कारों को करके यथाविधि यज्ञकुण्ड मे अग्नि स्थापित करता है तथा उदुम्बर की लकड़ी और घी से गायत्री का उच्च स्वर में 108 बार पाठ करते हुए आहुतियाँ देते हैं उस समय अन्य सभी वेद मन्त्रों का पाठ करते हैं सभी दिशाओं के द्वारों पर अलग-अलग सूक्तों के मन्त्रों का गायन होता है सभी कुण्डों में आहुति के बाद पूर्णाहुति करके राजाभिषेक का प्रारंभ किया जाता है।

ततश्च कलशो हैमः पञ्च पल्लवमण्डितः। वस्त्राभिवेष्टितस्तत्र स्थापितः पात्रसन्निधौ।।17।।

ऋत्विजश्च ततः कृत्वा भूसंस्कारान् स्वकुण्डके। स्थापयामासुराचार्यकुण्डस्थाग्निं यथाविधि।।18।।

यजमानेन मान्येन द्रव्यत्यागे ततः कृते। ऋत्विजश्चक्रिरे सर्वप्रधानं होममादरात्।।19।।

औदुम्बरीयाः समिधस्तदाज्येन समं हुताः। अष्टोत्तरशतं जप्त्वा गायत्रीमन्त्रमुच्चकैः।।20।।

तदा द्विजवराः सर्ववेदमान्त्रान् पृथग्विधान्। जगर्जुः स्वस्वशाखीयानाजुह्वाना मुहुर्मुहुः।।21।।

जञ्जपूकाः भृशं जेपुर्मन्त्रान् दैवततोषणान्। उच्चैर्द्वारजपं चक्रुर्द्वारपालाः सहस्रशः।।22।।

रात्रिसूक्तं च रौद्रं च पवमानं सुमङ्गलम्। अजपन् पौरुषं सूक्तं पूर्वतो बह्वृचः पृथक्।।23।।

शाक्तं रौद्रं च सौम्यं च कौष्माण्डं जातवेदसम्। अजपन् सौरसूक्तं ते दक्षिणेन यजुर्विदः।।24।।

शैशवं पञ्चनिधनं गायत्रं ज्येष्ठसाम च। वामदेव्यं बृहत्सौम्यं रौरवं सरथन्तरम्।।25।।

गवां व्रतं विकीर्णं च रक्षोदन यशस्तथा। वैराज्यं पौरुषं सूक्तं सौपर्णं रुद्रसंहिताम्।

अगायन् सामगाः सर्वे पश्चिमद्वारमाश्रिताः।।26।।

आथर्वणांश्चोत्तरतः शांतिकं पौष्टिकं तथा। अजपन् मनसा देवमाश्रित्य वरणं प्रभुम्।।27।।

अजपन् निजशाखीय-श्रौतसूक्तानि सर्वतः। द्वारपाला द्वारदेशे यथायोगं नियोजिताः।।28।।

---

1 श्रीशिव० महा० सर्ग 67 श्लोक 12-15

श्रीसूक्तं पवमानं च सोमसूक्तं सुमङ्गलम्। शान्त्यध्यायं चेन्द्रसूक्तं रक्षत्वं चेति बहूवृचौ।।29।।

दक्षिणे तु द्वारपालौ रुद्रात् पुरुषसूक्तकम्। श्लोकाध्यायं शुक्रियं च मङ्गलाध्यायमेव च।।30।।

वामदेव्यं बृहत्साम ज्येष्ठसाम रथन्तरम्। तथा पुरुषसूक्तं च रुद्रसूक्तमतः परम्।।31।।

आज्यदोहानि सामानि शांतिकाध्यायमेव च।। भारुण्डानि च सामानि पश्चिमे सामवेदिनौ।।32।।

अथर्वाङ्गिरसं नीलरुद्र चैवापराजितम्। देवीं च मधुसूक्तं च रोधसं शान्तिकं तथा।।

आथर्वणौ द्वारपालौ पेठतुश्चोत्तरे स्थितौ।।33।।

ततश्च बलिदानान्ते कुण्डेषु सकलेष्वपि। हुत्वा पूर्णाहुतिं राजाभिषेकः सम्प्रवर्तिततः।।34।।[1]

तब अभिषेक शाला को विभिन्न तेलों और चूर्णो से सुगन्धित किया जाता है राजा को कवोष्ण जल से स्नान कराया जाता है विभिन्न मिट्टीयों का उसके शरीर पर लेपन किया जाता है।

तदाभिषेकशालायां तैलैश्चूर्णैः सुगन्धिभिः। सामगेषु प्रगायत्सु शिवस्याङ्गं समञ्जितम्।।35।।

सुस्नापिते कवोष्णेन जलेन च ततः शिवे। शुक्लाम्बरधरे मृद्भिः संस्कारं विदधौ द्विजः।।36।।

नगाग्रस्था हि मृन्मूर्ध्नि वलमीकस्था च कर्णयोः। शिवालयस्था वदने ग्रीवायामिन्द्रसद्मगा।।37।।

नृपाजिरस्थ हृदये करिदन्तोद्धृता भुजे। भुजङ्गमोद्धृता पृष्ठे कुक्षौ संगमसंस्थिता।।38।।

नदीकूलस्थिता पार्श्वे वृषशृङ्गोद्धृता तथा। वेश्यागारगता कट्यां गजस्थानस्थिता भ्रुवोः।।39।।

धेनुस्थानस्थिता जान्वोरश्वस्थानाच्च जङ्घयोः। रथचक्रोद्धृता चाङ्घ्र्योःसर्वाङ्गे स्वर्णदीगता।।40।।

इत्थं शिवस्य गात्रेषु लिप्त्वा नानाविधा मृदः। गोमूत्रं गोमयं गव्यं क्षीरं दधि घृतं तथा।।

कुशोदकं च सर्वांङ्गे मन्त्रघोषैः समञ्जितम्।।41।।[2]

बाद में स्नान अनुलेपन करके श्वेत वस्त्र एवं पगड़ी से अलंकृत राजा को मण्डप में लाया जाता है।

---

[1] श्रीशिव० महा० सर्ग 67 श्लोक 17-34

[2] श्रीशिव० महा० सर्ग 67 श्लोक 35-41

ततः स्नातानुलिप्तश्च शुक्लवासाः शुचिस्मितः। सोष्णीशोऽलङ्कृतो राजा मण्डप प्रत्यनीयत॥42॥[1]

राजा अलग- अलग दिशाओं में धन, तेज, विजय, वृद्धि और पुष्टि के लिए अभिषेक की कामना करता है।

प्राच्यां मामभिषिञ्चन्तु वसवस्तेजसे श्रिये। याम्यायामभिषिञ्चतु मां रुद्रा विजयाय च॥

आदित्या अभिषिञ्चन्तु प्रतीच्यां दिशि वृद्धये। विश्वेदेवास्तथोदीच्यामभिषिञ्चन्तु पुष्टये॥

दिगीशास्त्वभिषिञ्चन्तु मां सदा विजयाय च॥ प्रत्यङ्मुखौ ततः प्राच्यां सांवत्सरपुरोहितौ।

समन्त्रमभ्यसिञ्चेतामौदुम्बर्या प्रशाखया॥45॥[2]

अभिषेक होने के बाद राजा आसंदी से नीचे उतर जाता है।

जाताभिषेको राजाऽसौ तां प्रशाखामुदग्रगाम्। चरणाभ्यां मनाक् स्पृष्ट्वाऽऽसन्दीतोऽवरुरोह च॥47॥[3]

इसके बाद राजा सभी ऋत्विकों को यथासामर्थ्य दक्षिणा देता है।

कृषकेभ्यो लाङ्गलानि सपुष्टवृषभाणि च। वणिग्भ्यश्च तुलादण्डा वन्येभ्यः कम्बलानि च॥69॥[4]

तत्पश्चात राजा रथारोहण क्रिया करता है

ततो रथाधिरूदेन ते स्यन्दनधुरन्धराः। तुरङ्गमा द्विजेन्द्रेण ताडिताः कशया मनाक्॥5॥[5]

रथारोहण क्रिया के बाद अक्ष क्रीड़ा करता है

प्रविश्य मण्डपं पुण्यवेदीसंस्थो महीपतिः अक्षैः क्षत्रियवर्येण किञ्चिच्चिक्रीड केनचित्॥10॥[6]

और मंगलकारी जलों को पीते हुए शयन के लिए चला जाता है

---

1 श्रीशिव॰ महा॰ सर्ग 67 श्लोक 42

2 श्रीशिव॰ महा॰ सर्ग 67 श्लोक 45

3 श्रीशिव॰ महा॰ सर्ग 67 श्लोक 47

4 श्रीशिव॰ महा॰ सर्ग 67 श्लोक 69

5 श्रीशिव॰ महा॰ सर्ग 68 श्लोक 5

6 श्रीशिव॰ महा॰ सर्ग 68 श्लोक 10

ततः सुमङ्गलान् घोषान् पिबन् मुदितमानसः। विश्रान्तये गतो राजा शयनागारमात्मनः।।12।।[1]

सुबह उठकर धनुष तीर सहित मण्डप में आकर गुरु और सवत्सा गाय की पूजा करके श्रेष्ठ अश्व पर बैठकर नगर की कुछ समय परिक्रमा करता है इस प्रकार यह राजसूय विधि सात दिन में पूर्ण हो जाती है।

धनुः सशरमादाय ततस्तेन महीभुजा। सकृत् प्रदक्षिणीचक्रे मण्डपः स सुशोभनः।।30।।

ततो नत्वा गुरुं, धेनुं सवत्सां प्रतिपूज्य च। सुपूजितं वाजिरत्नमारुरोह क्षणं नृपः।।31।।

तथाधिरूढ आगत्य गजराजमलङ्कृतम्। विधिवत् पूजयामास शिवस्तं सपुरोहितः।।32।।

गजराजं तमारुह्य नानालङ्कारमण्डितम्। नगरं परितोऽभ्राम्यत् कंचित् कालं प्रदक्षिणम्।।33।।

पथि देवालयान् गत्वा देवांस्तत्र सुपूज्य च। निजप्रासादमायातः क्षणं विश्रमितुं शिवः।।34।।

एवं सप्तदिनैः श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तं विधिं मङ्गलम्। भक्त्यैकान्तिकया समाप्य नितरां तुष्टः शिवो भूपतिः। अन्ते साञ्जलिबन्धमानतशिराः प्राह स्मरन्नीश्वरम् ॐ तत् सत् कृतमेतदस्तु सफलं ब्रह्मार्पणं सर्वथा।।35।।[2]

---

[1] श्रीशिव॰ महा॰ सर्ग 68 श्लोक 12

[2] श्रीशिव॰ महा॰ सर्ग 68 श्लोक 30- 35

षष्ठम अध्याय

राजसूय यज्ञ से सम्बन्धित वेदी एवं यज्ञीय उपकरणों का विवेचन

1. राजसूय यज्ञ में वेदी निर्माण

वेदी यह यज्ञ का आधार है, जिससे सभी कृत्य सम्पादित किये जाते हैं। वेदी पृथिवी के समान है[1], क्योंकि इसी वेदी के द्वारा देवों ने सम्पूर्ण पृथ्वी को राक्षसों से जीता था। राक्षसों का इससे कथमपि सम्पर्क न हो इसलिए इस पर औषधिरूप बर्हि बिछाया जाता है। इस वेदी पर पहली तीन रेखाओं का घेरा पुनश्च तीन रेखाओं का घेरा छः ऋतुओं का प्रतीक है और पुनः संवत्सर प्रजापति का बन जाता है।[2] प्रथम घेरे में छः व्याहृतियाँ और दूसरे घेरे में पुनः छः व्याहृतियाँ बारह मासों को लक्षित करता है। भौतिक दृष्टि से देखने पर वेदी स्त्रीवत् है और पुरुष का वेदी में अग्नि की स्थापना, स्त्री में पुरुष रूप रेतस् की स्थापना को उपलक्षित करता है। जिसमें सृष्टि रूप यज्ञ सम्पन्न होता है, अतः राजसूय यज्ञ प्रकारान्तर से सृष्टि का ही द्योतक है।[3] वेदी स्त्री को द्योतित करती है और यज्ञ के साथ देवता और विद्वान् ऋत्विक् वेदी के चारों ओर विद्यमान रहते हैं, इसलिए वेदीरूप स्त्री को नग्न नहीं होना चाहिए, इसके कारण इसके ऊपर बर्हि बिछाया जाता है –

योषा वे वैदिः तामेतद्देवाश्च पर्यासते, ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानाः तेष्वेवैनामेत् पर्यानीनेष्वनग्नां करोति।[4] वेदी पर विछाया गया बर्हि यौवन का प्रतीक है।

---

[1] एतावती वै पृथिवी यावती वेदीः।
तै०ब्रा०, 3.2.9., पृथिवी वेदिः। वही, 3.3.6.

[2] स वै त्रि पूर्वं परिग्रहं परिगृहणति त्रिरुत्तरम् तत् षट्कृत्वः षड्वाऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः।, वही, 3.3.6.

[3] योषा वै वेदिः वृषाग्निः परिगृह्य वै योषा वृषाणं शेते। मिथुनमेवैयत्प्रजननं क्रियते। तदेव, 1.2.5.15.

[4] तदेव, 1.3.3.8. तै०ब्रा०, 3.3.9.

शतपथ के अनुसार **तस्या वेदिरूपस्या लोमानि बर्हिः**[1] अर्थात् यौवन काल में स्त्री के जो रोम उदय होते हैं, वही बर्हि होते हैं। अतः बर्हि यौवन का प्रतीक है। इसलिए स्त्री रूपी वेदी पर यह बिछाया जाता है। बर्हि पृथिवी लोक का भी प्रतीक है क्योंकि इसी पृथिवी पर औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और औषधि को भी बर्हि कहते हैं।[2] यजमान यज्ञ द्वारा पृथिवी लोक में औषधि की स्थापना करता है। बर्हि उन समस्त तत्त्वों का प्रतिनिधि है जो वृद्धिगत है। यह प्रजा और पशुओं का भी प्रतीक है[3] क्योंकि प्रजा से समाज व राष्ट्र वृद्धि में प्राप्त होते हैं। पशुओं के दुग्ध, घृत आदि से भी मनुष्य वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार राजसूय महायज्ञ की वेदी के माध्यम से राजा को यह सन्देश मिलता है कि जैसे यह वेदी लोक और प्रजाओं का उपलक्षण है और इस काल में इसकी रक्षा करनी आवश्यक है वैसे ही राज्यकाल में प्रजाजनों का रक्षण भी अनिवार्यतया कर्त्तव्य कर्म है।

इस राजसूय की वेदी के रचना के विषय में विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं मतभेद होना उचित भी प्रतीत होता है। क्योंकि राजसूय यज्ञ किसी एक याग का नाम नहीं है। इस में तो अनुमति आदि सैंकड़ों इष्टियों और विभिन्न दर्विहोम, मल्ह आदि पशुबन्ध अभिषेक, शुनःशेप कथा शंसन, रथारोहरण, द्यूत क्रीड़ा, इन्द्रतुरीय आदि कर्म, अनेकों सोमयाग, चातुर्मास्य पर्व का अनुष्ठान, और प्रयुग् हवियां आदि अनेकों यागों के विधि-विधानों का समवेत नाम है। अतः किसी एक वेदी का निर्माण अन्तिम नहीं हो सकता। क्रमागत विधि-विधानों व यागों के अनुसार यज्ञीय वेदी का निर्माण होता है। उन सभी वेदीयों के निर्माण की समालोचना करना एक स्वतन्त्र शोध करने के समान होगा अतः अधिक विस्तार न हों इसलिए मुख्यतया कात्यायन श्रौतसूत्र (अध्याय 15)[1], मण्डपकुण्ड

---

1 श०ब्रा०, 14.9.4.3.

2 वही, 1.8.2.11.

3 प्रजा वै बर्हिः तै० ब्रा०, 1.6.3.
तै०से०, 1.6.4, श०ब्रा० 12.9.1.11. पशवो बर्हिः।

सिद्धिः, कुण्डशुल्व कारिका आदि के अनुसार राजसूय महायज्ञ में प्रयुक्त यागों के अनुसार वेदी निर्माण निरूपण कर रहे हैं।

राजसूय महायज्ञ के लिए विशाल देवयजनी (यज्ञशाला) का निर्माण किया जाता है। सामान्यतः यज्ञशाला में समभूमि पर मेखलायुक्त आहवनीय आदि अग्नि स्थान बनाकर तथा अग्नि स्थापित करके उसमें आहूति दी जाती है। कभी-कभी आहवनीय आदि अग्नि स्थानों पर ईंटों से ऊंचा स्थण्डिल (चबूतरा) बनाकर उस पर मेखला बनाकर तथा अग्नि स्थापित करके आहुती दी जाती है। इस प्रकार का स्थण्डिल निर्माण 'चिति' या 'चयन' कहा जाता है। चिति के अनेकों प्रकार हो सकते हैं। क्योंकि राजसूय महायज्ञ में पवित्र नामक सोमयाग, अभिषेचनीय सोमयाग, दशपेय सोमयाग और केशवपनीय सोमयाग तथा अनेकों इष्टियां होम, और पशुबन्ध, द्यूतक्रीड़ा, रथारोहण, कथावाचन तथा राज्याभिषेक आदि कर्म सम्पन्न करने होते हैं। जिससे चिति निर्माण में एकरूपता सम्भव नहीं है। किन्तु विभिन्न सोमयागों के लिए सुपर्णचिति या श्येन चिति (उड़ते हुए गरूड़ पक्षी के आकारवाली) प्रचलित है। वैसे सचिति सोमयागों में प्राकृत विधियों के अतिरिक्त अनेक वैकृत विधियों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार एक विशाल पाण्डाल का निर्माण किया जाता है। जिसकी छत शतरंजी या पत्तों से बनाई जाती है। पाण्डाल के नीचे यथावसर मण्डपों का निर्माण किया जाता है। व्यवहार में पाण्डाल के साथ ही सब मण्डपों का निर्माण कर लिया जाता है। और अवसर उपस्थित होने पर उनकी नाप आदि का अभिनय कर लिया जाता है। पृष्ठया (पूर्व-पश्चिम मध्य रेखा) के पश्चिमी छोर पर पृष्ठया के उत्तर तथा दक्षिण समान क्षेत्र को घेरकर एक आयताकार (पूर्व-पश्चिम लम्बा) मण्डप बनाया जाता है, जो प्राग्वंशशाला कहा जाता है। इस शाला के चारों दिशाओं में एक-एक द्वार होता है पश्चिम द्वार से पूर्व की ओर पृष्ठया पर गार्हपत्य नामक गोलाकार अग्नि स्थान, पात्र रखने के गोल स्थान, अन्दर की ओर पिचकी हुई चौकोन वेदी तथा आहवनीय नामक अग्नि स्थान क्रमशः बनाये जाते हैं। पात्र स्थान के दक्षिण में दक्षिणाग्नि नामक अर्द्धगोलाकार अग्नि स्थान बनाया जाता है। गार्हपत्य और आहवनीय के उत्तर में एक एक धर्म और श्वर बनाये जाते है ये आकार में गोल और मिट्टी डालकर तीन-चार अंगुल ऊंचा स्थान बनाया जाता है। पूर्वोत्तर कोने में उच्छिष्ट श्वर

बनाया जाता है प्राग्वंश शाला के पूर्व में महावेदी का निर्माण किया जाता है। भूमि में ईंटे गाड़वार या चूने की सफेद रेखा द्वारा महावेदी चिन्हित कर दी जाती है। इसका परिचमी छोर पूर्व की अपेक्षा क्रमशः चौडा होता जाता है। महावेदी के अन्तर्गत पश्चिमी दिशा में सदोमण्डप नामक एक आयताकार शाला (उत्तर-दक्षिण) लम्बी मध्य में हविर्धाम मण्डप (पूर्व पश्चिम लम्बा) और पूर्व दिशा में उत्तर वेदी बनाई जाती है। सदोमण्डप तथा हविर्धान मण्डप में पूर्व और परिचम दिशाओं में पृष्ठया पर एक-एक द्वार बनाया जाता है उत्तर वेदी से पूर्व एक हाथ छोड़कर पृष्ढया तथा महावेदी की पूर्वी सीमारेखा के योग स्थान पर यूपावट खूटे के लिए गड्ढ़ा खोदा जाता है। महावेदी की उत्तरी सीमा पर सदोमण्डप के सामने आग्नीध्रीय (दक्षिण की ओर द्वार) और दक्षिण सीमा रेखा पर मार्जालीय (उत्तर की ओर द्वार) नामक स्थान बनाये जाते हैं। आग्नीध्रीय से पूर्व क्रमशः उत्कर, शामित्र शाला तथा चात्वाल नामक' स्थान बनाये जाते हैं। और इन स्थानों को दो-दो मीटर ऊंचे बांस गाड़कर बांध दिये जाते है। इस प्रकार से तैयार इसी यज्ञशाला की यज्ञीय वेदी में सभी आहुति आदि रूप कर्मकाण्ड सम्पन्न होते हैं। उपरोक्त प्रकार की यज्ञशाला में वेदी के आकार-प्रकार की एक रूपता नहीं रहती है क्योंकि राजसूय महायज्ञ किसी एक याग का नाम नहीं है इसमें विभिन्न प्रकार के अनेक याग सम्पन्न होते है जिनकी महत्ता समान रूप से एक जैसी होती है। किन्तु वेदियों का निर्माण तद्-तद् विधि-विधानों के अनुसार होता है। कात्यायन श्रौत सूत्रादि के अनुसार विभिन्न चित्रों सहित आगे वेदी निर्माण का उल्लेख -

मानवाचक विवरण

प्रक्रम - 12 अंगुल

अंस - वेदी के ईशान एवं अग्नि कोण को अंस कहते हैं।

श्रोणी - वेदी की नैर्ऋत, वायव्यकोण को श्रोणी कहते हैं।

व्याम - प्रसारित बाहू प्रमाण।

वितान बिहार - श्रौतयज्ञशाला

अरत्नि - 24 अंगुल

II. दर्शवेदिनिर्माण प्रक्रिया

अथ विभिन्नग्रन्थोक्तंदर्शवेदिनिर्माणं संगृह्यते।

दर्शवेदिनिर्माणं संगृह्यते। अस्तिमण्डपकुण्डासिद्धिनामकः ग्रन्थः। यस्मिन् मण्डपकुण्ड विषयप्रतिपादकाः विंशतिग्रन्थाः बहुभिराचार्यैः विरचिता एकत्रसंकलिता श्च सन्ति। तत्र कुण्डशुल्बकारिकाख्यो ग्रन्थोऽस्ति। यस्य प्रणेतुस्तत्र नामाङ्कनं नास्ति। ग्रन्थेऽस्मिन्नाचार्येण श्रौतितानस्य विहरणमुपवर्णितं तदत्र प्रस्तूयते।

ब्राह्ममविभ्रंशतीं परीक्ष्य संशोध्य भूमिं सुसमां समुच्चाम्।
प्रागृह्य तस्यामनुलिप्यशालां कृत्वा निहन्याद् दृढमाद्यशङ्कुम्।
प्राचीं ततः पूर्ववदुक्तरीत्या संसाध्यदेशे परितः प्रशस्ते।
नर्यस्य विश्वाब्धि गुणाङ् गुलादि व्यासार्द्धमित्या विलिखेत्सुवृनाम् ॥2॥
तन्मध्यचिन्हाद्वसुविक्रमेषु वैकादशद्वादशसु स्वमत्या।
वांसस्य मध्यं परिकल्प्यकुर्यात् कुण्डंचंतुष्कोणमरत्निमात्रम् ॥3॥
मध्यं च नर्याहवनीययोस्तु विभज्य षोढायथ सप्तधा वा।
लब्धांशकागंतुसमंत्रिधा भूस्त्र्यंशं च हित्वापरदक्षिणेऽग्निः ॥4॥
अग्नेरुदक्साार्द्धनवाङ्गुलेऽस्मिन् यूकेषुभिर्वर्धितभूस्थ शङ्कौ
एकोनविंशाङ्गुलिभिर्यवैक यूकाद्वयव्यासदलेषु वृत्तम् ॥5॥
विलिख्यपूर्वापरसंस्थंजीवांकृत्वा च हित्वोत्तरकार्मुकं हि।
यामं भवेत् कुण्डमथर्य संज्ञं सभायां चतुरस्रमुक्तम् ॥6॥
औपासनं चैवमथोगृहान्तः कुण्डद्वयं नर्यमिवीक्त वद्वा।
उपर्यपर्यापितमेखला भिस्त्रिस्त्रिभिः सर्वखरेषु भित्तीः ॥7॥
सूत्रोक्तद्वितयपक्षमनुसृत्य एकादशप्रक्रमपक्षेवेदिः 1/29
वेदाङ् गुलोच्चारमितो विदध्याखवश्च तास्त्र्यंगुलिविस्तृताभिः।
प्राचीभवादाहवनीयशङ्को पश्चात्त्यरत्नया प्रतिमुंच शङ्कुम्ः ॥8॥
रज्जुंद्विपाशं षडरत्निदीर्घा विचिन्हिता पंचसुमध्यभागे।

हस्तद्वयं चांगुलषट्कचिन्हे ह्यष्टादशेषु त्रिषुलक्षिता च ।।9।।
पाशद्वयं सम्प्रतिमुच्यशङ् कोर्विकर्षयेदङ् गुलषट्क चिन्हम्।
पाश्चात्यहस्तद्वयरज्जुचिह्ने शंकूच याम्योत्तरगौ निखेयौ ।।10।।
तच्छ्रोणियुग्मं त्वथपूर्वपाशंदष्टादर्शाकेन विकृष्य रज्जुम्।
अग्नीशयोरंसयुगं तथा स्याच्छङ् कुद्वयं सार्द्धकरस्य चिन्हे ।।11।।
सूत्रार्पणात्कोण चतुष्टयेतु क्षेत्रं भवेत्तद्विषमं हि वेद्याः।
पूर्वार्धशंकोरथचापरार्द्ध यावच्च कोणोपरिवेष्ट्य रज्ज्वा ।।12।।
अर्द्धीकृता तामनुवेष्ट्यशकूं याम्योत्तरौ मध्यगमौ निखेयौ।
तुरीयभागेन दलीकृताया रज्जोः पृषत्कादथवापि शंकोः ।।13।।
वृत्तार्द्धमानेन विलिख्य संग्रहौ कृत्वा खनेपत्त्र्यङ् गुलवेदिमध्यम्।
वितानपूर्वापरसौम्य दिक्षु द्वारैर्युतं शस्यगुहं पुरस्तात् कुर्यात् ।।14।।
याम्येन्द्रदिग्द्वारगृहं द्वयोश्चश्वभ्रं च भस्मोद्धरणाय कुर्यात् ।।15।।
एवं हविर्यज्ञविधौ वितानकुण्डानिसाध्यानि समानि सद्भिः
वृत्ते पूर्वविनिर्मिते त्रियवयुक्षड्भिः शराश्चागुलैः
मित्वायष्टिभिरंगुलैश्च तिसृभिर्ज्याभिर्भजेन्मण्डलम्।
द्वाभ्यां मध्यशरद्वंयं यवयुतं द्वाभ्यां च वाणद्वयं
कृत्वापूर्ववदष्टपत्र विधिना पद्मं चतुर्भिर्दलैः ।।16।।

कात्यायनीय दर्शपूर्मास विहार निर्माणप्रकारः

गार्हपत्यस्य (प्रत्यक्स्थस्य) मध्यादाहवनीयस्य (प्राक्स्थस्य) मध्यपर्यन्तमन्तरमेकादश द्वादश वा प्रक्रमाः। प्रक्रमो द्वादशाङ्गुल इति परिशिष्टे। प्रक्रमः पदमित्यनर्थान्तरम्। गार्हपत्य कुण्डं सार्द्धत्रयोदशाङ्गुलमितकर्काटक भ्रामणेन वृत्तं कार्यम्। आहवनीयस्यतु समचतुरस्त्रं तस्य व्यासाविषड् भागान्कृत्वा स्वषष्ठ भागं तस्यांसंयोजयेत्। एवं सप्तभागाः। ततः सप्तमभागा सहितां रज्जुंत्रेधाविभज्य तृतीयांश द्वयेऽपि चिन्हं कृत्वा प्रान्तयोः पाशौ कृत्वा गार्हपत्यमध्यस्थित शङ्कौ आहवीन मध्यस्थित मध्यशङ्कौ च पाशौ दत्वा, गार्हपत्यात्प्रथमचिन्हे दक्षिणास्यां कर्षिते

तत्र चिन्हं कार्यम् (अयं दक्षिणाग्नि कुण्डमध्य:) तच्चिन्हादुत्ता भागे सार्द्धनवाङ् गुल प्रदेशे शङ्कुर्देय:। तत्र पूर्वापरा रज्जुर्देया। शङ्कुसकाशाद्यवाधिकैकोनविंशागुलैर्भ्रमणं कार्य मुत्तार्द्धस्य त्यागस्तेन अर्द्धचन्द्रकारो दक्षिणाग्निखर: सम्पद्यते। आहवनीय मध्यङ्को: सकाशात्पश्चिमस्यां त्र्यरत्निपरिमिते देशे शङ्कुर्देय:। तत्स काशाद्दक्षिणस्यामुत्तरस्यां द्वयरत्निपरिमितेदेशे शङ्कुर्देय:। आहवनीयमध्य शङ्कु सकाशात्सार्द्धरत्नि परिमितेदेशे दक्षिणत उत्तरश्च शङ्कुर्देय: चतुर्षुकोणस्थ शङ्कुषु सूत्रार्पणाद्विषम चतुरस्त्रावेदि: सिद्धयति। तत: प्राचीशङ्कुमारभ्यपश्चिमशङ् कुपर्यन्तं कोणद्वयवेष्यवेष्टनेन सूत्रं प्रदाय तस्यार्द्ध कर्त्तव्यम्। अर्द्धपरिमितेन सूत्रेण प्राचीशङ् कुमारभ्याग्नेयस्थशङ् कुवेष्टनेन दक्षिणत:, एवमीशान कोणस्थशङ्कुवेष्टनेनोत्तरश्च शङ्कु: पृथक पुथक् देय:। इदमेवसङ् ग्रहमध्यम्। ताभ्यां शङ्कुभ्यां दलीभूतरज्जुचतुर्थांशेन वेदिमध्ये सङ्ग्रहौ (अर्द्धचन्द्रकारौ) कार्यौ। तत्पश्चद्द्वादशाङ्गुलमवशिष्टाभूमि: श्रोणिरित्यभिधीयते। पुरस्तादाहवनीयं यावदंस इत्यभिधीयते। तत आहवनीय मध्यात्प्रथमचिन्हे उत्तरस्यां कर्षिते तत्र चिन्हं कार्यम्। (अयमुत्कर मध्य:)। तच्चिन्हात् त्र्यङ् गुलकर्कटक भ्रामणेन वृत्तमुत्कर: कार्य:। अयं च द्व्यङ् गुलखातो भवति। तत अग्निकोणादारभ्य ईशान कोणपर्यन्तं वेद्यां संयोज्य (मिश्रयित्वा सार्द्धत्रिहस्ता वेदि: सम्पादनीया। सङ्ग्रहौ वर्जयित्वा वेद्यां सर्वत्र त्र्यङ्गुल: खातो विधेय:। कुण्डेषु मेखलाद्वाशाङ् दशाङ्गुलोच्चा चतुरङ् गुलविस्तार एकैव भवतीति।[1]

---

[1] श्रौतपदार्थ निर्वचने, पृष्ठ 2 टिप्पण्याम्

चातुर्मास्य की प्रकृतियज्ञ (दर्शपूर्णमास) की वेदि
पूर्व
आ
उ॰अं
द॰अं
ब्र
अ
य
आं
उ
उत्तर
हो
दक्षिण
द॰
उ॰श्रो॰
द॰श्रो॰
गा
प॰
पश्चिम
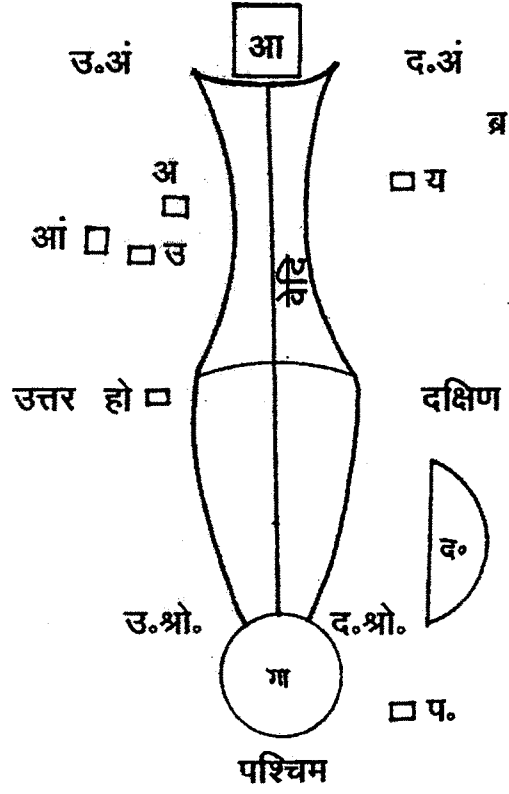
वेद्यां सर्वः

एकादशप्रक्रमे षड्धापक्षः

तत्र वेदिस्वरूपम्
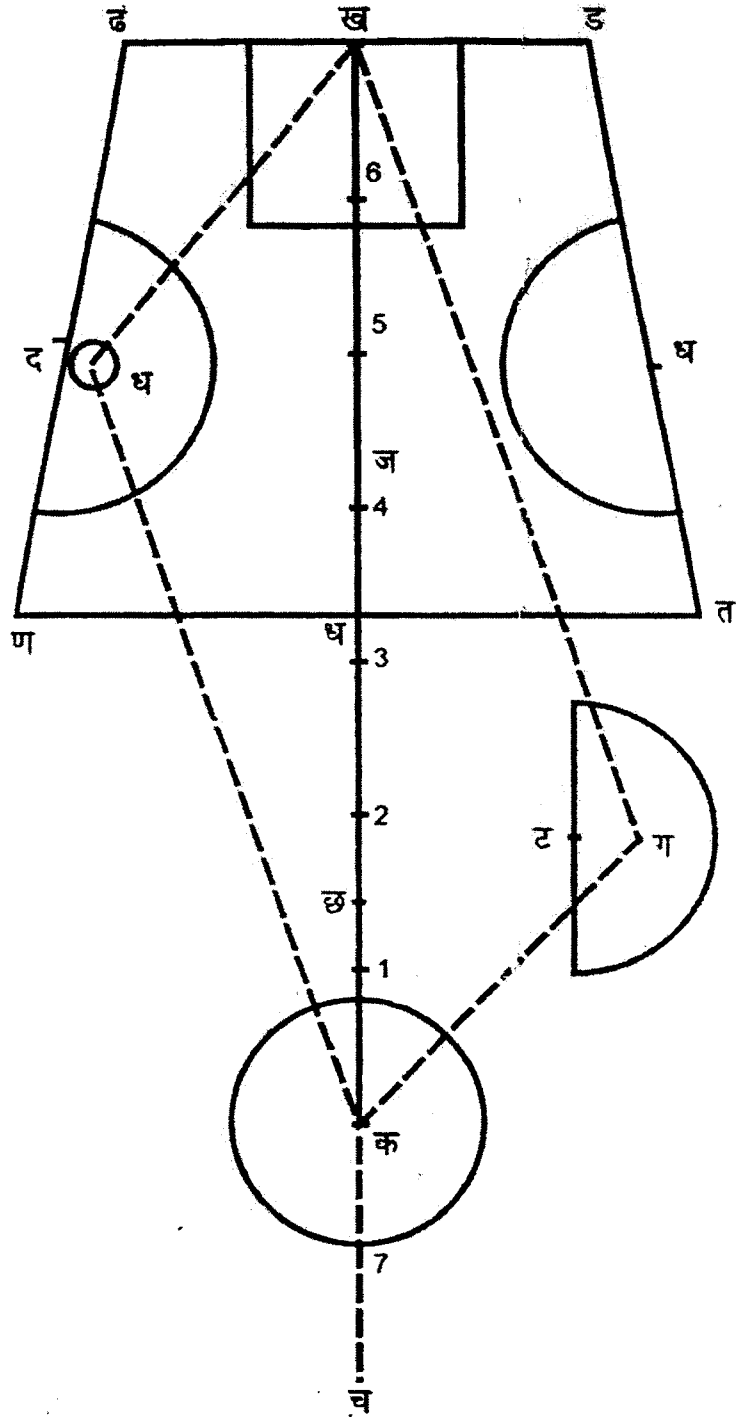
वेद्यां सर्व:
अष्टप्रक्रमे षड्धापक्षे वेदिरचना
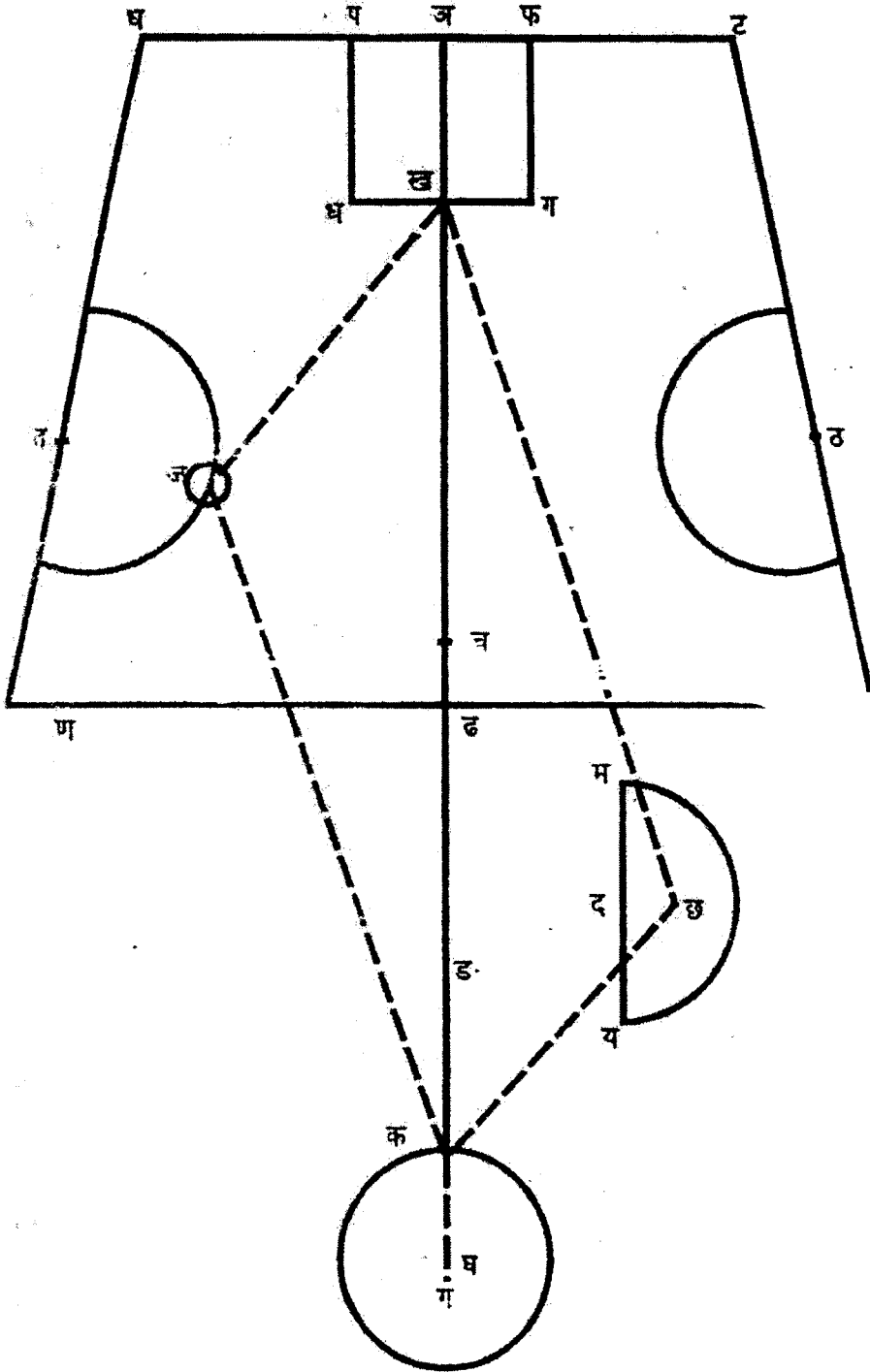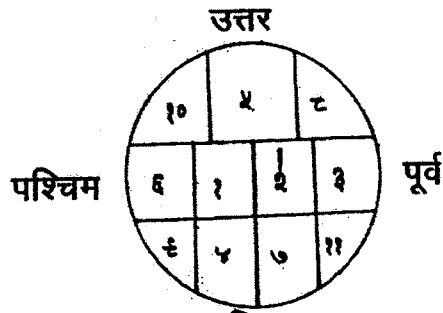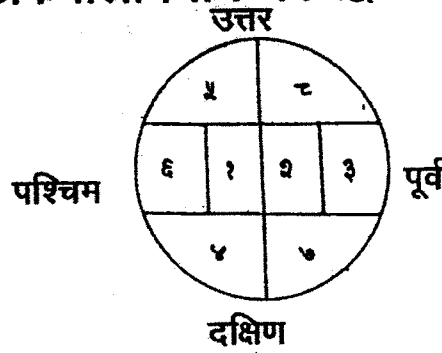
कात्यायनीय शुल्वपरिशिष्टोक्त दर्शवेदिविवरणम्

गार्हपत्यमध्यादहावनीयस्य मध्यपर्यन्तं मध्येऽन्तरमष्टौ एकादश, द्वादश वा पदानि। गार्हपत्यस्यमध्यत्वेन कल्पितं स्थानं केन्द्रं परिकल्प्य सार्द्ध त्र्योशाङ्गुलिमितरज्जवा वृत्तं कार्यम्। इदं गार्हपत्याग्ने: स्थानम्। आहवनीयस्थानमायामतो विस्तारत श्च हस्तमितम्। गार्हपत्याहवनीयान्तरस्य द्वादशपदपरिमितत्वपक्षे तदन्तरस्य षड्ढस्तात्मकत्वात् षड्ढस्तां रज्जुंतदीय षष्टभागेन हस्तात्मकेन संयोज्य, अर्थात् सप्तहस्तां रज्जुं, गृहीत्वा, तस्या अन्तयो: पाशौ कृत्वा, मध्ये च तृतीये भागे चिन्हं कृत्वा एकं पाशं गार्हपत्यमध्यशङ्कौ आसन्ज्य द्वितीयपाशमाहवनीयं मध्यशङ्कौ आसन्जयेत्। रज्जुमध्यवर्तिनोर्द्वयोर्शिचन्हयो: पश्चिमचिन्हस्थाने रज्जुंगृहीत्वा दक्षिणत आकर्षयेत्, यत्र तच्चिन्हं पतति तत्र चिन्हं कृत्वा तस्मात्स्थानात् उत्तरत: सार्द्धनवाङ्गुलव्यवहित देशे शङ्कुर्देय:। शङ्कुस्थानं केन्द्रत्वेन परिकल्प्य यवाधिकोनविंशत्यङ्गुलव्यवहित गुलमितरज्ज्वा वृत्तं कार्यत्। वृत्तमध्ये केन्द्रसंलग्ना

परिधिपुर्वभागमादाय परिधिपश्चिमं यावत् सरलरेखा कार्या। रेखात उत्तर भागस्य त्यागः कार्यः। वृतस्य दक्षिणार्ध दक्षिणाग्निस्थानम्। पूर्वोक्तयोश्चिन्हयोः पूर्वचिन्हस्थाने रज्जुं गृहीत्वा उत्तरत आकर्षणे यत्र चिन्हं पतति तदुत्करस्थानम्। आहवनीयमध्यशङ्कुसकाशात् पश्चिमतस्त्रत्लिव्यवहिते देशे शङ्कुर्देयः। चतुर्षु कोणस्थशङ्कुपर्यन्तं कोणद्वयवेष्टनेन सूत्रं देयम्। तत्सूत्राध्चतुर्थांशेन वेदिमध्ये सङ्ग्रहौ कार्यौ। द्वादशाङ् गुलं पदम्। अष्टयवमङ्गुलम्। चतुर्विशत्यङ्गुलो हस्तः। इति वेद्यादिसाधन प्रकारः[1]

III. दर्शपौर्णमास विहार निर्माण प्रकार

(क) अग्निस्थान निरूपण

जहाँ वेदिनिर्माण करना है, वहाँ दिशा निर्धारण के पश्चात्, पश्चिम दिशा में (साढ़े तेरह) 13-1/2 अंगुल के एक रस्सी से वृत्तनिर्माण करे। यह गार्हपत्पय का स्थान है। गार्हपत्य के केन्द्र बिन्दु से ग्यारह/बारह प्रक्रम नाप कर शंकु गाडे या चिन्ह करे।

अष्ट प्रक्रम से वेदी बनाना हो तो, गार्हपत्य के केन्द्र बिन्दु न नाप कर, उसकी सीधाई में पूर्वपरिधि पर बिन्दु देकर, आहवनीय के पश्चिम परिधि तक अष्टप्रक्रम मापना होगा, अन्यथा दक्षिणाग्नि विहरण के समय दक्षिणाग्नि वेदि के अन्दर पड जायेगी।

द्वादश प्रक्रम पक्ष को लेकर अग्नि स्थान निरूपण

गार्हपत्य के अभीष्ट शङ्कु से द्वादशप्रक्रम पूर्व को नाप कर आहवनीय का शङ्कु गाड दे। गार्हपत्य आहवनीय अन्तर्वर्ति रस्सी को छः भाग करने पर एक-एक भाग एक हाथ का होगा। उस छः हाथ की रस्सी के साथ एक हाथ रस्सी और बढ़ा कर सात हाथ वाला रस्सी बनावे। उसको तीन भाग करे। तीन भाग को भी समान दो भाग करे। इस प्रकार 7 हाथ वाली रस्सी में 6 चिन्हं सम्पन्न हुआ। रस्सी के दोनों छोर में पाश लगा कर आहवनीय और गार्हपत्य के अभीष्ट शङ्कु में फंसा कर (गार्हपत्य की ओर) तृतीय भाग के चिन्ह को पकड़ कर दक्षिण तरफ खींचे, जहाँ चिन्ह स्पर्श करे वहाँ शङ्कु गाड दे। वह दक्षिणाग्नि का केन्द्र

---

1 का०श्रौ०सू० 2.6.1 टिप्पण्याम्

बिन्दु है। फिर आहवनीय के ओर जो त्रिभाग वाला प्रथम चिन्ह उसको पकड़ कर उत्तर की ओर खींचे। जहाँ स्पर्श करे वहाँ वह शंकु गाड दे। वह उत्कर का स्थान है।

(ख) वेदिनिर्माण

गार्हपत्य का केन्द्र शङ्कु हमेशा गार्हपत्य का केन्द्र बिन्दु होगा। परन्तु आहवनीय शङ्कु आहवनीय का तीन स्वरूप निरूपक है। वह है – वेद्यां सर्वः, वहिः सर्वः, बहिरन्तश्च भागतः।

अगर आहवनीय शङ्कु को आहवनीय का केन्द्र बिन्दु मान कर वेदिनिर्माण करते हैं तो आहवनीय का आधा वेदि के अन्दर और आधा वेदि के बाहर पड़ जाता है। अगर आहवनीय शङ्कु को आहवनीय के पूर्व सीमा सूचक मानते हुए वेदि विहरण किया जाता है तो वेदि के अन्दर पूरा आहवनीय नजर आ जाता है।

अगर आहवनीय खर शंकु उसके परिचम शङ्कु माना जाता है तो वेदि से बाहर आहवनीय अग्नि पड़ जायेगा।

आहवनीय शङ्कु को खर के आदि मध्य, अन्त तीन स्थान मानने पर सारा वेदि से बाहर आधावेदि में आधा बाहर, सारा वेदि के अन्दर पक्ष को मान कर वेदि संरचना प्रस्तुत करते हैं।

गार्हपत्य केन्द्र बिन्दु से 12 प्रक्रम दूरी पर गाडा गया शङ्कु आहवनीय का पूर्वी शङ्कु माना गया। उस शङ्कु को केन्द्र मान कर वेदि संरचना करनी है। तदर्थ आहवनीय पूर्वी शङ्कु से पश्चिम की तरफ सीधे तीन अरत्नि नाप कर वहाँ एक शङ्कु गाड़ें। वहाँ से दो अरत्नि उत्तर एवं दो अरत्नि दक्षिण नाप कर शङ्कु गाडें। आहवनीय पूर्वी शङ्कु से डेढ अरत्नि उत्तर एवं डेढ अरत्नि दक्षिण दूरी पर दो शङ्कु गाडें। इस प्रकार चार कोनों पर चार शङ्कु गाड दिया गया। उनको रेखा से जोड़ देने पर एक विषमचतुरस्र बन जाता है। इससे वेदि की बाह्य सीमा निश्चित हुई।

(ग) संग्रह निर्माण

आहवनीय के पूर्वी मध्य शङ्कुं से वेदि पृष्ठ्या रेखा (रस्सी) के पश्चिम शङ्कुं पर्यन्त (कोण द्वय वेष्टन पूर्वक) दक्षिणावर्त से रस्सी को फैलावे। उसको आधा करके दक्षिण एवं उत्तर फैलावे। स्पर्श करे वहाँ चिन्ह करे। दोनों संग्रहों के दो केन्द्र बिन्दु निष्पन्न हुए। अर्धभाग के चतुर्थांश से केन्द्र बिन्दु से अर्ध भ्रामण करने पर संग्रह दो निष्पन्न होते हैं।

(घ) खरनिर्माण

सबसे पहले गार्हपत्य खर निर्माण - (वृत्ताकार गार्हपत्य)

गार्हपत्य केन्द्र बिन्दु से साढ़े तेरह अंगुल रस्सी से एक वृत्त निर्माण करने से सत्ताईस अंगुल का एक वृत्त निष्पन्न हुआ। अन्दर 27 अंगुल का हिस्सा छोड़ कर वृत्त परिधि से सटा कर चार अंगुल मोटा 24 अंगुल ऊँचा परिधि चार ओर से निर्माण करे। इससे गार्हपत्यकुण्ड निर्मित हुआ। सभी अग्निओं में खर प्रमाण के बाहर चार अंगुल मोटा 24 अंगुल ऊँचाई का परिधि लगाना है। जिस का जो स्वरूप वैसे।

आहवनीय-चतुरस्राकार (वर्गक्षेत्र)

पूर्वी शङ्कु से 12 अंगुल उत्तर, 12 दक्षिण नापकर, फिर उत्तर और दक्षिण शंकु से पश्चिम की ओर एक-एक हाथ (24 अंगुल) नाप पर चिन्ह करे, उत्पन्न चार शंकुओं को रेखा पात से जोड़े। इससे चारों ओर सव 24 अंगुल प्रमाणवाला आहवनीय खर मान सम्पन्न हुआ।

दक्षिणाग्नि-अर्धचन्द्राकार

दक्षिणाग्नि के केन्द्र बिन्दु से उत्तर साढ़े नौ अंगुल दूरी पर (सीधाई में) एक शंकु दें। उस बिन्दु से पूर्व-पश्चिम (साढ़े नौ अंगुल) 9,1/2 अंगुल की रेखा बनावें। तथा केन्द्र बिन्दु से उस प्रमाण से ही वृत्त बनावें। इससे 28 अंगुल का वृत्त बना एवं मध्य रेखा से विभाजित भी हुआ। वृत्त का उत्तर भाग त्याग करने से दक्षिणाग्नि खर निष्पन्न हुआ। परिधि निर्माण पूर्ववत् करें।

उत्कर - इसका स्थान निरूपण पहले से कर दिया गया है। केन्द्र बिन्दु से तीन अंगुल रस्सी लेकर वृत्त बनाना होगा। यह वृत्त छः अंगुल का निष्पन्न हुआ। इस वृत को अंगुल गढ्ढा बनाया जाता है। इस प्रकार उत्कर का स्वरूप निष्पन्न हुआ।

IV. राजसूय महायज्ञ के यज्ञीय उपकरण (चित्र एवं विवरण)

इस महायज्ञ के प्रमुख नानावधि उपकरणों का वर्णन इस प्रकार है -
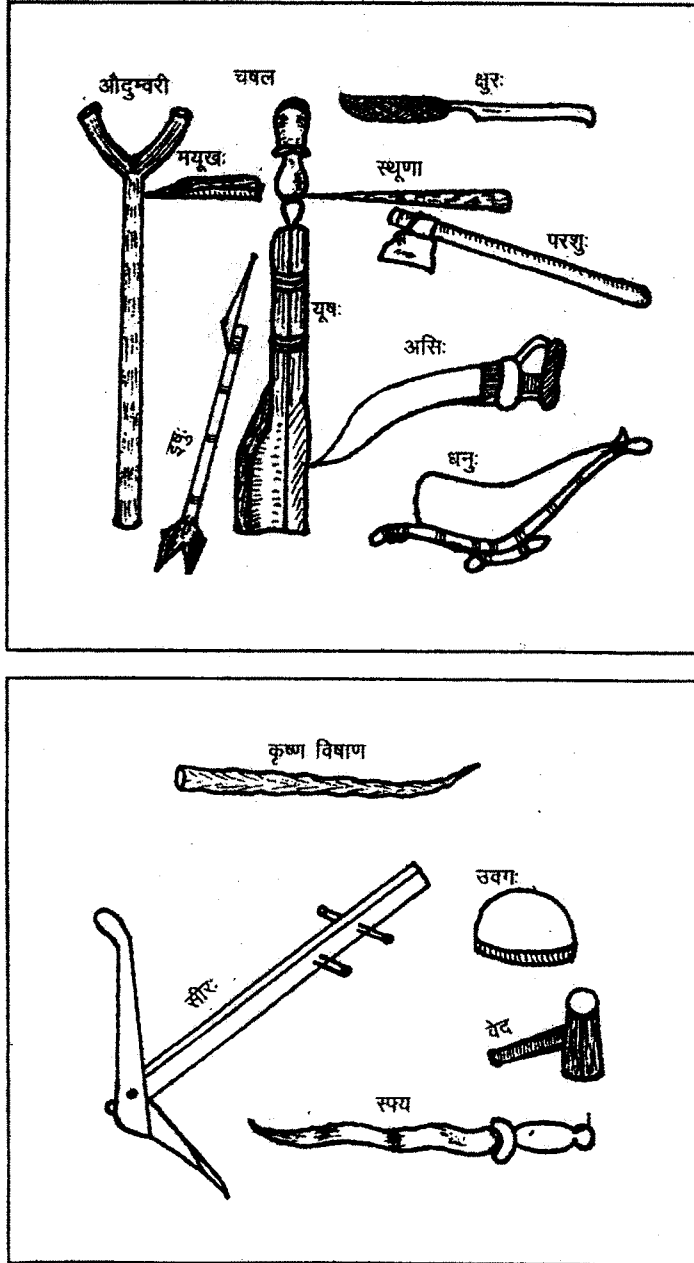
शूर्प
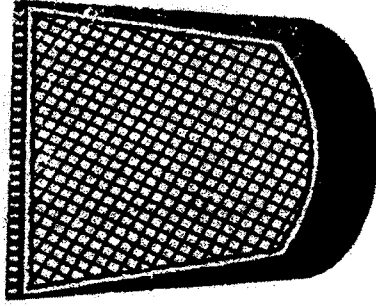
कृष्णाजिन
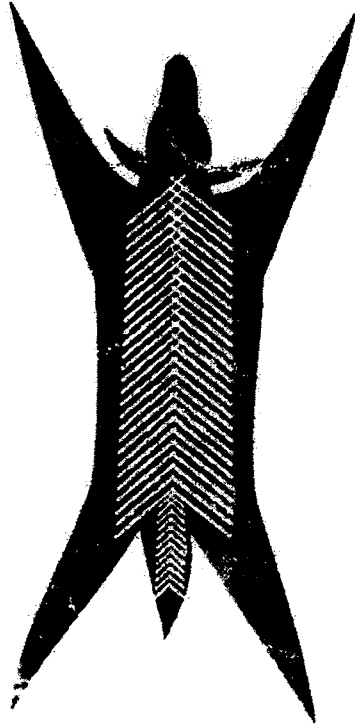
दृषद्
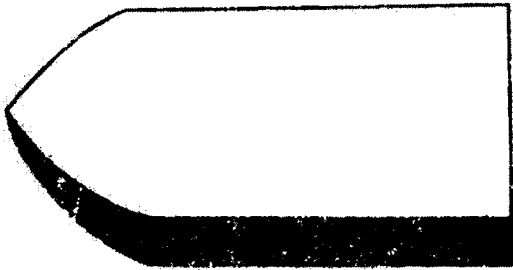
उपल
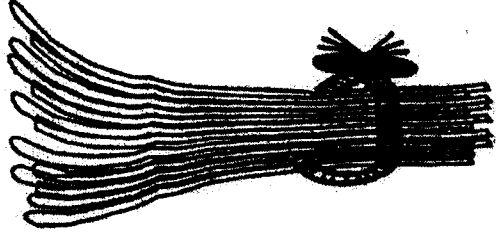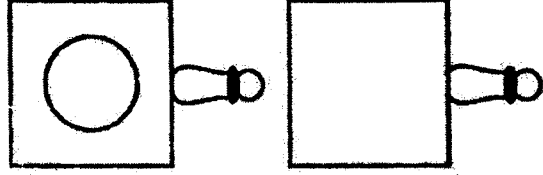
बर्हि
प्राशित्रहरण
पुरोडाशपात्री
षडवत्त
प्रणीता
होतृसदन
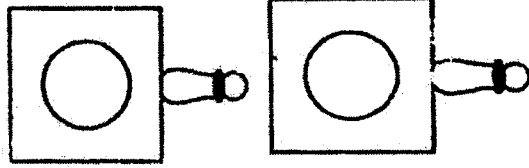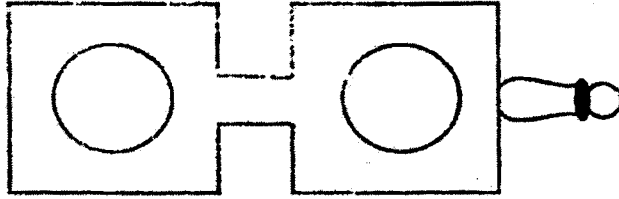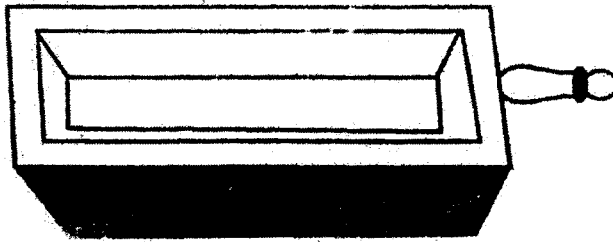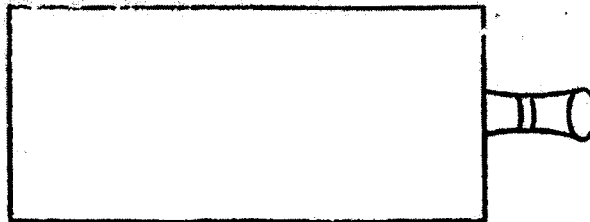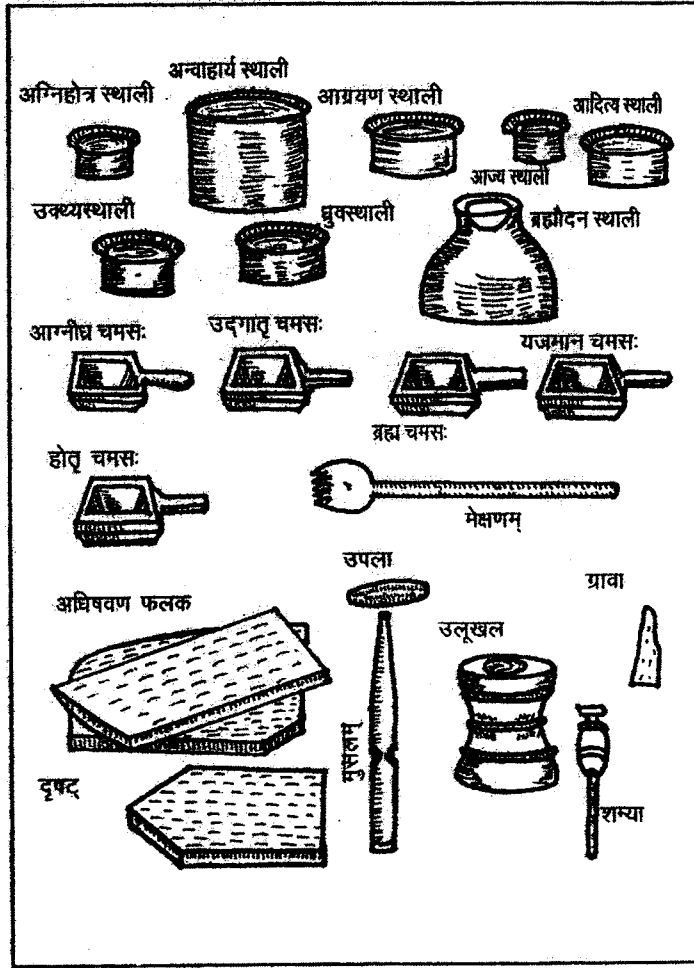
1. **जुहू** - यह पलाश वृक्ष की होती है। इसका अग्रभाव हथेली के बराबर चौड़ा, 6 अङ्गुल खोदा हुआ, और पीछे दण्डाकार होता है। इसकी पूरी लम्बाई बाहुमात्र होती है। इसका आकार चम्मच जैसा होता है। इससे यज्ञों में आहुति दी जाती है। इसे यज्ञ का दाहिना हाथ, यजमान का प्रतीक माना गया है। यह खादिर की लकड़ी से भी बनता है।

2. **उपभृत** - यह (अश्वत्थ) पीपल के वृक्ष का होता है। इसका आकार जुहू के समान होता है। इसे यज्ञ का बाँया हाथ भी कहा जाता है। इसकी उपमा अन्तरिक्ष लोक से दी जाती है। इसकी लम्बाई बाहुमात्र या 24 अंगुल होती है।

3. **ध्रुवा** - यह विकंकत वृक्ष की होती है। इससे यज्ञों में आहुति दी जाती है। इससे विशेषतः घृत को हवि रूप में ग्रहण किया जाता है। ध्रुवा के हृदय के ऊपर धारण करना चाहिए। इसकी लम्बाई 24 अङ्गुल होती है।

4. **अग्निहोत्रहवणी** – यह भी विकङ्कत वृक्ष की होती है। इससे अग्निहोत्र किया जाता है – **'अग्निहोत्र हूयतेऽनयेति'** इसका मुख वृत्ताकार होता है। हाथ से पकड़ने के लिए इसके एक ओर हत्था लगा होता है। इस पात्र से प्रातः होम में दूध की आहुति दी जाती है।

5. **स्रुव** – यह खदिर (खैर) वृक्ष का होता है। इसे लोकभाषा में स्रुवा कहते हैं। यह उदुम्बर, पलाश और विकङ्कत लकड़ियों से भी निर्मित होता है। यह अंगूठे के पौर के आकार में खुदा हुआ अरत्नि (22 अंगुल) प्रमाण लम्बा गोल दण्डेवाला होता है।

6. **कूर्च** – यह वरण का होता है। यह अग्निहोत्रहवणी के नीचे रखा जाता है।

7. **स्फ्य (वज्र)** – यह खदिर वृक्ष का होता है। कृपाण की आकृतिवाला अरत्नि प्रमाण का होता है।

8. **उलूखल-मुसल** – ये पालाश वृक्ष के होते हैं। उलूखल बैठे हुए व्यक्ति के नाभिपर्यन्त ऊँचा तथा मूसल शिरपर्यन्त ऊँचा होता है। इनका प्रयोग व्रीहि, जौ आदि कूटने में होता है।

9. **शूर्प (सूप)** – यह बाँस की पतली सींक का अथवा सरकण्डे का बना होता है। इसमें चर्म व नाड़ का प्रयोग वर्जित है। यह हवियों को साफ करने के लिए होता है।

10. **कृष्णाजिन** – यह काले मृग का अखण्डित चर्म होना चाहिए। अखण्डित कहने का तात्पर्य है – गोली या बाण से मारे गये मृग का चर्म नहीं होना चाहिए। ऊखल के नीचे बिछाने के लिए होता है, जिससे व्रीहि या जौ कूटते हुए उछल कर गिरने वाले दाने भूमि पर न गिरे।

11. **दृषद-उपल** – यह सुदृढ़ पत्थर के होने चाहिए व्रीहि वा जो के पीसने पर पत्थर घिस कर न उतरे। इसका प्रमाण 12 अंगुल चौड़ा 18 अंगुल लम्बा होना चाहिए। उपल यज्ञीय पात्र है, जिससे सोम पौधों का रस निचोड़ा जाता है। उपल का परिणाम 6 अंगुल होना चाहिए।

12. **इडापात्री** - यह वरण वृक्ष की होती है। इसमें दधि, मधु एवं घृतादि हवियाँ रखी जाती हैं। यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए हवियों से पूर्ण पात्री को यजमान अपने उदर पर धारण करता है। यह मिट्टी से बनता है। यह एक हाथ (24 अंगुल) अथवा अरत्नि (22 अंगुल) लम्बी 4 अंगुल ऊँची बीच में सुकड़ी, मध्य में खुदी होनी चाहिए। पकड़ने के लिए चार अंगुल का दण्डा होना चाहिए।

13. **आसन** - ब्रह्मा, अध्वर्यु, यजमान, यजमान पत्नी, होता आदि के लिए कुशा से निर्मित आसन होता है। यह 22 अंगुल लम्बा व चौड़ा होता है।

14. **योक्त्र** - योक्त्र यह मूंज की तीन लड़ी बटी हुई लम्बी रस्सी होती है। यह यज्ञ कर्म में यजमान पत्नी के कटिप्रदेश में बांधने के लिए होती है। इसकी लम्बाई चार हाथ होती है।

15. **पुरोडाश पात्री** - पुरोडाश रोटी का द्योतक है। पुरोडाश का प्रयोग प्रायः सभी यज्ञों में होता है। दर्शपूर्णमास में दो-दो पुरोडाश होते हैं। इनके लिए पृथक्-पृथक् दो पुरोडाशपात्री होती है। यह 9 अंगुल लम्बी, 8 अंगुल चौड़ी मध्य में 6 अंगुल खुदी हुई होती है।

16. **शृतावदान** - यह 9 अंगुल लम्बा दो अंगुल फैला हुआ, इसका अग्र भाग तीखा होता है। यह घरों में प्रयुक्त पलटे जैसा होता है। यह पके हुए पुरोडाश आदि के विभाजन के लिए होता है।

17. **प्राशित्रहरण (दो)** - ये चौकोर या गोल या गौ के कान के समान आकृति वाले, मध्य में थोड़े खोदे हुए होते हैं। यज्ञों में पुरोडाश आदि में से काटकर निकाला हुआ वह छोटा भाग जो ब्रह्मादेश्य से अलग करके प्रातिशत्रहरण नामक यज्ञपात्र में रखा जाता है।

18. **रज्जु** - यह मूंज की होती है, समिधा आदि के बांधने के लिए इनका प्रयोग होता है।

19. **शंकु** - खैर की लकड़ी से निर्मित अग्रभाग से तीखे होते हैं। यह वेदि निर्माण के लिए स्थान नापने के काम में आते हैं। इनकी आवश्यकताओं के अनुसार संख्या होती है। ये 12 अंगुल लम्बे, माथे पर 4 अंगुल चौड़े होते हैं।

20. **पूर्णपात्र (दो)** - यजमान और यजमान पत्नी के लिए होते हैं। ये प्रायः सभी यज्ञों में प्रयुक्त होते हैं। इसमें रखा हुआ जल यज्ञीय विघ्नों को शान्त करता है तथा यजमान के शत्रुओं का विनाश करता है। ये 12 अंगुल लम्बे, 4 अंगुल चौड़े व 4 अंगुल गहरे खुदे हुए होते हैं।

21. **आज्यस्थाली** - घृत (आज्य) रखने के लिए। यह 12 अंगुल चौड़ा (गोल) 9 अंगुल ऊँचा होता है।

22. **चरुस्थाली** - चरु अर्थात् (बिना मांड निकाले चावल) के पकाने के लिए होता है। यह 12 अंगुल चौड़ा, 9 अंगुल ऊँचा होता है।

23. **अन्वाहार्यपात्र** - चार पुरुषों के खाने योग्य चावल पकाने के लिए इसका प्रयोग होता है।

24. **आरणी** - इसके उत्तरारणि तथा अधरारणि दो भेद हैं। ये पीपल की होती हैं। ये दोनों अग्निमन्थन (रगड़ कर आग उत्पन्न करने) के लिए प्रयुक्त होती है।

25. **प्रोक्षणी** - प्रोक्षणी जल सेचन आदि के लिए होती है।

26. **ओवली** - यह अग्निमन्थन के समय उत्तरारणि के ऊपर रख कर इससे दबाया जाता है। यह 12 अंगुल लम्बी होती है। इसके मध्यम में छेद होता है।

27. **इध्म** - पलाश की समिधाएँ, ये अग्नि प्रज्जवलित करने में काम में आती है।

28. **नेत्री (नेत-नेती)** - यह गौ के बालों की तीन लड़वाली रस्सी है। यह चार हाथ लम्बी रस्सी होती है। इसे उत्तराणि में लपेट कर दोनों हाथों से अग्नि-मन्थन के लिए दधिमन्थन की रस्सी के समान खींचते हैं।

29. **मदन्तीपात्र** - मदन्ती उष्ण जल को कहते हैं। व्रीहि या जौ के पीसे हुए आटे को मिलाने के लिए गरम पानी की आवश्यकता होती है, उसी के लिए यह पात्र हैं।

30. **पिष्टलेप-पात्री** - पिष्टलेप पात्री में पिसे हुए आटे को मिलाते समय पात्र में जो अंश लग जाता है, उसे पानी से धोकर रखा जाता है।

31. **शकट** - दर्शपूर्णमासादि यज्ञों में उपयुक्त होने वाले हवि द्रव्य को ग्रहण करने के लिए यज्ञशाला के समीप इस गाड़ी में व्रीहि या यव को रखकर लाते हैं।

32. **कपाल** - ये मिट्टी के बने छोटे-छोटे पतले, अग्नि से पके हुए फूटे घड़े की ठीकरियाँ जैसे होते हैं। इन पर पुरोडाश को रखकर पकाया जाता है। दर्शपूर्णमास में 19 कपाल उपलक्षित होते हैं।

33. **कुशा** - वेदि में बिछाने के लिए तथा घृत आदि के शुद्धिकरण के लिए अपेक्षित होती है।

34. **कुम्भी** - यह मिट्टी की पकी हुई हण्डिया है। इस में दूध गरम किया जाता है। इसका परिणाम दूध के परिणाम पर निर्भर होता है।

35. **अग्निहोत्रहवणी** - अग्निहोत्र होम में प्रयुक्त स्रुव् को अग्निहोत्र हवणी शब्द से अभिहित किया जाता है। यह विकंकत काष्ठ से निर्मित हंस के मुख के आकार से दण्डयुक्त होती है। यह प्रादेश मात्र, बाहुमात्र या अरत्निमात्र लम्बी होती है।[1]

36. **अपभृत** - आहुति देने वाले स्रुच् या चमस का उपभृत् कहते हैं। यह अश्वत्थ के काष्ठ से निर्मित, बिलयुक्त, दण्डयुक्त, एक अरत्नि, बाहुमात्रा या एक प्रादेश लम्बी होती है। इसका मुख हथेली की भाँति होता है, किन्तु अग्रभाग हंस के चोंच के समान होता है। अध्वर्यु होम के समय इसे बांये हाथ में जुहू के समीप धारण करता है।[2]

37. **जुहू** - पलाश की लकड़ी से बनायी गयी, बाहु के बराबर लम्बी हंस के जैसे मुखवाली सुव् को जुहू कहते हैं। "हूयते अनया इति जुहू।"[3]

38. **ध्रुवा** - विकंकत काठ की बनी हुई, जुहू के समान आकार की याग की समाप्ति तक वेदि पर रहने वाली ध्रुवा होती है। बराबर बनी रहने के कारण यह ध्रुवा कहलाती है।[4]

---

[1] आप०श्रौ० 6.3.6, श्रौ०प०नि० 6.37, य०त०प०, 34, दर्शपूर्णमास प्रकाश यज्ञायुध, रघुवीर इम्पलीमेण्ट्स एण्ड वेसेल्स यूज्ड इन वैदिक सक्रीफाइल जर्नल आफ दि रायल एशियाटक सोसायटी, ग्रेट ब्रिटेन, आयरलैण्ड, 1924, पृ० 2

[2] तै०सं०, 3.57.2, अथर्व०सं०, 28.45-6 कात्या०श्रौ०, 2.3.36, तै०ब्रा०, 1.3.2.11, श्रौ०प०नि०, 8.47, सत्या०श्रौ०, 1.4.109.

[3] सत्या०श्रौ०, 1.4.109, श्रौ०प०नि०, 8.4.6, तै०सं०, 3.5.7.1, अथर्व०सं०, 1.7.4.5.6, ऋ०सं०, 7.4.4.5.

[4] तै०सं०, 3.5.6.3, श्रौ०प०नि०, 7.42, द्र०प्र० यज्ञायुध, पृ० 3
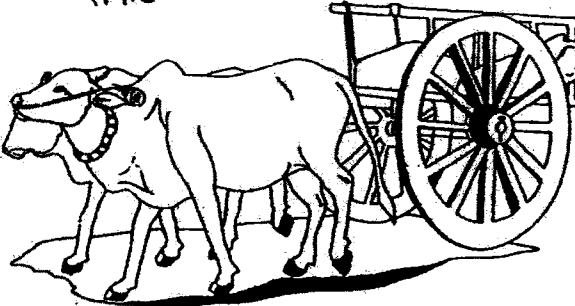
39. **प्रचरणी** - प्रचरणी जुहू के आकार की विंकंकत की लकड़ी से बनी होती है। इसका प्रयोग सोमयागों में आहुति देने के लिए किया जाता है।[1]

40. **वसा होम हवणी** - इससे वसा का हवन किया जाता है।

41. **स्रुवा** - स्रुवा का प्रयोग आज्य ग्रहण करने के लिए किया जाता है। यह एक अरत्नि लम्बी खदिर की लकड़ी की बनी होती है।

[1] श्रौ०प०नि०, 228.121.

स्फ्य
धृष्टि
उपबेष
उलूखल
मुसल
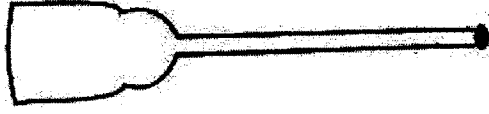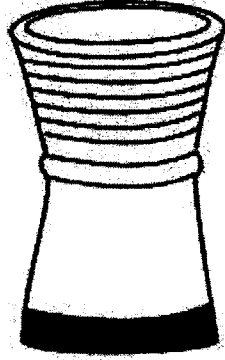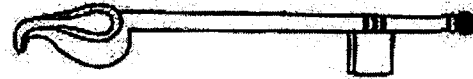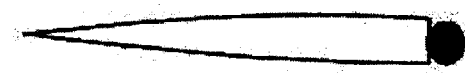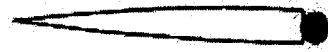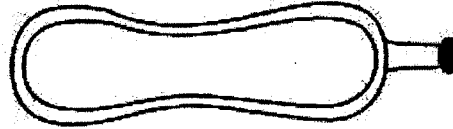
अग्नि से सम्बद्ध

अरणि - यजनीय अग्नि को अग्नि मन्थन से उत्पन्न करने के लिए अश्वत्थ वृक्ष की जिन दो लकड़ियों का प्रयोग किया जाता है, उन्हें अरणि कहते हैं। उनमें से नीचे वाली अधरारणि और ऊपर वाली उत्तरारणि कहलाती हैं।[1]

[1] य०त०प्र०, पृ० 8

उखा - उखा मिट्टी से बनाया गया वह वर्गाकार पात्र, जिसे आग पर चढ़ाकर दूध गरम किया जाता है।[1]

उपवेष - यह पालाश शाखा के मूल भाग का प्रादेश मात्र बनाया जाता है। इसके द्वारा अंगार उलटने का कार्य किया जाता है। इसका दूसरा नाम धृष्टि है।[2]

धवित्र - कृष्ण मृग के चर्म से अग्नि जलाने के लिए बनाये हुए पंखे को धवित्र कहते हैं।

सामान्य पात्र एवं चमस

आधवनीय - निकाले हुए सोम को जिसमें रखा जाता है, उस घड़े को आधवनीय कहा जाता है।[3]

इडा-पात्री - वरने की लकड़ी से बनायी गयी एक अरत्नि लम्बी, दो अंगुल गहरी, किनारों पर दो अंगुल के हत्थेवाली पात्री को इडापात्री कहते हैं।[4]

पिन्वन - प्रवर्ग्य याग में दूध दुहते समय हत्थे सहित प्रयुक्त होने वाला पात्र पिन्वन कहलाता है।

प्रणीता - वरण काष्ठ से निर्मित चमस को प्रणीता कहा जाता है। इसका दण्ड 4 अंगुल, बिल 8 अंगुल तथा यह प्रादेश मात्र होती है। इसका प्रयोग जल ले जाने के लिए होता है।[5]

प्राशित्र हरण - ब्रह्मा के पात्र को प्राशित्रहरण कहते हैं।

प्रोक्षणी - प्रोक्षण निमित्त जल रखने वाले पात्र को प्रोक्षणी कहते हैं।

मदन्ती पात्र - मदन्ती जल रखने वाले चमस को मदन्ती पात्र कहते हैं।

महावीर - प्रवर्ग्य याग में धर्म बनाने वाले पात्र को महावीर कहते हैं।

---

1 सत्या०श्रौ०, 11.1.41-57, कत्या०श्रौ०, 26.3.22-30.

2 सत्या०श्रौ०, 1.3.91, द०प्र० यज्ञा युध पृ० 4, य०त०प्र०, पृ० 35.

3 म०वै०व्या०, सत्या०श्रौ०, 8.1.777, श्रौ०प०नि०, 255.218.

4 म०वै०व्या०, सत्या०श्रौ०, 22.8.11.8, श्रौ०प०नि०, 8.5.1, इ०ए०व०यू इन वै०सै०ज० आफ रा०ए०सौ०, 1934.

5 श्रौ०प०नि० 9.56, वैखा०श्रौ०, 22.8.11.8, कात्या०श्रौ०, 1.3.37

शूर्प - धान की भूसी और चावल अलग करने के लिए प्रयुक्त होने वाले यन्त्र को शूर्प कहते हैं।

स्थाली - स्थालियों का प्रयोग सामग्रियों को पकाने के लिए अथवा पकी हुई सामग्री को रखने के लिए किया जाता है, जो निम्नलिखित हैं -

1. अग्निहोत्र स्थाली, 2. आग्रयण स्थाली, 3. आज्य स्थाली, 4. आदित्य स्थाली, 5. उक्थ्य स्थाली, 6. ध्रुव स्थाली, 7. ब्रह्मौदन स्थाली, 8. चमस

न्योग्रोध या रौहीतक वृक्ष के दण्ड रहित चम्मच को चमस कहा जाता है। वैकल्पिक रूप से चमस दण्डयुक्त भी बनाये जाते हैं[1], जो निम्नलिखित हैं -

1. अच्छावाक-चमस, 2. आग्नीध्र-चमस, 3. उद्‌गातृ-चमस, 4. नेष्ट-चमस, 5. पोतृ-चमस, 6. प्राशास्तृ-चमस, 7. ब्रह्म-चमस, 8. ब्राह्मणशंसी-चमस, 9. यजमान-चमस, 10. होतृ-चमस

पीसने तथा कूटने के सामान्य यन्त्र

उपला - लोढ़ा-छोटा पत्थर, पीसने वाला।

दृषद्-सिल - बड़ा पत्थर, जिस पर रखकर पीसा जाता है।

मूसल - यह धान आदि कूटने का औजार है।

शम्या - चक्की के पाट में लगायी जाने वाली लकड़ी को शम्या कहते हैं।

उलूखल - जिसमें धान आदि कूटा जाता है, उसे उलूखल की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसे ओखली भी कहा जाता है।

स्थिर औजार

चषाल - यूप के सिरे पर रखी जाने वाली काठ की अंगूठी को चषाल कहते हैं।

यूप - यज्ञ में पशु बांधने के लिए प्रयुक्त होने वाला खूंटा 'यूप' कहलाता है।

---

1 सत्या०श्रौ०, 8.1.773

स्थूण - प्रवर्ग्य याग में गाय बांधने के लिए प्रयुक्त होने वाले उदुम्बर की लकड़ी के खूंटे को स्थूण कहते हैं।

पाक क्रिया में सम्बद्ध पात्र

मेक्षण - वारण काष्ठ निर्मित अरत्नि मात्र दर्वी को मेक्षण कहते हैं। इसका प्रयोग आग पर चावल आदि चलाने के लिए किया जाता है।[1]

कपाल - पुरोडाश पकाने के निमित्त प्रयुक्त होने वाला मिट्टी का पात्र 'कपाल' कहलाता है।

वपा-श्रपणी - वपा को पकाने का पात्र वपा श्रपणी कहलाता है।

यातायात सम्बन्धी साधन

1. रथ, 2. शकट (बैलगाड़ी)

तिपाई और आसन

उखा-आसन्दी - उखा रखने का स्टूल।

उपस्तम्भन - गाड़ी को खड़ा करने में प्रयुक्त होने वाली लकड़ी।

कूर्च - सीट की तरह प्रयुक्त होने वाले घास के ढेर को कूर्च कहते हैं।

कृष्णाजिन् - काले मृग का चर्म।

फलक - लकड़ी की छोटी बेन्च।

राजा-आसन्दी - सोम को अधिष्ठित करने का स्टूल।

सम्राड्-आसन्दी - प्रवर्ग्य के धर्मों को रखने का स्टूल सम्राडासन्दी कहलाता है।

सामान्य यन्त्र

अभ्रि - पृथ्वी खोदने का यन्त्र।, **क्षुरा** - दाढ़ी बनाने वाल चाकू।, **पर्शु** - लकड़ी काटने का यन्त्र।

---

1 श्रौ०प०नि०, 9.43, द०प्र० यज्ञायुध, पृ० 3, य०त०प्र०, पृ० 35

लड़ाई के औजार

असि (तलवार), धनुष, इषु (बाण)।

वाद्य यन्त्र

दुन्दुभि, वीणा।

दीक्षा से सम्बद्ध यन्त्र

दीक्षा दण्ड - यजमान को दीक्षा के समय दी जाने वाली उदुम्बर की छड़ी।

कृष्ण-विषाण - दीक्षा के समय को दिया जाने वाला कृष्ण मृग का सींग कृष्ण विषाण कहलाता है।

रहस्यमय यन्त्र

सीर - हल।

* * *

उपसंहार

वैदिक संस्कृति और यज्ञ का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे की सत्ता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के प्रारम्भ से लेकर समस्त वैदिक वाङ्मय यज्ञ की व्याख्या करता हुआ प्रतीत हो रहा है।

यज्ञो वै श्रेष्टत्तमं कर्म।[1] यज्ञो हि श्रेष्ठत्तमं कर्म।[2]
यज्ञो वै भुवनेषु ज्येष्टः।[3] यज्ञेन यज्ञमययजन्त देवा।।[4]

इत्यादि सन्दर्भ उपर्युक्त कथन के ही पोषक है। विचारक सुख विशेष को स्वर्ग संज्ञा से अभिहित करते हैं। यह स्वर्ग यज्ञीय कर्मों से प्राप्त किया जा सकता है। फलतः साध्य साधन के भेद को दृष्टि गोचर न रखते हुए यज्ञ को ही स्वर्ग कहा गया है। वैदिक साहित्य के विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि यज्ञ और ब्रह्म का अटूट सम्बन्ध है। यज्ञ के माध्यम से सृष्टि और स्रष्टा के गम्भीर रहस्य को प्रतीकात्मक रूप से प्रकट किया गया है। प्रजापति ने सृष्टि सृजन रूप यज्ञ किया उसमें अग्न्याधान से रेतस्, उससे देव, मनुष्य और असुर आदि की उत्पत्ति हुई उसी से चातुर्मास्य आदि पर्वों से युक्त संवत्सर की उत्पत्ति हुई उसी से ऋतु, दिक् और काल की उत्पत्ति हुई। अन्यत्र पुरुष को यज्ञ का प्रतीक मानकर कहा गया है कि पुरुष ही यज्ञ है। हविर्धान उसका सिर है। आहवनीय मुख है। अन्न उदर है। उक्थ्य बाहु है। मार्जालीय अग्नीध्र है। अन्तः सदस् प्रतिष्ठा है। गार्हपत्य श्रौत है। ब्रह्मा मन है। उद्गाता प्राण है। प्रस्तोता अपान है। प्रतिहर्ता व्यान है। वाक् होता है। अध्वर्यु चक्षु है। प्रजापति सदस्य है। यजमान आत्मा है इत्यादि।[5] इस विवेचन से स्पष्ट है कि संसार में

---

1 शतपथ ब्राह्मण, 1.7.1.5

2 तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3.2.1.4

3 कौषीतकि ब्राह्मण, 25.11

4 ऋग्वेद, 10.90.16

5 कौषीतकि ब्राह्मण, 17.7

भूयमान, आवर्तन, प्रत्यावर्तन का यज्ञिय क्रियाओं से घनिष्ट सम्बन्ध है। जिनका विवेचन वैदिक साहित्य में गूढ़ प्रतिमानों के माध्यम से किया गया है।

वैदिक काल में समस्त विधि विधानों का आयोजन यज्ञों के माध्यम से किया जाता था। व्यक्तिगत दिनचर्या से लेकर सामाजिक जीवन में यज्ञ अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार्य थे। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि क्रिया तक यज्ञों की अनिवार्यता का विधान कल्प साहित्य में विहित है। सामाजिक क्रिया-कलाप में भी यज्ञ अनिवार्य रूप से समाहित थे। राजाओं के चयन की प्रक्रिया भी इससे अछूती नहीं थी।

वैदिक काल में राजा के चयन के बाद जब उसे प्रथम बार सिंहासन पर बैठाया जाता था तब राजसूय यज्ञ किया जाता था। इस यज्ञ के अवसर पर विभिन्न स्थानों से जल लाकर उसमें विभिन्न यज्ञीय पदार्थ मिलाकर समारोह पूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान करके राजा को स्नान कराया जाता था। इसी विधि का नाम राज्याभिषेक था। राजसूय यज्ञ क्षत्रिय राजाओं द्वारा किया जाता था।

सर्वं परिगृह्य सूया इति।[1]

अर्थात् राजा को समस्त जगत् को अपने वश में करने के बाद इस यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए।

राजा सूयतेऽभिषिच्यतेऽस्मिन्कर्मणि इति राजसूयः[2]

अर्थात् इस यज्ञ का राजा के अभिषेक किया जाता है, इसी कारण इस यज्ञ का नाम राजसूय है। राजसूय यज्ञ करने के बाद ही राजा का पद मिलता था। यह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था थी।[3] राजसूय यज्ञ में की जाने वाली समस्त विधियों का निहितार्थ राज्य प्राप्ति के उद्देश्य में समाहित होता है।

---

1 शतपथ ब्राह्मण, 5.2.3.1

2 तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3.2.1.4

3 (क) स राजसूयेनेष्ट्वा राजेति नामधत.....। गोपथ ब्राह्मण पूर्वः 5.8
(ख) राजाक वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति। शतपथ ब्राह्मण, 5.1.1.13
(ग) राज्ञो राजसूयः। कात्यायन श्रौतसूत्र, 15.1.1

वैदिक साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि प्रारम्भ में राजसूय यज्ञ की विधि सरल थी। परन्तु बाद में इसकी विधि जटिल से जटिलतम होती गई। इसके परिणाम स्वरूप आने वाले समय में समाज को इन जटिल याज्ञिक विधानों से वितृष्णा होने लगी। वर्तमान में इन विधियों का नाम लेने वाला भी कोई नहीं रहा, मात्र ये विधियाँ पुस्तक की ही शोभा रह गई। जटिलताओं के साथ-साथ इनमें कुछ ऐसे कृत्यों का समावेश भी बाद के व्याख्याकारों ने किया जिसको वाम मार्ग ही उचित मान सकता है, अन्य नहीं। पुनरपि राज्याभिषेक की यह परम्परा महत्त्वहीन नहीं हो जाती है। परवर्त्ती काल में वैदिक युग की इस परम्परा का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ा और जैसे गंगोत्री से निकलने वाली निर्मल सलिला गंगा समुद्र में मिलने तक इतनी परिवर्तित और विकृत हो जाती है कि उसके रूप में पहचाना नहीं जा सकता। इसी प्रकार राजसूय यज्ञ की परम्परा भी इसका अपवाद नहीं है।

प्रस्तुत शोध के माध्यम से राजसूय यज्ञ के मूल स्वरूप के साथ साथ इसके विकास की परम्परा का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया है। जिसमें काल क्रम के अनुसार संहिताओं से लेकर महाभारत काल तक इसके स्वरूप में कब, कैसे और कितना परिवर्तन हुआ? इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही इस यज्ञ से सम्बन्धित विविध राजाओं के इतिहास पर भी प्रकाश डाला गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों एवं बाद के साहित्य में ऐसे अनेक राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने राजसूय यज्ञ किया था। जैसे महाभारत में वर्णित युधिष्ठर द्वारा किया गया राजसूय यज्ञ तथा शिलालेखों में वर्णित समुद्रगुप्त आदि मध्यकालीन राजाओं द्वारा किये गये राजसूय यज्ञ। उनका विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि से शोध कार्य में उपयोगी है किन्तु विस्तार भय से अधिक विस्तार नहीं दिया गया।

* * *

परिशिष्ट–1

पारिभाषिक शब्दकोष

अध्वर्यु : यजुर्वेद के ऋत्विज् को अध्वर्यु कहते हैं। यह होता, उदगाता और ब्रह्मा से भिन्न होता है।

अधिश्रपण : दूध, मक्खन अथवा चावल को अग्नि पर पकाने अथवा उबालने को अधिश्रपण कहते हैं।

अनुप्रहरण : किसी वस्तु को अग्नि में निक्षिप्त करना ही अनुप्रहरण है।

अनुयाज : यह प्रधान याग के अनन्तर किया जाने वाला याग है। यह याग अग्नि देवता से सम्बद्ध है।[1] ऐतरये ब्राह्म में एकादश देव विशेषों णको अनुयाज कहा गया है। प्रयाज शब्द यज्ञ के प्रथम अंग को सूचित करता है तथा अनुयाज शब्द शेष अंग को, किन्तु परिशिष्ट अंग के लिए उपयाज शब्द प्रयुक्त होता है।

अनुवाक्या : होता एवं मैत्रावरुण नामक ऋत्विज् द्वारा देवताओं को याग में भाग ग्रहण करने के लिए आह्वान करते समय पढ़ा जाने वाला मन्त्र अनुवाक्या मन्त्र कहलाता है।

अन्वारम्भण : पीछे से स्पर्श करने की क्रिया को अन्वारम्भण कहते हैं।

अन्वाहार्य : जिससे यज्ञ सम्बन्धी दोष–समूह का परिहार होता है, वह अन्वाहार्य है। (अन्वाहरति यज्ञसम्बन्धिदोषजातं परिहरति अनेन इति) अन्वाहार्य एक विशिष्ट प्रकार का ओदन है, जो ऋत्विजों के प्राशनार्थ पकाया जाता है। इसका प्रयोग दर्शपूर्णमासेसेष्टि की दक्षिणा के रूप में भी होता है।

---

1 ऐ०ब्रा० 2/18

अभिधारण : हवन हेतु ली गयी हवि का घृत से प्रोक्षण करना अभिधारण कहलाता है।

अभिधानी : अश्व की रशना को अभिधानी कहते हैं।

अभिमन्त्रण : मन्त्र द्वारा यज्ञिय प्रयोग हेतु किसी वस्तु को पवित्र करने को अभिमन्त्रण कहते हैं।

अभिमर्शण : किसी वस्तु को स्पर्श करना अभिमर्शण कहलाता है।

अवदान : आहुति देने के लिए हवि से काटे गये भाग को अवदान की संज्ञा प्राप्त है।

अवभृथ : याज्ञिक प्रकरण में किया जाने वाला स्नान अवभृथ कहलाता है। यह प्रायः यज्ञ की समाप्ति पर किया जाता है। इसके साथ ही कुछ आहुतियां भी दी जाती हैं।

आघार : अग्नि के किसी एक ओर से लेकर दूसरी ओर तक मन्त्र के साथ अथवा विना मन्त्र के आज्य धारा का आहरण अथवा डालना आघार कहलाता है।

आज्य भाग : आघार आहुति देने के बाद अग्नि के उत्तरी भाग में अग्नि देवता के लिए तथा दक्षिणी भाग में सोम देवता के लिए दी गयी (दोनों) आहुतियां 'आज्य भाग' कहलाती हैं।[1] "आघारो आघार्य्य आज्य भागौ जुहुयात् अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा इति।[2] आज्यभागौ इति द्वयोः...।[3]

---

1 द्र०आश्व०गृ०सू० 1.10.13-15

2 स०श्रौ०, 22.20.1

3 तै०सं० 3.6.2.1.

आमिक्षा : गाय के गरम दूध में यदि दही डाल दिया जाय, तो वह दो प्रकार का हो जाता है। 1. द्रवीभूत, और 2. घनीभूत। उसमें से द्रवीभूत अंश को आमिक्षा, पयास्या तथा घनीभूत अंश को वाजिन् कहते हैं।

आवसथ्य : अग्नि में प्रयुक्त होने वाली एक प्रकार की अग्नि को आवसथ्य कहते हैं।

आस्तरण : वेदि पर कुश फैलाना आस्तरण कहलाता है। व्रात्य के आसन (आसन्दी) के बिछौने को भी आस्तरण कहते हैं।

आहवनीय : वैदिक साहित्य में आहवनीय उस अग्नि को कहते हैं, जिसमें सामान्यतया आहुति डाली जाती है। इसके अतिरिक्त गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि भी दो विशेष महत्त्वपूर्ण अग्नियाँ हैं।

इध्म : पलाश वृक्ष की एक हाथ लम्बी अट्ठारह समिधाओं को इध्म कहते हैं।

उत्कर : आहवनीय के उत्तर में वेदि के भीतर कूड़ा आदि फेंकने के लिए बनाया गया गड्ढा उत्कर कहलाता है।

उत्पवन : उदग्र पवित्रों द्वारा जल को ऊपर की ओर छिड़कर शुद्ध, पवित्र करना उत्पवन कहलाता है।

उदयनीय : किसी भी याग के अन्त भाग में सम्बद्ध इष्टि को उदयनीय इष्टि कहते हैं। योग की आरम्भिक इष्टि को प्रायणीय कहते हैं।

उपसर्जनी : पिष्ट अन्न को सानने के निमित्त गरम किया गया जल उपसर्जनी कहलाता है।

उद्वसानीय : याग की अन्तिम आहुति उद्वसानीयाहुति कहलाती है।

उद्गीथ : सामवेद का एक प्रकार का विशिष्ट गान उद्गीथ कहलाता है। यह उद्गाता के पद से सम्बद्ध है।

उपवसथ : किसी याग के पूर्व दिवस (विशेषकर सोम याग के) को उपवसथ कहा जाता है। इस दिन यज्ञ की दीक्षा लेकर उपवास करने का विधान है।

उपस्तरण : आहुति के लिए हवि लेने के पूर्व हवन करने वाले स्रुव् में घृत लेना उपस्तरण कहलाता है।

उपाकरण : समीप लाने की क्रिया को उपाकरण कहते हैं।

उपांशु : इतनी मन्द शब्दावली में मन्त्र-पाठ करना कि इसे कोई सुन न सके।

उल्मुक : अग्नि जलाने हेतु प्रयुक्त किया जाने वाला अग्नि का टुकड़ा व अंगार ही उल्मुक है।

ऋत्विज् : याज्ञिक के लिए सामान्यता ऋत्विज् शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिन्हें पुरोहित पद द्वारा भी अभिहित किया जाता रहा है।

औपानस : गृह्ययागों में प्रयुक्त होने वाली अग्नि को औपानस अग्नि कहते हैं।

कपाल : पुरोडाश पकाने हेतु मृत्तिका-निर्मित पात्र कपाल कहलाता है। इन कपालों को निर्दिष्ट क्रम में रखना कपालोधान कहलाता है।

करम्भ : दही एवं जौ के आटे को मिलाकर बनाया गया हविर्द्रव्य करम्भ कहलाता है।

कृष्णाजिन् : कृष्ण मृग का चर्म कृष्णाजिन् की संज्ञा से अभिहित होता है। ब्राह्मणों में कहीं-कहीं इसका प्रयोग यज्ञ के अर्थ में हुआ है।

चरु : घी अथवा दूध में पकाया गया चावल अथवा जौ निर्मित हविर्द्रव्य को चरु कहते हैं।

चात्वाल : वेदि के उत्तर की ओर खोदे गये वर्गाकार गड्ढे को चात्वाल कहते हैं। यह तीन वितस्ति या 36 अंगुल का बनाया जाता है।

चातुर्मास्य : राजसूय का एक अंगीभूत याग या एक स्वतन्त्र यज्ञ।

दक्षिणा : यज्ञ कराने वाले पुरोहितों को पुरस्कार या पारश्रमिक रूप में दी जानेवाली सामग्री दक्षिणा कही जाती है।

दक्षिणा-पथ : दक्षिण दिशा का मार्ग।

धाना : भूने हुए जौ को धाना कहा जाता है।

निष्काष : पात्र की सतह में उबले हुए दूध का लगा हुआ अनुपयुक्त भाग निष्काष कहलाता है।

निर्वाप : देवता विशेष के उद्देश्य से यज्ञिय द्रव्य का पृथक्करण 'निर्वाप' कहलाता है।[1]

निवान्या : ऐसी गाय, जिसके बछड़े के मर जाने पर उसके सामने दूसरा बछड़ा खड़ाकर दोहन किया जाता है, निवान्या कही जाती है।

पत्नी संयाज : दर्शपूर्णमास योग में सोम, त्वष्टा, देव-पत्नियों तथा अग्निगृहपति को दी जाने वाली घी की चार आहुतियाँ पत्नी संयाज की आहुतियाँ हैं।

पत्नी सन्नहन : मूँज की रस्सी से यजमान पत्नी के जघन प्रदेश को बाँधना पत्नी सन्नहन कहलाता है।

---

[1] द्र०आप०श्रौ०, 1.17.10, व्याख्या 'देवतार्थत्वेन पृथक्करणं निर्वापः।'

परिग्रह : स्फय के द्वारा वेदि के अन्त में तीन रेखाऐं खींचना वेदि-परिग्रह कहलाता है।

परिधि : आहवनीय के चारों ओर रखी जाने वाली पलाश की एक बाहु लम्बी समिधाएँ परिधि कहलाती हैं।

परिस्तरण : वेदि के चारों ओर कुश बिछाने को परिस्तरण कहते हैं।

पर्यग्निकरण : यज्ञिय पशु के चारों ओर जलती हुई लकड़ी ले जाने की क्रिया को पर्यग्निकरण कहते हैं।

पवित्र : नोक सहित, कुश निर्मित दो दल युक्त एक प्रादेश लम्बा पवित्र कहलाता है।

पर्यूहन : छिद्रों को धूल या मिट्टी से भरना पर्यूहन कहलाता है।

पुरोडाश : चावल अथवा जौ के आटे से निर्मित कपाल पर रखी गयी एक प्रकार की रोटी पुरोडाश कहलाती है। इसका हविर्द्रव्य के रूप में अन्ततः हवन किया जाता है।

पुरोनुवाक्या : किसी देवता को होम में भाग लेने के लिए आमन्त्रित करने के मन्त्र को पुरोनुवाक्या कहते हैं।

पृषदाज्य : जमा हुआ घी पृषदाज्य कहलाता है।

प्रचरण : आहुति देना अथवा हविर्द्रव्य को अग्नि में डालना प्रचरण कहलाता है।

प्रणीता : आहवनीय के उत्तर की ओर पात्र में रखा गया जल प्रणीता कहलाता है।

प्रत्याश्रावण : अध्वर्यु द्वारा आश्रावण किए जाने पर आग्नीध्र द्वारा 'अस्तु श्रौषट्' रूप में दिया गया उत्तर प्रत्याश्रावण या प्रत्याश्रुत कहा जाता है।[1]

प्रयाज : आज्य की वे आहुतियाँ जो कि प्रधान याग के पूर्व अर्पित की जाती हैं, प्रयाज आहुतियाँ कहलाती हैं। दर्शपूर्णमास याग के प्रयाज याग में पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, जिनके देवता क्रमशः समित, समिध, तनूनपात, नाराशंस, इड, बर्हि एवं स्वाहाकार हैं।

प्रस्तर : बर्हिराहरण के समय मन्त्र पाठ के साथ काटी गयी प्रथम कुशमुष्टि को प्रस्तर की संज्ञा प्राप्त है।

प्रादेश : (फैलाने पर) अंगुष्ठ और तर्जनी के मध्य की दूरी को प्रादेश कहते हैं।

प्राशित्र : आहुति के अवशिष्ट हवि का वह भाग जो ब्रह्मा को दिया जाता है, प्राशित्र की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

प्रैष : याज्ञिक प्रसंग में प्रायः अध्वर्यु द्वारा निर्देश देने वाले मन्त्रों को प्रैष मन्त्र कहते हैं।

फलीकरण : तण्डुलों को साफ करना फलीकरण कहलाता है।

मन्थ : निवान्या गाय के दूध को आधे भुने हुए जौ वाले पात्र में रखकर ईख के डंठल द्वारा मन्थन करने से तैयार हवि को 'मन्थ' कहते हैं।

---

1 द्र०सत्या०श्रौ०, 2.1.1.8.6, आप०श्रौ०, 2.14.3

मार्जन : मन्त्र-पाठ के साथ शिर का जल से प्रोक्षण करना मार्जन कहलाता है।

वत्सोपाकरण : सान्नाय्य हेतु गाय के दूध दुहने के लिए बछड़ों को उनसे अलग करने को वत्स उपाकरण कहते हैं।

विहार : वह यज्ञ-स्थल, जहाँ यज्ञिय प्रज्ज्वलित अग्नियाँ सुरक्षित रखी जाती हैं, विहार कहा जाता है।

वेद : बछड़े के घुटने के आधार का बनाया गया एक दर्भ गुच्छ, जिसका प्रयोग मन्त्र पाठ के साथ वेदि को स्वच्छ करने में होता है, वेद कहलाता है।[1]

वेद परिवासन : वेद के बनाने के पश्चात् दर्भ के अवशिष्ट भाग को 'वेद परिवासन' कहते हैं।

व्रतोपायन : यज्ञ कहने का संकल्प कर तदनुकूल आचरण करना व्रतोपायन कहलाता है।

शकल : पलाश की ईंधन की लकड़ी को शकल कहते हैं।

शंयुवाक् : यजमान के ऐश्वर्य की कामना से शंयु (बृहस्पति के पुत्र) की स्तुति के मन्त्रों का पाठ करना शंयुवाक् कहलाता है।

समिष्ट यजुष् : वेदि निर्माण के समय वेदि पर स्थापित कुश के ऊपर यजुष् मन्त्र पाठ के साथ स्फय द्वारा प्रहार करने से खुदी हुई कुशयुक्त मिट्टी को समिष्ट यजुष् कहते हैं।

---

1 श्रौ०प०नि०, 10.63, दर्शपूर्णमास प्रकाश यज्ञायुध, पृ० 3

सामिधेनी : अग्नि समिन्धन में विनियुक्त ऋचाओं की संज्ञा सामिधेनी है।[1]

स्तम्ब-यजुष : दर्शपूर्णमास के आरम्भ में याजुष् मन्त्रों को पढ़कर काटा गया दर्भ स्तम्ब-यजुष् कहलाता है।

सान्नाय्य : प्रातःकालीन गर्म दूध में सायंकालीन खट्टे दूध अथवा दही को मिलाने से तैयार हवि को सान्नाय्य हवि कहते हैं।

स्विष्टकृत : प्रधान याग को जो भली प्रकार स्विष्ट करता है, उसे स्विष्टकृत कहते हैं।

---

1 आप०श्रौ०, 1.2.3

परिशिष्ट-2

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. **अथर्ववेद (शौनक शाखा)** : सायण भाष्य सहित-एस०पी० पण्डित, बम्बई, 1895-98, सातवलेकर सम्पादित, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत, 1158

2. **अथर्ववेद (पैप्पलाद शाखा)** : रघुवीर, लाहौर, 1936-41

3. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** : सं०जी० व्यूहलेर, बम्बई संस्कृत सीरीज, 1932

4. **आपस्तम्ब श्रौतसूत्र** : 1. तीन भागों में तथा प्रश्न 1-24 पर्यन्त रुद्रदत्त की व्याख्या के साथ। रिचर्ड गार्वे, बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1882-85

   2. भागों में प्रश्न 1-8 तक धूर्तस्वामी भाष्य सहित, मैसूर गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज, 1945-43

   3. धर्म स्वामी भाष्य सहित, बड़ौदा, 1955

5. **अग्निपुराण** : आनन्दाश्रम, पूना

6. **अग्निपुराण का सन्दर्भ ग्रन्थ** : अग्निपुराणम्, नाग पब्लिशर्स, सम्पादक आर.एन. शर्मा, 1985, दिल्ली

7. **अथर्ववेद संहिता** : श्रीपाददामोदर सातवलेकर, सम्पादक स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1958-60

8. **अथर्ववेद संहिता** : संपादित सायणभाष्य सहित, विश्वबन्धु शास्त्री, होशियारपुर, 1960

9. **अथर्ववेद संहिता** : स्वाध्याय मण्डल, औंध, 1943

10. **अथर्ववेद संहिता** : हिन्दी अनुवाद, जयदेव शर्मा आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, संवत 2012

11. **अथर्ववेद संहिता :** वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, संवत् 2001

12. **अथर्ववेद एक साहित्यिक अध्ययन :** मातृदत्त त्रिवेदी, होशियारपुर, 1973

13. **आश्वलायन श्रौतसूत्र :** सम्पादक मंगल देव शास्त्री, सरस्वती भवन, काशी, 1980 ई०

14. **आश्वलायन श्रौतसूत्र :** सम्पादक शास्त्री आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1917

15. **आश्वलायन श्रौतसूत्र :** (अंग्रेजी अनुवाद) एच०जी० रानाडे, रानाडे पब्लिकेशन, पूना, 1987

16. **आश्वलायन श्रौतयज्ञ पद्धति :** राष्ट्रीय संस्कृत, दिल्ली।

17. **ऐतरेयब्राह्मण :** सायण भाष्य सहित, दो भागों में, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली,पूना, 1896 षड्गुरु शिष्यकृत सुखप्रदावृत्ति सहित, सं० अनन्त कृष्ण शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1942

18. **ऐतरेय आरण्यक :** आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1887, कीथ सम्पादित, आक्सफोर्ड, 1969

19. **ऐतरेय ब्राह्मण :** सायण भाष्य, आनन्दाश्रम, सं० सीरीज, पूना, 1931

20. **ऋग्वेद :** सायण भाष्य सहित, मैक्समूलर सम्पादित चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1966, स्कन्द स्वामी भाष्य, विश्वबन्धु वि०वै० शोध सं० होशियारपुर

21. **ऋग्वेद संहिता:** परोपकारिणी सभा, अजमेर, सं० 2020

22. **ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का सांस्कृतिक अध्ययन :** डॉ० बलवीर, सम्पादक विद्यानिधि गली नं० 10, प्रकाशन डी-1548, समीप श्री महागौर मन्दिर, खजूरीखास, दिल्ली।

23. **ऋग्वेद भाष्य भूमिका :** व्याख्याकार डॉ० कमल नारायण शर्मा, स्वामी परांकुशाचार्य ग्रन्थमाला, 2, 3, पटना, 1979

24. **कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता :** धूपकर ए०वाई० स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1957

25. **काठकसंहिता :** श्रौडर संस्करण लाइप्सिक, 1900–11, सातवलेकर सम्पादित स्वाध्याय मण्डल, औन्ध सतारा, 1943

26. **कात्यायन श्रौतसूत्र :** 1. विद्याधर गौड़कृत, भाष्य सहित, अच्युत ग्रन्थ माला, काशी, सं० 1987

27. **कपिष्ठल कठ संहिता :** रघुवीर, लाहौर, 1932

28. **काण्वसंहिता :** सातवलेकर सम्पादित, स्वाध्याय मण्डल, औन्ध, 1940

29. **कठोपनिषद् :** अष्टादश उपनिषद्, लिमये एवं वाडेकर, वे०सं०म०पू०, 1958

30. **कौषातकिब्राह्मण :** ई०जी० कावेल, कलकत्ता, 1862

31. **कूर्मपुराण :** सम्पादक – रामशंकर भट्टाचार्य, प्रकाशक – दन्दोलाजीकरण (Òa×ÇÈ£jikala) Book House, वाराणसी, 1967

32. **कौशिक सूत्र, अथर्ववेदीय :** सं० ब्लूमफील्ड, जे०ए०ओ०एस०, ग्रन्थ 24, 1890

33. **कात्यायन श्रौतसूत्र :** (कर्क भाष्य) सम्पादक महामहोपाध्याय पं० नित्यानन्द–विद्यासागर प्रेस, बनारस, 1927

34. **कात्यायन श्रौतसूत्र :** (अंग्रेजी अनुवाद) एच०जी० रानाडे पब्लिकेशन, पूना, 1970

35. **कात्यायन श्रौतसूत्र :** सम्पादक विद्याधर शर्मा, अच्युत ग्रन्थमाला काशी, 1987

36. **कात्यायन श्रौतसूत्र :** सम्पादक नित्यानन्द पंत और गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत, काशी, 1939

37. **कौषीतकि ब्राह्मण :** सं०इ० बी कावल वाराणसी 1968 ई०

38. **काण्व संहिता :** वाध्याय मण्डल पारड़ी 1943 ई०

39. **गोपथब्राह्मण** : ग्रास्टा 1 लिडेन 1919 बिब्लिओथिका इंडिका, 1872

40. **गौतम धर्मसूत्र** : मस्करी भाष्य, सं० निवासाचार्य, सूर, 1917

41. **गोपथ ब्राह्मण** : सम्पादक डॉ० विजय गोयल विद्यावारिधि, प्रकाशक सावित्री देवी बागडिया ट्रस्ट, कलकत्ता, 1980

42. **गोपथ ब्राह्मण** : सम्पादक राजेन्द्र लाल मिश्रा विद्याभूषण, कलकत्ता, 1870

43. **गोपथ ब्राह्मण** : सम्पादक जीवनानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1891

44. **छान्दोग्यब्राह्मण** : सं० दुर्गमोहन भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1958

45. **जैमिनीयब्राह्मण** : डॉ० रघुवीर, नागपुर, 1950

46. **जैमिनीय श्रौतसूत्र** : डी० ग्रास्टा सम्पादित, लीडेन, 1906

47. **ताण्ड्यमहाब्राह्मण** : सायण भाष्य सहित, सं० चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1935

48. **तैत्तिरीयसंहिता** : आनन्दाश्रम संस्करण, सायण भाष्य सहित 1900-08 महादेव शास्त्री सम्पादित मैसूर, 1894-98, सातवलेकर सम्पादित मूलमात्र, स्वाध्याय मण्डल, पारडी सूरत, 1957

49. **तैत्तिरीयब्राह्मण** : सायण भाष्य सहित, आनन्दाश्रम संस्करण, 1998, दो भागों में, भट्ट भास्कर भाष्य सहित, सातवलेकर 1908-13

50. **तैत्तिरीय आरण्यक** : आनन्दाश्रम संस्करण पूना, 1897-98, सायण भाष्य, राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता, 1872

51. **तैत्तिरीयोपनिषद्** : गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० 2033, सन् 1976

52. **तैत्तिरीय संहिता** : सं० नारायण शास्त्री गोडवोल, आनन्दाश्रम, पूना, 1979 ई० (सायण भाष्य) सहित

53. **ताण्डय ब्राह्मण** : प्रकाशक जयकृष्ण दास हरिदास गुप्त चौखम्बा।

54. **द्राह्यायण श्रौतसूत्र** : 1. पटल 1-11 तक धर्वान्वत् सहित, सं०जै०एन० रियूटर, लन्दन, 1904
2. पटल 11-24, व्याख्या सहित रघुवीर जरनल ऑफ वैदिक स्टडीज, भाग-1, सं० 1, लाहौर, 1933

55. **दर्शपूर्णमास प्रकाश** : आनन्दाश्रम, पूना, 1924

56. **धर्मशास्त्र का इतिहास** : भाग 1 एवं 2, म०पी०वी० काणे, हिन्दी अनुवाद, अर्जुन चौबे, काश्यप, हिन्दी समिति

57. **धर्मशास्त्र का इतिहास** : ले०डा० पाण्डुरंग वामन काणे। प्रथम संस्करण लखनऊ, 1965

58. **निघण्टु** : देवराज यज्वा, सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, 1882

59. **निरुक्त** : लक्ष्मण स्वरूप, लाहौर, 1927, दुर्गवृत्ति, पी०के० राजवाडे, पूना

60. **पूर्वमीमांसा शाबर भाष्य** : युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर, ट्रस्ट, बहालगढ़ (पिन: 131021) सोनीपत, हरियाणा

61. **बृहदारण्यकोपनिषद्** : शांकर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, 1927

62. **बौधायन श्रौतसूत्र** : तीन भागों में, स०डा० कैलेण्ड विव्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1904, 1907, 1923

63. **ब्राह्मण्ड पुराण** : सम्पादक - आचार्य जगदीश शास्त्री, प्रकाशक - मोतीलाल बनारसीदास, 1983

64. **ब्राह्मण ग्रन्थों के राजनैतिक** : डॉ० बलवीर, प्रकाशक – अभिषेक प्रकाशन, जे०डी० 18 सी, सिद्धान्त द्वितीय तल, पीतमपुरा, दिल्ली-110088

65. **भारद्वाज श्रौतसूत्र** : डॉ० काशीकर, पूना, 1964

66. **मुण्डकोपनिषद्** : गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० 2019, अष्टम संस्करण

67. **मैत्रायणीसंहिता** : श्रौडर संस्करण लाइप्सिक 1881, सातवलेकर औन्ध, 1942

68. **मानव श्रौतसूत्र** : पांच भागों में-नावर सेंटपिट संवेर्ग 1900-03, छटवाँ भाग-नावर सेंटपिट संवेर्ग 1900-03, छटवां भाग-जै०एम०फान० गेल्डर, लीडेन, 1921

69. **महाभारत (महर्षि वेदव्यास)** – सम्पादक श्रीपाद्दामोदर सातवलेकर, 1972

70. **मत्स्यपुराण** :

    1. हरि नारायण आप्टे द्वारा प्रकाशित, पूना, 1907
    2. मोर प्राच्य संस्थान, कलकत्ता, 1962

71. **महाभारत** : श्रीमन्महर्षि वेदव्यास प्रणीत, गीताप्रेस, गोरखपुर

72. **मनुस्मृति** : खेलाड़ी लाल एण्ड संस, संस्कृत बुक डिपो सीरीज 106, पटना, 1938

73. **महाभाष्य पस्पशाह्निक** : भगवत्पतञ्जलि विरचित, चारुदेव शास्त्री, श्री मोतीलाल बनारसीदास

74. **मैत्रायणी संहिता** : सम्पादक श्रीपाददामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल पारड़ी, 1943 ई०

75. **माध्यन्दिन शत०ब्रा०** : क्षेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई 1926 ई०, सायण भाष्य एवं हरि स्वामी भाष्य सहित, नाग प्रकाशक: 11-ए/यू.ए. जवाहर नगर, दिल्ली-7

76. **यजुर्वेद काठकसंहिता** : सातवलेकर, एस०डी० स्वाध्याय मण्डल, औन्ध, 1943

77. **यज्ञ मधुसूदन :** मधुसूदन शर्मा, लखनऊ, 1920

78. **यज्ञतत्व प्रकाश :** श्री चिन्स्वामी शास्त्री एवं रामनाथ दीक्षित, मद्रास, लॉ, जर्नल प्रेस, 1953

79. **यजुर्वेद संहिता :** वैदिक यन्त्रालय अजमेर 2016 वि०स०

80. **लाट्यायन श्रौतसूत्र :** 1. अग्निस्वामी भाष्य सहित, विव्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1872
    2. पण्डित मुकुन्द झा, वाराणसी, 1932

81. **वाजसनेयिसंहिता :** माध्यन्दिन उव्वट, महीधर भाष्य सहित निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, 1912

82. **वाधूल श्रोतसूत्र :** केलैण्ड अक्टा ओरिएन्टालिया, तीन भाग, 1924, 1926, 1928

83. **वाराह श्रौतसूत्र :** सं० कैलेण्ड एवं रघुवीर, लाहौर, 1933

84. **वैखानस श्रौतसूत्र :** सं० केलैण्ड विव्लिओथिका इण्डिका, 1941

85. **वैतान श्रौतसूत्र :** डॉ० गार्वे लन्दन, 1878

86. **वसिष्ठ धर्मसूत्र :** ए०ए० फूहरेर, भाण्डारकर ओरियण्टल संस्कृत सीरीज, 1930

87. **वैखानस धर्मसूत्र :** रंगाचार्य मैसूर, मद्रास

88. **विष्णुपुराण :** गीताप्रेस गोरखपुर

89. **वामनपुराण :**
    1. वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बइ, 1921
    2. काशिराज ट्रस्ट, वाराणसी, 1965

90. **वृहद्देवता :** अंग्रेजी अनुवाद सहित, ए०ए० मैक्डानल, हारवार्ड ओरिएण्टल सीरीज ग्रन्थ, 5, 6, 1904

91. **वैदिक कोश :** हंसराज, प्रथम संस्करण, लाहौर, 1926, डॉ० सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, 1932

92. **वैदिक वाङ्मय का इतिहास :** भगवद्दत्त, पंजाबी बाग, देहली

93. **वैदिक धर्म एवं दर्शन :** ए०बी० कीथ-अनुवाद, डॉ० सूर्यकान्त मोती लाल, बनारसीदास, 1965

94. **वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति :** महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी संस्कृति विहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, द्वितीय संस्करण, 1972

95. **वाल्मीकि रामायण :**

1. श्री दयानन्द महाविद्यालय, संस्कृत ग्रन्थमाला संस्कृत 28 विश्वबन्धु द्वारा प्रकाशित लवपुरम, 1997

2. महर्षि वाल्मीकि प्रणीत, जयकृष्ण मिश्र, सर्वेश शास्त्री भुवन वाणी ट्रस्ट मौसम बाग (सीतापुर रोड), लखनऊ-226020, 1981

96. **वैदिक यज्ञों का स्वरूप :** डॉ० कृष्ण लाल कपूर, ट्रस्ट बहालगढ़, सोनीपत, (हरियाणा)

97. **वैदिक साहित्य और संस्कृति :** डॉ० बलदेव उपाध्याय काशी, 1958, द्वितीय संस्करण।

98. **शतपथब्राह्मण :** माध्यन्दिन सायण भाष्य सति, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, 1940, काण्व ग्रन्थ 1-3, डॉ० कैलैण्ड एवं रघुवीर, लाहौर

99. **शांखायनब्राह्मण :** आनन्दाश्रम संस्करण पूना, 1911, लिण्डनेर संस्करण, 1987

100. **शाखांयन श्रौतसूत्र** : तीन भागों में हिलब्राण्ट सम्पादित विब्लिओथिका इण्डिका, 1888, 1881, 1887

101. **शांखायन गृह्यसूत्र** : नारायण भाष्य एवं रामचन्द्र पद्धति सहित, सम्पादक एस०आर० सहगल, दिल्ली, 1960

102. **शांखायन श्रौतसूत्र** : अच्युत ग्रन्थमाला बनारस, संवत्, 1994-97

103. **श्रीशिवराज्योदयम्** : साहित्य अकादमी अवार्ड बुक, 1974, प्रकाशक शारदा गौरव ग्रन्थ माला 425, सदाशिवपेठ, पुण्य पतनम्-30

104. **षडविंशब्राह्मण** : सायण भाष्य सहित, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1881

105. **श्रौत पदार्थ निर्वचनम्** : विश्वनाथ शास्त्री, द्वितीय संस्करण, बनारस, 1919

106. **श्रौतकोश** : संस्कृत विभाग, प्रथम एवं द्वितीय ग्रन्थ, प्रथम भाग, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1958

107. **सामवेद सायणभाष्य सहित** : बीवानन्द विद्यासागर सम्पादित, कलकत्ता, 1892

108. **सामविधानब्राह्मण** : सायण भाष्य सहित, भारतस्वामी विवृत्ति बी०आर० शर्मा द्वारा सम्पादित, तिरुपति, 1964

109. **सत्याषाढ हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र** : दश भागों में, सं० काशीनाथ शास्त्री एवं शंकर शास्त्री, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1907-1932

110. **संस्कृत साहित्य का इतिहास** : मैक्डानल, अनुवाद, चारुचन्द्र शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1962

111. **सामवेद संहिता** : वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।

112. **सामवेद भाष्य :** डॉ० रामनाथ वेदालंकर, समर्पणानन्द शोध संस्थान, गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)

113. **सामवेद संहिता :** स्वाध्याय मण्डल प्रकाशन, पारडी, 1992

अंग्रेजी ग्रन्थ

114. **A Critical Study of the Katayan Shraut Sutra :** Dr. K.P. Singh, B.H.U., Motilal Banarsidas, 1969.

115. **Agling Sac. Books of the East :** Translated by various Oriental East Scholars and Edited by F.Max Muller, Oxford at the Clarendon Press. 1900.

116. **History of Dharmasastra :** Vol. II. Pt. II. P.V. Kane, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1941.

117. **History of Sanskrt Literature :** C.V. Vaidya, Poona, 1930.

118. **India of Vedic Kalpa Sutras :** Ram Gopal, National Publishing House, Daryaganj, New Delhi. 1959.

119. **Macdonel and A.B. Keith :** Vidic index. Vol.I. and II, London, 1912.

120. **Max Muller:** History of ancient Sanskrit Literature, Allahabad, 1912.

121. **Sanskrit English Dictonary :** Sir M. Monier William. Motilal Baniarsidas, 1970.

122. **Studies in the Brahmanas :** Dr .A.C. Banerjea, Chowkhambha S.K. Series, Motilal Banarsidas, New Delhi, 1966.

123. **The Chaturmasya Sacrifices :** V.V. Bhide, Univeristy of Poona, Pune.

124. **Vedic Concordance :** B. Bloomfield, The Harward Oriental Series, Vol.X, 1906.